संस्कृत-पुरुष

सत्यव्रत शास्त्री

प्रो० सत्यव्रत शास्त्री का संस्कृत को योगदान विषय पर आयोजित
राष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रस्तुत शोध-पत्रावलि

सम्पादकः

प्रो० केदार नाथ शर्मा



संस्कृत विभाग

जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

"संस्कृत-पुरुष सत्यव्रत शास्त्री" शीर्षक ग्रन्थ संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय द्वारा जम्मू में आयोजित द्विदिवसीय (25-26 नवम्बर, 2011) राष्ट्रिय संगोष्ठी में प्रस्तुत किन्तु चयनित, सम्पादित एवं निमन्त्रित पत्रों का संकलन है। प्रस्तुत ग्रन्थ में संस्कृत साधना के भीष्मपितामह प्रो० सत्यव्रत शास्त्री की जीवनी, उनकी रचनाओं, शैक्षिक उपलब्धियों, उनके बहुकोणीय एवं बहुरंगी योग्यता पर सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवरण प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है। हिन्दी, संस्कृत तथा अंग्रेजी भाषा में अधिकारी विद्वानों द्वारा लिखे गये ये शोध-पत्र पाठकों, विशेषतः संस्कृत- शोधच्छात्रों एवं संस्कृत साधकों के लिए बहुत उपयोगी सिद्ध होंगे।

संस्कृत-पुरुष सत्यव्रत शास्त्री

(प्रो० सत्यव्रत शास्त्री का संस्कृत को योगदान विषय पर आयोजित
राष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रस्तुत शोध-पत्रावलि)

संस्कृत-पुरुष सत्यव्रत शास्त्री

(प्रो० सत्यव्रत शास्त्री का संस्कृत को योगदान विषय पर आयोजित राष्ट्रीय संगोष्ठी में प्रस्तुत शोध-पत्रावलि)

सम्पादक

प्रो० केदार नाथ शर्मा

डीन, कला संकाय



संस्कृत विभाग

जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

जम्मू एवं कश्मीर

संरक्षक : प्रो० आर०डी० शर्मा, कुलपति जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

सह सम्पादिका

प्रो० रमणीका जलाली

अध्यक्षा, संस्कृत विभाग

सम्पादक मण्डल

प्रो० सुषमा गुप्ता, डॉ० रामबहादुर शुक्ल

डॉ० प्रतिभा, डॉ० विद्याधर

श्री सत्य प्रिय

प्रकाशक : ईस्टर्न बुक लिंकर्स
5825, न्यू चन्द्रावल,
जवाहरनगर, दिल्ली-110007
फोन : 23850287, 9811232913

प्रथम संस्करण : 2017

मार्च 2017

मूल्य : 800.00

आइ.एस्.बी.एन्. : 978-81-7854-315-4



PROF. R. D. SHARMA
Vice Chancellor

UNIVERSITY OF JAMMU
("A+" Grade University.... NAAC Accredited)

3rd March, 2017

शुभकामना

मुझे यह जानकर हार्दिक प्रसन्नता हुई कि संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय के द्वारा ज्ञानपीठ अवार्ड से सम्मानित ज्ञानवृद्ध, वयोवृद्ध, ऋषिकल्प, संस्कृतसाधक प्रो. सत्यव्रत शास्त्री पर **''संस्कृत-पुरुष सत्यव्रत शास्त्री''** नामक पुस्तक का प्रकाशन किया जा रहा है। यह पुस्तक संस्कृत विभाग द्वारा 25–26 नवम्बर 2011 में ''प्रो. सत्यव्रत शास्त्री का संस्कृत साहित्य को योगदान'' विषयक द्विदिवसीय राष्ट्रिय संगोष्ठी में प्रस्तुत शोध–पत्रों का चयनित, सम्पादित एवं कतिपय निमन्त्रित पत्रों का संकलन है। इस संगोष्ठी के उद्घाटन सत्र में मुझे उपस्थित होने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था, और शास्त्री जी के संस्कृत के प्रति अमूल्य योगदान को यत्किञ्चित् जानने का अवसर प्राप्त हुआ था। इस गोष्ठी में दिल्ली सहित 15 संस्कृतिक महानगरों /नगरों के 60 से अधिक लब्ध प्रतिष्ठ विद्वान् उपस्थित थे, जिन्होंने प्रो. शास्त्री जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर अपने शोधपूर्ण पत्र प्रस्तुत किये।

''यावज्जीवमधीते विप्रः'' के सिद्धान्त पर चलने वाले शास्त्री जी की कृतियों पर रचित शोध पत्रों के संकलन का ग्रन्थ के रूप में प्रकाशन संस्कृत प्रेमियों के लिए गौरव एवं सौभाग्य का विषय है। संस्कृत के युवा प्राध्यापक एवं शोधच्छात्रों को प्रो. शास्त्री पर रचित इस ग्रन्थ का लाभ अवश्य प्राप्त होगा।

ग्रन्थ के प्रकाशनार्थ मैं इसके सम्पादक प्रो. केदार नाथ शर्मा एवं संस्कृत विभाग के सभी प्राध्यापक वर्ग को बर्धापन देता हूं एवं प्रो. शास्त्री के सुस्वास्थ्य एवं दीर्घायु की कामना करता हूं।

03/03/17

Address : New University Campus
Baba Saheb Ambedkar Road
Jammu-180006 (J&K) INDIA

Phones : 2450014, 2435268 (O)
Fax : +91 - 191 - 2459383

संस्मरण

वेदकुमारी घई

चण्डीगढ़ में भवन निर्माण से पूर्व पंजाब विश्वविद्यालय की ओर से डी.ए.वी. कॉलेज जालंधर में संस्कृत एम.ए. की श्रेणियां चलाई जाती थीं। सन् 1952-53 में भाई सत्यव्रत ने तथा मैंने वहीं से संस्कृत में एम.ए. परीक्षा उत्तीर्ण की। विभागाध्यक्ष प्रो. सूर्यकान्त को जब किसी आवश्यक बैठक आदि के लिए जाना होता तो वे श्री सत्यव्रत को श्रेणी में पढ़ाने के लिए कह जाते। शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी था। संस्कृत से अंग्रेजी अनुवाद कराते समय मैं भी कभी कभी उन की सहायता कर देती। वहीं उन की प्रतिभा से परिचित होने का अवसर मिला। तभी से भैया सत्यव्रत ने हमेशा मुझे बहन के रूप में सम्मानित किया।

दिल्ली विश्वविद्यालय में जब वे संस्कृत विभाग के अध्यक्ष बने तो जम्मू विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग के साथ विशेष सम्बन्ध बना रहा। डॉ० सत्यव्रत को जम्मू विश्वविद्यालय में तथा मुझे दिल्ली विश्वविद्यालय में भाषण देने के तथा अनुसन्धान समिति की बैठकों में सम्मिलित होने के अवसर प्राप्त हुए। "डॉ० सत्यव्रत का संस्कृत के क्षेत्र में योगदान" विषय पर जम्मू विश्वविद्यालय में एक विशेष संगोष्ठी का आयोजन किया गया जिसमें बहुत से संस्कृतज्ञों ने भाग लिया और प्रो. सत्यव्रत को सम्मानित किया।

मैं देश की स्वतन्त्रता प्राप्ति से पूर्व बचपन से ही खादी पहनती थी। उस व्रत में पहली बार परिवर्तन मैंने तभी किया जब उषा भाभी और भैया सत्यव्रत ने थाईलैण्ड से लाई हुए एक साड़ी मुझे राखी के अवसर पर भेंट में दी। खरीद कर खादी ही पहनने के साथ साथ उपहार में मिले अन्य वस्त्र को पहनना मैंने तभी प्रारम्भ किया। ऐसा हो ही गया क्योंकि स्नेह-बन्धन मनुष्य को झुकने के लिए विवश कर ही देता है।

प्रो० सत्यव्रत के विषय में इस ग्रन्थ के प्रकाशन के अवसर पर मैं उन का अभिनन्दन करती हूँ।

संस्कृतलतिकां संसिच्य सत्यव्रतो महान् सुधीः।
साफल्यशिखरं यायात् जीव्याच्च शरदां शतम्।।

सम्पादकीय

राष्ट्रिय-संस्कृत-संस्थान, मानित विश्वविद्यालय, नई दिल्ली के सौजन्य से संस्कृत-विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू द्वारा संस्कृत भाषा में ज्ञानपीठ पुरस्कार से विभूषित "प्रो० सत्यव्रत शास्त्री का संस्कृतभाषा को योगदान" विषय पर आधारित द्विदिवसीय राष्ट्रिय-संगोष्ठी का आयोजन दिनाङ्क, 25-26 नवम्बर 2011 तदनुसार मार्गशीर्ष कृष्ण-अमावस्या एवं शुक्ल-प्रतिपदा को किया गया। इस अवसर पर जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू के स्नातकोत्तर संस्कृत-विभाग ने अनेक उत्कृष्ट ग्रन्थों के प्रणेता, अन्ताराष्ट्रिय ख्याति-प्राप्त, संस्कृत के मूर्धन्य मनीषी महामहोपाध्याय प्रो० सत्यव्रत शास्त्री जी के द्वारा संस्कृत-वाङ्मय की अपूर्व सेवा के लिए द्विदिवसीय राष्ट्रिय-संगोष्ठी का आयोजन कर स्वयं को गौरवान्वित अनुभव किया। संगोष्ठी का शुभारम्भ दिनाङ्क 25 नवम्बर 2011 शुक्रवार को जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू के ब्रिगेडियर राजेन्द्र सिंह सभागार में हुआ।

इस शुभ अवसर पर सभागार में जम्मू नगरी के प्रतिष्ठित नागरिकों, विद्वज्जनों, संस्कृतानुरागियों के अतिरिक्त दिल्ली, तिरुपति, वाराणसी, लखनऊ, इलाहाबाद, इन्दौर, कोटा, जयपुर, पटियाला, होशियारपुर, अमृतसर, चण्डीगढ़, शिमला तथा श्रीनगर प्रभृति दूरस्थ एवं सांस्कृतिक नगरों से आये हुए संस्कृत-जगत् के अनेक लब्धकीर्ति सुधीजनों के साथ जम्मू विश्वविद्यालय के अनेक विभागों के अध्यक्ष अध्यापक वृन्द, संस्कृत विभाग के सम्पूर्ण अध्यापक वृन्द, शोधच्छात्र-छात्राएँ एवं विद्यार्थी समुपस्थित थे। इस द्विदिवसीय राष्ट्रिय-संगोष्ठी का शुभ उद्घाटन प्रातः 11:00 बजे संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय के विद्यार्थियों द्वारा प्रस्तुत वैदिक मन्त्रोच्चारण के साथ हुआ। तदनन्तर श्रद्धेय प्रो० आर०डी० शर्मा, शैक्षिक विषयों के अध्यक्ष (Dean Academic Affairs), जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू तथा मञ्चासीन अभ्यागत-वृन्द द्वारा दीप-प्रज्ज्वलन एवं सरस्वती की प्रतिमा के प्रति श्रद्धा-सुमन समर्पित करते हुए उन्हें माल्यार्पण किया गया। कार्यक्रम की मङ्गलाचरण-शृङ्खला में ही संस्कृत-विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू की छात्र-छात्राओं ने सुन्दर-सुमधुर-स्वर में ज्ञानदायिनी सरस्वती की वन्दना प्रस्तुत की।

इस गौरवमयी पावन-वेला में अध्यक्ष-पद को प्रो० आर०डी० शर्मा ने सुशोभित किया तथा मुख्यातिथि के पद को व्याकरण, भाषाविज्ञान, साहित्य, दर्शन आदि विषयों के उद्भट विद्वान् एवं संस्कृत हिन्दी, पंजाबी, अंग्रेजी, जर्मन, थाई आदि अनेक भाषओं के ज्ञाता प्रो० सत्यव्रत शास्त्री

जी ने अलङ्कृत किया। इसके साथ ही विशिष्ट अतिथि के पद को शिल्पकार्न विश्वविद्यालय, बैकाक, थाईलैण्ड से (ICCR Visiting Professor) डॉ० केदारनाथ शर्मा जी ने सुशोभित किया। इन मूर्धन्य विद्वज्जनों के अतिरिक्त मञ्च पर राष्ट्रपति पुरस्कार से पुरस्कृत एवं पूर्व संस्कृतविभागाध्यक्षा प्रो० वेदकुमारी घई, संस्कृत–विभाग के निवर्तमान अध्यक्ष एवं इस संगोष्ठी के संयोजक प्रो० पुरुषोत्तम शर्मा, पूर्व विभागाध्यक्षा एवं वरिष्ठ प्रोफेसर तथा संगोष्ठी की निदेशिका डॉ० रमणीका जलाली भी थीं।

तदनन्तर मञ्च पर मुख्यातिथि के रूप में विराजमान प्रो० सत्यव्रत शास्त्री जी का शाल, स्मृतिचिह्न तथा प्रशस्ति पत्र द्वारा अभिनन्दन किया गया। इस गौरवपूर्ण क्षण में प्रो० रामप्रताप वेदालङ्कार जी ने डॉ० सत्यव्रत शास्त्री पर रचित पद्यबद्ध प्रशस्ति–पत्र का सभागार मे उपस्थित जनसमूह के समक्ष वाचन भी किया। इस अवसर पर सुशोभित अन्य विद्वज्जनों का भी पुष्पमाला एवं स्मृति–चिह्नों द्वारा अभिनन्दन किया गया। इसके पश्चात् सर्वप्रथम संस्कृतविभाग के अध्यक्ष एवं सुरभारती समुपासक प्रो० पुरुषोत्तम शर्मा ने सभी विद्वज्जनों एवं अभ्यागत–वृन्द का काव्यमयी तथा भावपूर्ण शैली में स्वागत किया। स्वागत–भाषण के अनन्तर प्रो० वेदकुमारी घई ने अपने उपोद्घात–भाषण में प्रो० सत्यव्रत शास्त्री जी के प्रति अपने अन्तःहृदय से श्रद्धा प्रकट करते हुए उनके विलक्षण व्यक्तित्त्व से सम्बन्धित कई विशिष्ट बिन्दुओं पर प्रकाश डाला।

इस समारोह में विशिष्ट अतिथि के रूप में उपस्थित बैंकाक से आए प्रो० केदारनाथ शर्मा जी ने संगोष्ठी के वास्तविक उद्देश्य को सभी के समक्ष रखते हुए प्रो० सत्यव्रत शास्त्री जी की महनीय उपलब्धियों को परिगणित किया। प्रस्तुत संगोष्ठी की संकल्पना एवं अर्थिक सहायता उनके अध्यक्ष कालावधि में हुई थी तदनन्तर ज्ञानवृद्ध एवं वयोवृद्ध प्रो० सत्यव्रत शास्त्री जी ने अभिभूत होकर अपने जीवन में घटित कई प्रेरणाप्रद एवं ज्ञानवर्द्धक संस्मरण सुनाकर भावविभोर कर दिया। तत्पश्चात् कार्यक्रम के अध्यक्ष प्रो० आर० डी० शर्मा जी ने भी अपने अध्यक्षीय उद्बोधन में इस द्विदिवसीय राष्ट्रिय संगोष्ठी को उद्देश्यपूर्ण एवं छात्र–छात्राओं के लिए प्रेरणाप्रद बताते हुए प्रो० सत्यव्रत शास्त्री जी के समग्र व्यक्तित्त्व एवं कृतित्त्व को साररूप में प्रस्तुत किया। उद्घाटन समारोह के अन्त में प्रो० रमणीका जलाली ने मञ्च पर उपस्थित सभी विद्वज्जनों एवं सभागार में उपस्थित सभी लोगों का कृतज्ञता पूर्ण धन्यवाद ज्ञापित किया।

उद्घाटन समारोह कार्यक्रम का सञ्चालन संस्कृत–विभाग के उपाचार्य एवं संगोष्ठी के सचिव डॉ० रामबहादुर ने संस्कृत, अंग्रेजी तथा हिन्दी भाषा में किया। तदनन्तर सामूहिक राष्ट्रगान के साथ उद्घाटन समारोह का समापन हुआ।

अवधेय है कि इस द्विदिवसीय राष्ट्रिय–संगोष्ठी में प्रतिभागियों का आगमन 24 नवम्बर 2011 से प्रारम्भ हो गया था, जिन्हें जम्मू विश्वविद्यालय के अतिथि गृह (गेस्ट हाउस) एवं फैकल्टी हाउस में ठहराया गया। प्रातःकालीन अल्पाहार एवं जलपान की व्यवस्था जम्मूविश्वविद्यालय के अतिथिगृह में की गयी थी। दिनाङ्क 25–11–2011 को मध्याह्न एवं

सायंकालीन भोजन व्यवस्था, संस्कृत विभाग के सामने निर्मित पण्डाल में की गयी, एवं यहीं दिनाङ्क 26-11-2011 का प्रातराश, कषायपान, तथा मध्यकालीन भोजन व्यवस्था सुचारु रूप में सम्पन्न हुई।

संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू ने संगोष्ठी में निमन्त्रित प्रतिभागियों के लिए निम्नलिखित बिन्दु सुझाये थे–

1. Mahākavi Prof. Satya Vrat Shastri
2. Samīkṣaka Prof. Satya Vrat Shastri.
3. Vaiyākaraṇa Prof. Satya Vrat Shastri.
4. Patrakāvyakāra Prof. Satya Vrat Shastri.
5. Prof. Satya Vrat Shastri- as a Translator.
6. Prof. Satya Vrat Shastri- as a Linguist.
7. Depiction of Foreign countries in the works of Prof- Satya Vrat Shastri.
8. Lineage of Desciples of Prof. Satya Vrat Shastri.
9. Lineage of Teachers of Prof. Satya Vrat Shastri.
10. Prof. Satya Vrat Shastri–as a writer of forewords.
11. Prof. Satya Vrat Shastri- as an author of Buddhism.

प्राप्त शोधपत्रों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सभी प्रतिभागियों ने अपने विषय पर ही सारगर्भित लेखनी चलायी।

"प्रो० सत्यव्रत शास्त्री का संस्कृत भाषा को योगदान" विषय पर आधारित द्विदिवसीय राष्ट्रिय-संगोष्ठी के प्रथम दिन अपराह्ण में जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू के सभागार में ही दो सत्र (2:30 से 4:00 तक एवं 4:15 से 5:45 तक) आयोजित हुए, जिनमें से प्रथम सत्र में अध्यक्ष-पद को संस्कृत-विभाग, गुरुनानकदेव विश्वविद्यालय, अमृतसर के पूर्व विभागाध्यक्ष प्रो० लेखराम शर्मा ने सुशोभित किया। इस अवसर पर संगोष्ठी के सञ्चालन के दायित्व का निर्वाह स्नातकोत्तर संस्कृत-विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू की प्रोफेसर एवं संगोष्ठी की सचिव डॉ० सुषमा देवी जी ने किया।

पत्रवाचकों मे से प्रथम पत्रवाचक के रूप में श्रीगङ्गानगर (राजस्थान) से आए प्रो० सत्यव्रत वर्मा (पूर्व प्राचार्य, राजकीय महाविद्यालय) जी ने 'Prof. Satya Vrat Shastri - An Eminent Critic' शीर्षक अपना शोधपत्र प्रस्तुत किया। इस अवसर पर सभागार मे उपस्थित विद्वानों द्वारा उनके शोधपत्र की प्रशंसा की गई तथा स्वयं प्रो० सत्यव्रत शास्त्री जी ने भी अपने जीवन में अनुभूत कई प्रेरणाप्रद प्रसङ्ग सुनाये। तदनन्तर संस्कृत-विभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय, लखनऊ से आये डॉ० रामसुमेर यादव जी ने प्राञ्जल भाषा में अपना शोधपत्र प्रस्तुत किया। इनके शोधपत्र का शीर्षक था

'संस्कृतपुरुष प्रो॰ सत्यव्रत शास्त्री कुशल अनुवादक के रूप में।' इसी सत्र में प्रो॰ केदारनाथ शर्मा ने "Satya Vrat Shastri : A Treasaure of Sanskrit " शीर्षक अपना पत्र पढ़ा।

इस सरस्वती-सङ्गम की धारा को गति प्रदान हुए अम्बाला नगरी से समागत डॉ॰ नरेश बत्रा जी ने 'संस्कृतपत्रसाहित्यपरम्परायां प्रो॰ सत्यव्रत शास्त्री' शीर्षक अपना शोधपत्र प्रस्तुत किया और कहा कि संस्कृत-साहित्य में अनेक विधाएँ हैं, जिनमें पत्र काव्य का शुभारम्भ करने का श्रेय प्रो॰ सत्यव्रत शास्त्री जी को जाता है साथ ही उन्होंने पत्र-काव्य की भाषागत विशेषताओं पर भी प्रकाश डाला। इसके पश्चात् संस्कृतविभाग, जम्मू विशविद्यालय, जम्मू के ही पी-एच॰ डी॰ शोधछात्र श्री अनिलकुमार ने 'प्रो॰ सत्यव्रत शास्त्री जी का व्यक्तित्त्व एवं कृतित्त्व-निरूपण' शीर्षक पर अपना शोधपत्र प्रस्तुत किया। इसी सत्र में दर्शन के क्षेत्र में प्रतिष्ठा को प्राप्त विदुषी प्रो॰ शशिप्रभा कुमार (जवाहर लाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली) ने भी प्रो॰ सत्यव्रत शास्त्री जी के प्रति श्रद्धाभिभूत हृदय से 'An Introduction to Hungary How far, How Near' शीर्षक से अपना सारगर्भित शोधपत्र प्रस्तुत किया। सभागार में उपस्थित विद्वानों ने इस शोधपत्र की भी भूरि-भूरि प्रशंसा की। इस सत्र के अन्त में स्वामी विश्वेश्वरानन्द विश्वबन्धु संस्कृत एवं भारतभारती अनुशीलन संस्थान होशियारपुर से उपस्थित प्रो॰ राजेन्द्रकुमार शर्मा जी ने 'प्रो॰ सत्यव्रत शास्त्री की कृतियों में विदेश-वर्णन' शीर्षक पर अपना गवेषणापूर्ण शोधपत्र प्रस्तुत किया। इस प्रकार इस द्विदिवसीय राष्ट्रिय संगोष्ठी के प्रथम सत्र में कुल छः शोधपत्रों का वाचन हुआ।

प्रो॰ सत्यव्रत शास्त्री जी के सम्मान में समायोजित इस विद्वत्सभा का द्वितीय सत्र कषायपान के अनन्तर अपने निर्धारित समय 4:15 अपराह्न में प्रारम्भ हुआ। इस अवसर पर सत्राध्यक्ष-पद को राष्ट्रिय-संस्कृत-विद्यापीठ, तिरुपति से उपस्थित प्रसिद्ध व्याकरणादि एवं संस्कृत कविपुरोधा प्रो॰ राधाकान्त ठाकुर जी ने अलङ्कृत किया तथा मञ्च सञ्चालन का कार्य डॉ॰ रामबहादुर जी ने किया। इस सत्र में संस्कृत-साहित्य के क्षेत्र में प्रतिष्ठित जिन विद्वानों ने अपने शोधपत्र प्रस्तुत किये उनमें से प्रथम महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी के संस्कृत विभाग के पूर्व आचार्य एवं अध्यक्ष, यशस्वी विद्वान् एवं सुप्रसिद्ध संस्कृत लघु कथाकार प्रो॰ प्रभुनाथ द्विवेदी जी थे। इन्होंनें 'प्रो॰ सत्यव्रत शास्त्री जी की गुरुपरम्परा' शीर्षक पर विद्वत्तापूर्ण अपना शोधपत्र प्रस्तुत किया। तदनन्तर प्रो॰ उमारानी त्रिपाठी (महात्मा गाँधी काशी विद्यापीठ, वाराणसी) ने 'श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यप्रतिबिम्बिता थाईसंस्कृतिः' शीर्षक पर अपना शोधपत्र प्रस्तुत किया।

पत्रवाचन के क्रम में अग्रिम प्रस्तोता गुजरात से समागत डॉ॰ मधुसूदन एम॰ व्यास जी थे जिन्होंने 'Depiction of foreign countries in the works of Prof. Satya Vrat Shastri A scholar of Sanskrit' शीर्षक पर अपना पत्रवाचन किया। इसके पश्चात् प्रो॰ रेणुबाला, गुरुनानकदेव विश्वविद्यालय अमृतसर ने 'थाईदेशविलासम्-एक अध्ययन' शीर्षक के अन्तर्गत वर्णित विषयों को समग्ररूपेण प्रस्तुत किया। इसी क्रम में संस्कृतविभाग, राजकीय

महाविद्यालय कोटद्वार, हरिद्वार से आये हुए डॉ॰ शिवशङ्कर मिश्र ने तितिक्षुर्भूपालः का दर्शनशास्त्रीय

अध्ययन' शीर्षक पर आधारित पत्रवाचन किया। इस सत्र के अन्त में सत्राध्यक्ष के पद पर आसीन प्रो० राधाकान्त ठाकुर जी ने भी- 'सत्यव्रतोऽयं कवि-राजहंसः' शीर्षक पर अपना शोधपत्र प्रस्तुत किया तथा साथ ही अध्यक्षीय भाषण भी दिया।

दिनाङ्क 25-11-2011 को ही सायंकाल (6:30 से 8:30) बिगेडियर राजेन्द्र सिंह सभागार में प्रो० सत्यव्रत शास्त्री जी के सम्मान में संस्कृत कवि सम्मेलन का भी आयोजन किया गया। इस कविसम्मेलन में भी अध्यक्षपद को अखिल भारतीय प्राच्यविद्यासम्मेलन के पूर्व सचिव प्रो० राधाकान्त ठाकुर जी ने अलङ्कृत किया तथा संस्कृत कवि गोष्ठी का सञ्चालन डॉ० रामबहादुर ने ही किया। इस कवि-सम्मेलन में लगभग दस कवियों ने प्रतिभागिता ग्रहण की, और स्वरचित कविताएं पढ़ी; जिनमें प्रो० प्रभुनाथ द्विवेदी (वाराणसी) ने संस्कृत व्यंग्यकविता, प्रो० बृजेश कुमार शुक्ल (लखनऊ) ने श्री सत्यव्रतशास्त्रिपंचकम्, डॉ० रामबहादुर शुक्ल (जम्मू) ने संस्कृतभ्रमरगुञ्जनम् नामक काव्यपाठ किया। वहीं डॉ० उमारानी त्रिपाठी (वाराणसी), डॉ० रामसुमेर यादव (लखनऊ) डॉ० उपेन्द्रराव (दिल्ली), डॉ० नरेश बत्रा (अम्बाला), डॉ० प्रतिभा (जम्मू) जय घोषणैः किं भविता एवं डॉ० राधाकान्त ठाकुर 'सत्यव्रतोऽयं कविराजहंसः' नामक कविता प्रस्तुत कर अपनी प्रतिभा का प्रस्फुरण किया। निःसन्देह इस अवसर पर कवियों ने अपनी सुमधुर, सुललित तथा पद्यमयी कविताओं से सभागार में उपस्थित श्रोतृवृन्द को मन्त्रमुग्ध कर दिया। डॉ० रामबहादुर (शुक्ल) की "अवगुण्ठनमर्पय व्रजति नहि पश्यत्यधुना" जैसी प्रत्युत्तर विद्या में की गयी कविता खूब पसन्द की गई। कविसम्मेलन 9:30 रात्रि अवसान को प्राप्त हुआ।

द्विदिवसीय राष्ट्रीय-संगोष्ठी के द्वितीय दिवस दिनाङ्क 26-11-2011 में कुल पाँच सत्र आयोजित हुए, जिनमें से तीन सत्र जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू के ब्रिगेडियर राजेन्द्र सिंह सभागार में तथा दो सत्र संस्कृत-विभाग में सम्पन्न हुए। ब्रिगेडियर राजेन्द्र सिंह सभागार में आयोजित सत्रों में से प्रथम सत्र के अध्यक्ष पद पर श्री वेङ्कटेश्वर वेद विश्वविद्यालय, तिरुपति के सम्माननीय कुलपति प्रो० एस० सुदर्शन शर्मा जी विराजमान थे। इस अवसर पर सत्र का संयोजन संस्कृतविभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू के प्रवक्ता एवं संगोष्ठी के संयुक्त सचिव डॉ० विद्याधर सिंह ने किया। इस सत्र में जिन प्रतिभागियों ने अपने शोधपत्र प्रस्तुत किये, उनमें से प्रमुख थे डॉ० नरेन्द्र नाथ झा (राष्ट्रिय संस्कृत-संस्थान, मानित विश्वविद्यालय, श्री रणवीर परिसर, कोटभलवाल, जम्मू)। इन्होंने 'प्रो० सत्यव्रत शास्त्री-विरचित महाकाव्य इन्दिराचरितम् मे सामाजिक एवं राष्ट्रिय एकता' शीर्षक पर अपना शोधपत्र प्रस्तुत किया। तदनन्तर राष्ट्रिय संस्कृत-संस्थान, मानित विश्वविद्यालय से ही आगत डॉ० गोविन्द पाण्डेय जी ने 'प्रो० सत्यव्रतशास्त्रिवर्याणां दृष्ट्या थाईदेशवर्णनम्' शीर्षक पर आधारित अपने शोधपत्र में थाईलैण्ड के निवासियों की सामाजिक, धार्मिक मान्यताओं की झलक प्रस्तुत की। इसके पश्चात् पत्रवाचन के क्रम में राष्ट्रिय संस्कृत-संस्थान, मानित विश्वविद्यालय, नई दिल्ली से उपस्थित डॉ० जयप्रकाश नारायण ने 'Prof. Satya Vrat Shastri– As a Linguist' शीर्षक पर अपना शोधपत्र प्रस्तुत किया।

इसके अनन्तर ब्रिगेडियर राजेन्द्र सिंह सभागार में ही अग्रिम सत्र का आयोजन किया गया। इस अवसर पर अध्यक्ष-पद को जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्याल, नई दिल्ली से उपस्थित विदुषी प्रो० शशिप्रभा कुमार जी ने सुशोभित किया तथा मञ्च-सञ्चालन के कार्य का निर्वहण संस्कृत-विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू की उपाचार्या डॉ० सुषमा देवी गुप्ता जी ने किया। इस अवसर पर जिन विद्वानों ने अपने शोधपत्र प्रस्तुत किये उनमें से प्रमुख थे-डॉ० देवेन्द्रनाथ ओझा। इन्होंने डॉ० सत्यव्रत शास्त्री के काव्यों में धार्मिक एवं सामाजिक अवधारणाएँ, शीर्षक पर श्रद्धेय शास्त्री जी द्वारा रचित काव्यों को आधार बनाकर धार्मिक एवं सामाजिक अवधारणाओं का अवलोकन कराया। इसके पश्चात् डॉ० शशि तिवारी जी (दिल्ली) ने डॉ० सत्यव्रतशास्त्री द्वारा प्रणीत ग्रन्थ 'कालिदास इन माडर्न संस्कृत लिटरेचर (*Kālidāsa in Modern Sanskrit Literature*) की आलोचनात्मक समीक्षा' शीर्षक से अपना शोधपत्र प्रस्तुत किया। इसी क्रम में कश्मीर विश्वविद्यालय, श्रीनगर (जम्मू-कश्मीर) से उपस्थित आविदा अहमद एलेन ने 'इन्दिरा गाँधी चरितम् काव्य में नारी-विमर्श' शीर्षक से अपना शोधपत्र प्रस्तुत किया।

तदनन्तर संस्कृतविभाग, लखनऊ विश्वविद्यालय; लखनऊ से उपस्थित प्रो० बृजेशकुमार शुक्ल ने 'प्रो० सत्यव्रतशास्त्रिप्रणीतेन्दिरागांधीचरिते प्रकृतिविच्छित्तिः' शीर्षक पर सुललित एवं गाम्भीर्यपूर्ण शब्दों में शोधपत्र प्रस्तुत किया। इसके पश्चात् राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान, मानित विश्वविद्यालय, श्री रणवीर परिसर, कोटभलवाल, जम्मू से उपस्थित प्रसिद्ध संस्कृतविद् एवं शिक्षाशास्त्र विभाग के अध्यक्ष डॉ० एम० चन्द्रशेखर ने प्रो० सत्यव्रतशास्त्री को व्यक्तित्त्व एवं कृतित्व विषय पर तथा प्रो० सत्यव्रत वर्मा (पूर्व प्राचार्य, राजकीय महाविश्वविद्यालय, श्रीगङ्गानगर, राजस्थान) ने प्रो० सत्यव्रत शास्त्री कृत संस्कृत-वाङ्मय की प्रथम डायरी 'दिने-दिने याति मदीय जीवितम्' की समीक्षा प्रस्तुत की। इसके साथ ही जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली से उपस्थित डॉ० उमा आर्या ने 'प्रो० सत्यव्रत शास्त्री का व्याकरण के क्षेत्र में योगदान' शीर्षक से अपने शोधपत्र के माध्यम से श्रद्धेय शास्त्री जी के द्वारा संस्कृतव्याकरण के क्षेत्र में प्रदत्त योगदान का उल्लेख किया।

संगोष्ठी के समापन से पूर्व उपर्युक्त सभागार में ही एक और सत्र आयोजित हुआ जिसमें सत्र की अध्यक्षता जम्मू नगरी के प्रतिष्ठित विद्वान् प्रो० सत्यपाल श्री वत्स जी ने की तथा सत्र-संयोजन का कार्य डॉ० सुषमा देवी जी ने किया। इस अवसर पर जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नई दिल्ली से उपस्थित मनीषी डॉ० सी० उपेन्द्रराव ने - 'रामकीर्तिकाव्ये ध्वनिः' विषय पर सारगर्भित तथ्यों का मण्डन किया। तदनन्तर वनस्थली विद्यापीठ, राजस्थान से समागत कु० चित्रा ने प्रो० सत्यव्रत शास्त्री जी की कृति 'रामकीर्तिमहाकाव्य' को आधार बनाकर रामकीर्तिमहाकाव्य की सांस्कृतिक विशेषताएँ शीर्षक से अपना शोधपत्र प्रस्तुत किया। इसके पश्चात् संस्कृत-विभाग, गुरुनानकदेव विश्वविद्यालय से उपस्थित डॉ० दलवीर सिंह ने सत्यव्रत शास्त्री पर काव्यपाठ कर अपनी ओजस्विता का परिचय दिया।

जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू के संस्कृत विभाग में आयोजित दो सत्रों में से प्रथम सत्र में अध्यक्ष-पद को प्रो० प्रभुनाथ द्विवेदी जी ने समलङ्कृत किया तथा इस अवसर पर मञ्च का संचालन डॉ० प्रतिभा, प्रवक्ता, संस्कृत विभाग एवं संगोष्ठी की संयुक्त सचिव ने किया। इस सत्र में जिन विद्वानों ने अपने शोधपत्र प्रस्तुत किये, उनमें से प्रमुख थे- संस्कृतविभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू के अध्यक्ष प्रो० पुरुषोत्तम शर्मा जी। इन्होंने "ज्ञानपीठविजेतृपद्मभूषण प्रो० सत्यव्रत शास्त्री का जीवनदर्शन" शीर्षक पर अपना महत्वपूर्ण शोधपत्र प्रस्तुत किया। इसके अनन्तर डॉ० विजेन्द्र कुमार शर्मा (जम्मू) ने "बहुमुखी प्रतिभा के धनी: प्रो० सत्यव्रत शास्त्री" शीर्षक पर अपना शोधपत्र प्रस्तुत किया। इसी क्रम में संस्कृतविभाग की ही सहायक प्राध्यापिका डॉ० प्रतिभा जी ने 'प्रो० सत्यव्रत शास्त्रिण: काव्येषु प्रयोगप्रौढि:' तथा डॉ० रामबहादुर शुक्ल ने 'किं लसति तितिक्षा तितिक्षुर्भूपालकारे' शीर्षक पर अपना शोधपत्र प्रस्तुत किया। डॉ० शुक्ल ने ब्रह्मविद्या प्राप्ति के लिए अपेक्षित तितिक्षा का सन्दर्भ रखते हुए प्रो० सत्यव्रतशास्त्री के जन्म से लेकर विद्यार्जन, विदेशगमन एवं काव्यलेखन का प्रसङ्ग रखते हुए उन्हें तितिक्षा विजेता बतलाया। इसके पश्चात् संस्कृत-विभाग के ही पी-एच० डी० शोधच्छात्र श्री ललितकुमार शर्मा ने 'पद्मश्री सत्यव्रत शास्त्री' शीर्षक पर आधारित तथा राष्ट्रिय-संस्कृत-संस्थान, मानितविश्वविद्यालय, श्री रणवीर परिसर, कोटभलवाल, जम्मू से उपस्थित श्री शरदचन्द्र शर्मा जी ने 'Prof. Satya Vrat Shastri : Contribution to Sanskrit Literature with Special reference to *Thaideśvilāsam*' शीर्षक से चिन्तनपूर्ण अपना शोधपत्र प्रस्तुत किया। इस अवसर पर अन्य जिन प्रतिभागियों ने अपने शोधपत्र प्रस्तुत किये, उनके नाम तथा उनके शोधपत्र के शीर्षक निम्नलिखित हैं-

श्रीमती सुनामिका गाँधी (जम्मू) : पद्मश्री सत्यव्रत शास्त्री।

श्री प्रकाश शर्मा (जम्मू) : अवतारी पुरुष: डॉ० सत्यव्रत शास्त्री।

डॉ० पीताम्बर मिश्र (जम्मू) : प्रो० सत्यव्रत शास्त्री कृत श्रीबोधिसत्वचरितम् की दार्शनिक विचारधारा।

डॉ० वन्दना (जम्मू) : प्रो० सत्यव्रत शास्त्री जी का व्यक्तित्व व कृतित्व।

इस प्रकार इस सत्र में कुल 11 पत्रों का वाचन हुआ।

तदनन्तर जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू के संस्कृत-विभाग में ही द्वितीय सत्र का आरम्भ हुआ। इस अवसर पर सत्राध्यक्ष पद को प्रो० शशिप्रभा कुमार, स्पेशल सेंटर फार संस्कृत स्टडीज, जवाहरलाल नेहरू विश्वविद्यालय, नयी दिल्ली ने अलंकृत किया। तथा मञ्च का सञ्चालन डॉ० विद्याधर सिंह ने किया। इस सत्र में जिन प्रतिभागियों ने अपने शोधपत्र प्रस्तुत किये, उनमें प्रथम थे - श्री महेन्द्र कुमार (जम्मू)। इन्होंने 'प्रो० सत्यव्रत शास्त्री द्वारा रचित श्री रामकीर्तिमहाकाव्य का वैशिष्ट्य' शीर्षक पर केन्द्रित शोधपत्र सारगर्भित शब्दों में प्रस्तुत किया। इसी प्रकार डॉ० धनञ्जय मिश्र ने 'भारतीय ज्ञानपीठपुरस्कारभाक् प्रथमसंस्कृतकवि: प्रो० सत्यव्रत शास्त्री, डॉ०

राजेश शर्मा (जम्मू) ने 'प्रो० सत्यव्रतशास्त्री विरचित तितिक्षुर्भूपाल: के पात्रों का वैशिष्ट्य-विवेचन' तथा डॉ० भारतभूषण मिश्र (जम्मू) ने 'प्रो० सत्यव्रत शास्त्री जी की थाईदेशयात्रा' शीर्षक पर पत्रवाचन किये। इस सत्र में जिन अन्य पत्र-वाचकों ने अपने-अपने शोधपत्र प्रस्तुत किये उनमें से प्रमुख हैं- श्रीमती पूनम शर्मा (जम्मू) : बोधिसत्वचरित में निरूपित प्रकृति चित्रण, डॉ० मञ्जु सिंह (जम्मू) : प्रो० सत्यव्रत शास्त्री कृत इन्दिराचरितम् के सादृश्य में इन्दिरा गाँधी का जीवन इतिहास तथा श्रीकृष्ण मुरारी त्रिपाठी (जम्मू) : प्रो० सत्यव्रत शास्त्री का दार्शनिक चिन्तन।

इस प्रकार द्विदिवसीय राष्ट्रीय संगोष्ठी के द्वितीय दिवस में निरन्तर पाँच सत्रों के आयोजन के अनन्तर अपराह्ण लगभग 1:30 बजे जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू के ब्रिगेडियर राजेन्द्र सिंह सभागार में ही इसके समापन समारोह का आयोजन किया गया। इस अवसर पर सम्पूर्ण कार्यक्रम के संरक्षक एवं जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू के माननीय कुलपति प्रो० वरुण साहनी जी ने अत्यधिक व्यस्त होते हुए भी प्रो० सत्यव्रत शास्त्री जी के प्रति आदर एवं सम्मान स्वरूप अपने बहुमूल्य क्षणों मे से कुछ समय निकालकर अपनी गरिमामयी उपस्थिति से सभागार में उपस्थित सभी विद्वानों व विचारकों को कृतकृत्य किया। मञ्च पर उपस्थित मनीषियों में संस्कृत की विभिन्न विधाओं में अपने कालजयी योगदान के लिए प्रसिद्ध प्रो० सत्यव्रत शास्त्री जी स्वयं उपस्थित थे।

संगोष्ठी के समापन सत्र के इस अवसर पर कार्यक्रम के अध्यक्षपद को जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू की कला संकायाध्यक्षा प्रो० अर्चना केसर ने अलङ्कृत किया तथा मुख्यातिथि के रूप मे मञ्च को प्रो० सुदर्शन शर्मा, कुलपति, श्री वेङ्कटेश्वर वेद विश्वविद्यालय, तिरुपति ने अपनी गौरवमयी उपस्थिति से सुशोभित किया। इस समारोह में विशिष्ट अतिथि के रूप में राष्ट्रपति पुरस्कार से पुरस्कृत, संस्कृत विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय जम्मू के पूर्व अध्यक्ष एवं पूर्व कलासंकायाध्यक्ष, साहित्यिक हृदय के धनी प्रो० रामप्रताप वेदालङ्कार उपस्थित थे। इसके साथ ही सारस्वत अतिथि के पद को राष्ट्रपति-सम्मान से सम्मानित तथा राष्ट्रिय-संस्कृत-संस्थान, मानित-विश्वविद्यालय, श्री रणवीर परिसर, कोटभलवाल, जम्मू के पूर्व प्राचार्य एवं प्रसिद्ध ज्योतिषी प्रो० विश्वमूर्ति शास्त्री जी ने सुशोभित किया। इस अवसर पर मञ्च पर उपस्थित अन्य विद्वानों में संस्कृतविभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू के माननीय अध्यक्ष एवं संगोष्ठी के संयोजक प्रो० पुरुषोत्तम शर्मा जी ने भी अपनी उपस्थिति से मञ्च की शोभा को बढ़ाया।

परम्परा के अनुसार समापन-समारोह का शुभारम्भ अज्ञानान्धकार से ज्ञानरूपी प्रकाश की ओर अग्रसर होने की मङ्गलाभ्यर्थना के साथ मञ्चस्थ मनीषियों व सरस्वती के समुपासकों द्वारा दीप-प्रज्ज्वलन, विभागीय छात्रों द्वारा प्रस्तुत वैदिक वन्दना तथा माँ सरस्वती देवी को माल्यार्पण के साथ हुआ। इसके पश्चात् मञ्चस्थ अतिथियों का आतिथेय पुष्पमाला एवं स्मृति चिह्नों से किया गया। तदनन्तर संस्कृत-विभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू के छात्र-छात्राओं ने मधुर स्वर में माँ सरस्वती की श्रद्धान्वित होकर वन्दना की। इस अवसर पर द्विदिवसीय राष्ट्रिय संगोष्ठी के संयोजक प्रो० पुरुषोत्तम शर्मा जी ने संगोष्ठी की उपलब्धियों का परिगणन करते हुए इसे समग्रदृष्ट्या

सफल बताया। तदनन्तर इस समापन समारोह के सारसस्वतातिथि प्रो० रामप्रताप वेदालङ्कार जी ने देश के विभिन्न स्थानों एवं नगरों के पृथक्-पृथक् संस्थाओं से सभागार में समुपस्थित विद्वज्जनों, महानुभावों को सम्बोधित किया।

इसी क्रम में इस अवसर पर मुख्यातिथि के रूप में विराजमान श्री वेङ्कटेश्वर वेद विश्वविद्यालय, तिरुपति के माननीय कुलपति प्रो० एस० सुदर्शन शर्मा जी ने अपनी ओजपूर्ण वाणी से सभा को सम्बोधित किया। उन्होंने अपने व्याख्यान में देववाणी संस्कृत के उपासकों से कहा कि संस्कृत किसी क्षेत्र-विशेष या प्रान्त-विशेष की भाषा नहीं है, अपितु यह सम्पूर्ण विश्व की भाषा है। तदनन्तर जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू के सम्मानीय कुलपति प्रो० वरुण साहिनी जी ने प्रो० सत्यव्रत शास्त्री जी के द्वारा संस्कृत के लिए की गई सेवाओं से गद्गद होकर उन्हें देवतुल्य बताया। इस अवसर पर राष्ट्रपति पुरस्कार से पुरस्कृत तथा इस समापन समारोह के विशिष्यतिथि प्रो० विश्वमूर्ति शास्त्री जी ने ऋषितुल्य प्रो० सत्यव्रत शास्त्री जी के प्रति श्रद्धाभिभूत हृदय से अपने उद्गार प्रकट किये। इसके पश्चात् इस समारोह में अध्यक्ष के पद पर सुशोभित तथा जम्मू विश्वविद्यालय में कलासंकायाध्यक्षा प्रो० अर्चना केसर जी ने इस सम्पूर्ण संगोष्ठी को सोद्देश्य व सफल तथा सबके लिए प्रेरणाप्रद बताया। कार्यक्रम के अन्त में प्रो० रमणीका जलाली जी ने सभागार में समुपस्थित सभी मनीषियों एवं इस संगोष्ठी को सफल बनाने मे प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप से सहयोग देने वाले सभी जनों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापन करते हुए आभार प्रकट किया और अन्त में राष्ट्रगान के साथ प्रो० सत्यव्रत शास्त्री का संस्कृतभाषा को योगदान विषय पर आधारित यह द्विदिवसीय राष्ट्रिय-संगोष्ठी "गच्छन्तु पुनरागमनाय" के उद्घोष के साथ विसर्जित हुई।

प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादन में विभागीय प्राध्यापकों के सहयोग के लिए सम्पादक कृतज्ञ रहेगा। ग्रन्थ के प्रूफ रीडिंग में डॉ० प्रतिभा एवं प्रिय शिष्य उमेश पौडेल का अपार सहयोग मिला है। एतदर्थ इन दोनों को आशीर्वाद।

धन्यवाद

विनीत

प्रो० केदानाथ शर्मा

डीन, कला संकाय

जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

kedarsharma50@gmail.com

Mob. : 9419127727

विषय-सूची

• • •

1

तस्मै नमः सादरम्

रामप्रतापः

शास्त्रिणं चारुदेवं तं वन्दे विपश्चितां वरम्।
जन्म लेभे गृहे यस्य सुतः सत्यव्रताभिधः।।1।।
शिशुरेष युवा जातः पूर्णश्चन्द्र इवापरः।
शुभ्रीकुर्वन् जगत्सर्वं विद्याचन्द्रिकया भृशम्।।2।।
अभ्यस्य सर्वशास्त्राणि सञ्जातस्तीव्रबुद्धिमान्।
नैकविद्यासु निष्णातो वेदवेदाङ्गपारगः।।3।।
महतोऽपि गुरुन् छात्रान् विद्याः पाठयति व्रती।
अस्य शिष्यत्वमापन्नास्तेऽनुभवन्ति गौरवम्।।4।।
देशाद् देशान्तरात्प्राप्ता विद्या गृह्णन्ति मानवाः।
अज्ञा भवन्ति वै विज्ञा विज्ञा विज्ञतरास्तथा।।5।।
वागर्थाविव सम्पृक्ते तन्नामयशसी उभे।
प्रसृते रामकीर्तेस्तु महाकाव्यस्य कारणात्।।6।।
दीप्तसंस्कृतलोकोऽयं तदीयैर्ज्ञानरश्मिभिः।
प्रतिष्ठते तमस्तावद् यावद् भानुर्न राजते।।7।।
अस्त्युत्तरस्यां तव दक्षिणस्यां
प्राच्यां प्रतीच्यां च यशःप्रकर्षः।
सर्वत्र लोके परिलक्ष्यमाणो विलक्षणत्वं भवतो व्यनक्ति
सर्वत्र लोकैरभिनन्द्माना भास्वत्प्रभेवा तितरां चकास्ति।।8।।
निशिदिनमयं ब्रह्मर्षिस्सन् स्वधर्मपरायणः
निरुपमगुणैः सञ्जातः सन् सतां हृदयेश्वरः।
अमृतवचसा विद्यां नित्यं करोतु सुधामयीं
विततयशसे तस्मै भक्त्या ममैष नमोऽञ्जलिः।।9।।

त्यक्त्वा यान्ति जगद् वनं हि बहवो मोक्षाय केचिज्जनाः।
कश्चित् कामयते च वैष्णवपदं पूजां तु कृत्वा हरेः।
मुक्त्वा सर्वविधां मनोगततृषां विद्याप्रचारे रतो
यः सत्यव्रतसञ्ज्ञको गुरुवरस्तस्मै नमः सादरम्।।10।।

• • •

2

नमस्तुभ्यम्

गोविन्द चन्द्र पाण्डेयः

पितुरुत्सङ्गे पीत्वा विमलव्याकरणचारुपीयूषम्।
कवयति कोमलकान्तं सत्यव्रतकविवरो धन्यः।।

आरोहन्ती दुर्गाद् दुर्गतरां शुभ्रकीर्तिशिखरालीम्।
रचयन्ती काव्यानि श्लाघ्या गीस्ते प्रसन्नपदा।।

कालजलधिगर्भान्नो गौरवभूरुद्धृता हृता दूरम्।
मारुतिमिव विज्ञप्तिं ददासि विद्वन् नमस्तुभ्यम्।।

• • •

3
सत्यव्रतं मन्महे

गौतम पटेल:

काव्यव्रतं काव्यपरं वरेण्यं काव्यस्य योनिं प्रथितं सुकाव्ये।
काव्यात्मकं काव्यमयं समस्तं सत्यव्रतं काव्यगुरुं भजामः।।

विद्या विवादाय धनं मदाय स्थानं सदा शोषणकारणाय।
सत्यव्रते तद् विपरीतमेतत् काव्याय दानाय सतां हिताय।।2।।

यत्सारस्वतवैभवं गुरुकृपापाकोद्भवं केवलं
यस्यास्ति व्रतमात्रपालनविधौ बुद्धिर्दृढा निर्मला।
सत्ये यस्य रुचिर्विशेषमहिमासारे स्थिता सर्वथा
तं विद्याविनयेन शान्तिसहितं सत्यव्रतं मन्महे।।3।।

भक्तिर्यस्य च दिव्यतातचरणे ज्ञाने च शक्ती रता
व्यक्तिः शास्त्रनवार्थरम्यकलने लोके प्रसिद्धिं गता।
चेतोदर्पणमार्जनीन्दुधवला विद्या समेषां कृते
तं श्रीदेशिकवर्यमत्र सुभगं सत्यव्रतं मन्महे।।14।।

सर्वं शास्त्रमयं च सर्वसुखदं सर्वात्मकं सर्वदं
साधुं सर्वसुलक्षणं समयुतं सत्याय सर्वंसहम्।
सम्यग्योगविनिःसृतं सुविमलं सर्वेशभावे स्थितं
सत्यं सत्यपरायणं समुदितं सत्यव्रतं मन्महे।।5।।

ज्ञानं संक्रमितं स्वशिष्यनिचये देशे विदेशे तथा
नूत्नं चापि समर्जितं सुमहता ध्यानेन सिद्धिप्रदम्।
सम्मानोऽधिगतो विलक्षणधियाऽभूद् ज्ञानपीठार्पितो
येन ज्ञानभरार्जितस्तमत्र महितं सत्यव्रतं मन्महे।।6।।

यत्पादाम्बुजसेवनं हि सकलं शिष्ये हितार्थ मतं
यस्यास्ति प्रबलं सुमित्रकलनं ध्येयं परं निर्मलम्।
यस्यानन्दमयी विचारसरणिर्बुद्धिः प्रसादोन्मुखी
तं दिव्यं वसुधातलेऽपि सुधया सिक्तं सदा मन्महे।।7।।

काव्यं यस्य सुचारुभावभरितं ध्वन्यर्थसंजृम्भितं
शास्त्रं यस्य सदैव गूढगहने चार्थे विवादे स्थिरम्।
या सर्वत्र गभीरधीरललिता सम्यक् प्रसन्ना शुभा
सा नित्यं रुचिरार्थ-काव्यवनिता सत्यव्रते राजते।।8।।

लक्ष्मीर्लौल्यगुणा पुनर्गतवती चन्द्रं यदा सेवितुं
सौख्यं पंकजकोशवासरुचिरं नापत् तदा सर्वथा।
जाता चान्द्रगुणौघमोदरहिता गत्वा पुनः पंकजे
नित्यं देशिकवर्यरम्यवदने सत्यव्रते मोदते।।9।।

शेषो यस्य न पारयेद् बहुगुणान् वक्तुं सहस्रैर्मुखै-
र्मूकीभूय चिरं स्थिताऽत्र वरदा देवी च यं पश्यति।
तं स्तोतुं प्रभवेत्कथं नु विकलो बालो ह्ययं निर्गुणो
लोके स्मेरमुखो जनो यदि भवेद् भक्तिश्च मे गण्यताम्।।10।।

धैर्यं यस्य युधिष्ठिरस्य सदृशं भव्यं प्रसिद्धि गतं
नैपुण्यं सकलं च पार्थसदृशं लोके च शास्त्रे स्थिरम्।
गीतायां गदिताश्च ये गुणगणाः सर्वे वसन्ति त्वयि
किं काम्यं, यशसा स्वकेन वसुधां कृत्स्नां परिप्लावय।।11।।

• • •

4

सत्यव्रतशास्त्री विजयते सदा

महेश झा:

सद्विद्यया सुचरितेन लसद्विभूते
त्यक्तप्रलोभन विसर्जितदैन्यभाव।
व्रत्यन्तरङ्ग शुचिमानस सद्विवेक
तन्द्रादिदोषरहित प्रकरोषि कृत्यम्।।

शान्तस्वभाव सुरवाक्प्रथनप्रतिज्ञ
स्त्रीवर्गमप्यनुदिनं नुदसि प्रकामम्।
विद्यार्जने सुरगवीश्रयणे च सम्यक्।
जन्मार्पितं जनहिताय तवेति मन्ये।।

यच्चाशिषां धनमुदारयशस्त्वदीयं
तेनानुकम्पय जनं च तवैकलव्य-
सत्साम्यमागतमिमं प्रतिबद्धशिष्यं
दास्यं दधानमिह देवगिरः सयत्नम्।।

सद्वृत्तिभूषितचरित्र विशालकीर्त्ते
त्यक्त्वातिदोषविषमामसतां विनिन्द्याम्।
व्रज्यां विपश्चिदतिवादविद्यौ प्रशस्यं
तर्कप्रकर्षमधिगच्छसि विप्र नित्यम्।।

शास्त्रं वचोनिपुणता मृदुलस्वभाव-
स्त्रीनद्भुतानिति गुणान् वहसि प्रधानान्।

विद्वद्वरेण्य बहुमानविभूषितोऽपि
जन्मानुभावितनिजान्वय एषि वृद्धिम्।।

यत्नेन संस्कृतगवीं प्रथयन् समन्तात्
तेजो बलं सुचिरमायुरनामयञ्च।

सम्यक् समेत्य नवभावरसानुरूप-
दाक्षिण्यचारुकृतिमर्पय नित्यमेव।।

• • •

5

सत्यव्रताः परशतोत्तरमुल्लसेयुः

रेवाप्रसादो द्विवेदी 'सनातनः'

येषां मतिः सदसतोर्व्यतिभेदनासु
न स्तोकमप्यनुभवत्यनुकम्पघातम् ।
ते स्थैर्यलालितधियः स्थिरचेतसश्च
सत्यव्रताः परशतोत्तरमुल्लसेयुः॥1॥

तातो वयस्यतितरां स्थविरोऽपि वाचं
पातञ्जलीं विशदयत्युपरिस्थितश्च ।
पुत्रोत्तमश्च कृतिनां वर एष पत्न्याऽ-
पत्योत्तमेन सहितश्च तथैव भूमौ॥2॥

एतत् फलं भवति दीर्घतमस्य पुण्य-
पाकस्य दुर्लभतमस्य कलौ युगेऽस्मिन्।
वर्धिष्णवः खलु भवन्त्यपथप्रवृत्ताः
यस्मिन् भवन्ति सुपथाश्च परं विपन्नाः॥3॥

येषां करे कङ्गिनिकाऽस्ति नितान्तरम्या
यस्याः समान्यपि सरन्ति शुभाक्षराणि।
प्रत्येकमक्षरमधिश्रितसाधुभावं
सच्छेकवृत्तियमकच्छविकं च भाति ॥4॥

यस्येप्सितानि सकलानि भवन्ति सिद्धि-
भाङ्ग्याशु दैवपरिदर्शितसत्पथानि ।
यस्योल्लसन्ति मतिपञ्जरके समानि
सामानि सन्ततशुभानि चराचरेभ्यः॥5॥

यत्काव्यशक्तिमभिधावति गीतिशक्तिः
पद्योत्तमा हि सततं यत उच्छलन्ति ।
तेष्वस्ति संविशदिमातिशयोऽर्थजाते
सत्सङ्गतिश्च पदवाक्यगता चकास्ति ॥6॥

सत्यव्रतेन विदुषा यदकारि पृथ्वी-
मातुः परिक्रमशतोत्तमपुण्ययागः।
तस्य क्रमो न खलु कोऽपि गिरां सवित्र्या
व्यारेचितः स्म भवतीति धयन्तु धन्याः॥7॥

एषां भवेत्तु वयसि प्रथिमातिशीति-
र्दिव्येन कालगतवर्षशतेन युक्ता ।
नेयं मही भवति रत्नखनिर्विहाय
सत्यव्रतादिविदुषो विदुषां वरिष्ठान् ॥8॥

शब्दा इमे प्रकटिता अनुजस्य वक्त्रात्
काशीस्थितस्य हि सनातन-शब्दभाजः।
सत्यव्रताग्रजवरस्य भवेयुरेव
प्रीत्यादिशब्दितगुणाय समाधये च ॥9॥

• • •

6
आदर्श आचार्य सत्यव्रत शास्त्री

निर्मल त्रिखा

कहते हैं लक्ष्य-ग्रन्थों को देख,
लक्षण-ग्रन्थ बनाये जाते हैं।
मैंने भी 'शास्त्री' जी का व्यक्तिव्य देख,
आदर्श-आचार्य के गुण सजाये हैं।।
अवस्था के साथ जिनका ज्ञान बढ़ता है,
श्रम करने से कभी न थकता है,
स्वाध्याय में तल्लीन रहता है,
ज्ञान बाटने से विमुख नहीं होता है।
जिज्ञासु शिष्यों को देख प्रसन्न होता है,
उनके संदेह-समाधान करता है,
शिष्य उन्हें पाकर धन्य होते हैं,
उनसे ज्ञान प्राप्ति हेतु आतुर रहते हैं।
कक्षा में आदर्श आचार्य जब पढ़ाता है,
ज्ञान-गरिमा को जब वह सुनाता है,
कितना सरस ओर भावुक हो जाता है,
ज्ञान-गङ्गा में अवगाहन करवाता है।
प्रत्येक विद्यार्थी के मन को समझता है,
विद्यार्थी भी उन्हें अपनी ओर देखता है,
गुरु-शिष्य का अटूट सम्बन्ध होता है,
गुरु का ज्ञान शिष्य की ओर बढ़ता है।
गुरु-शिष्य कृतकृत्य हो जाते हैं,
ज्ञान भी तो समादृत होता है,

गुरु देने का आतुर रहता है,
शिष्य ग्रहण करने को मचलता है।

जब कभी गुरु शीघ्र पढ़ाता है,
शिष्य-मुख पर संदेह छा जाता है,
गुरु सन्देह को पहचान जाता है,
पुनः पुनः वह उसे समझाता है।

आचार्य के ये जो लक्षण बनाये जाते हैं,
इस कसौटी पर जो सही आये हैं,
आचार्य-गुण से जो समन्वित हैं,
वे जगत्-प्रसिद्ध 'सत्यव्रत शास्त्री' जी है।

• • •

7

Prof. Satya Vrat Shastri—A Profile

Summary

Born on 29th September, 1930, Prof. Satya Vrat Shastri had his early education under his father, Prof. Charu Deva Shastri. He was consistently top rank holder up to Post-Graduation and won University Medals. After doing his Ph.D. at the Banaras Hindu University he joined the University of Delhi where during the forty years of his teaching career he held important positions of the Head of the Department of Sanskrit and Dean of the Faculty of Arts. He was also the Vice-Chancellor of Shri Jagannath Sanskrit University, Puri, Orissa.

He is the product of both the systems of Sanskrit education, traditional and modern. Apart from the University education he learnt the intricacies of the ancient Sastras from some of the leading exponents at Varanasi.

He is the first recipient of the Jnanpith Award in Sanskrit, 2009.

He received Padma Bhushan Award from the Govt. of India in 2010.

He has the distinction of having been Visiting Professor in five universities on three continents. Among his many foreign students the most prominent is Her Royal Highness Maha Chakri Sirindhorn, the Princess of Thailand. He has attended and chaired a number of national and international conferences and seminars and delivered more than a hundred lectures in Universities and institutions of higher learning in Europe, North America, Southeast Asia and the Far East.

Both a creative writer and a literary critic, Prof. Satya Vrat Shastri has to his credit three Sanskrit Mahākāvyas of about a thousand stanzas each, one of which, *Śrīrāmakīrtimahākāvyam*, has been translated in seven (Hindi, Kannada, Assamese, Telugu, Tamil, Gujarati and Malayalam) and three foreign (English, Thai and French) languages, a Prabandha-kāvya, a Patrakāvya (in two volumes), three Khaṇḍakāvyas., a diary,

the first ever in Sanskrit, *Dine dine yāti madīyajīvitam* and an autobiography, *Bhavitavyānāṁ dvārāṇi bhavanti sarvatra*, again the first of its kind in Sanskrit, the first volume of which has seen the light of the day while the work on the second one is in progress.

The well-acclaimed critical work, *The Rāmāyaṇa—A Linguistic Study* which is the first ever linguistic appraisal of not only the Vālmīki *Rāmāyaṇa* but of any extant Sanskrit work, *Kālidāsa Studies* in two volumes, two studies on Thailand, *Sanskrit and Indian Culture in Thailand* and *Thaideśa ke Brāhmaṇa* in Hindi and *Brāhnaṇas of Thailand* in English, *Discovery of Sanskrit Treasures* (in seven volumes), *Sanskrit Studies—New Perspectives, Introducing Modern Works on Sanskrit* and more than a century and a half of research articles and Forewords to about a hundred and thirty books are his contributions as a critic.

He is the subject matter of twenty theses for the degrees of M.Phil., Ph.D. and D.Litt. in Indian Universities. He has edited two research journals, the *Indological Studies* and the *Śrījagannāthajyotiḥ* of which he was the founder, two felicitation volumes and a dictionary of Sanskrit words in Southeast Asian Languages.

Travelogue is also one of his interests. He has published four works in this genre: *Thaideśavilāsam* in Sanskrit verse on the journey through Thailand, *Śarmaṇyadeśaḥ sutarāṁ vibhāti* in Sanskrit verse on the journey through Germany, Hangary Kitani dur kitani pas in Hindi on a visit to Hungary and *Caran vai madhu vindati* on visits to a number of countries in Europe, North America, Southeast Asia and the Far East.

Prof. Satya Vrat Shastri is known not only as a creative writer and a critic but also as a translator. He has translated A.A. Macdonell's *A Vedic Grammar for Students* into Hindi, the Sanskrit Mahākāvya, and the *Śrīrāmacaritābdhiratnam* of the Citrakāvya variety into English and the select poems of some of the prominent poets of Europe into Sanskrit verse.

Presently Prof. Satya Vrat Shastri is working on a multi-volume Sanskrit Mahākāvya, the *Viśvamahākāvyam*, on the principal cultural currents of the world.

He has deep commitment to national integration as evidenced by such of his write-ups as "Contribution of Muslims to Sanskrit" and

"Christian Literature in Sanskrit." He has published the first ever biography in Sanskrit verse of Guru Gobind Singh, the Tenth Sikh Guru. It is this which got him the Sahitya Akademi Award in 1968. His Sanskrit Mahākāvya *Śrībodhisattvacaritam* has for its theme the Buddhist Jātakas. For years he has been the President of the Jainological Research Society of India.

Though advanced in age, he is full of enthusiasm and is working simultaneously on three projects: Rāma Story in Southeast Asia, Hindu Temples of Thailand and Sanskrit Place Names in Southeast Asia, a region he has toured extensively and of which he has intimate knowledge.

Along with these projects he is working on a multi-volume Sanskrit Mahākāvya, the *Viśvamahākāvyam*, on the principal cultural currents of the world.

He is the recipient of Hundred and one honours and awards, national and international including Padma Shri, President of India Certificate of Honour, Thai Royal Decoration "The Most Admirable Order of Direk Gunabhorn", the Honour "Authorita Academische Italiano Straniere", the Civil and Academic Authority for Foreigners from the Govt. of Italy, the Medallion of Honour from the Catholic University, Leuven, Belgium, the Golden Prize from CESMEO, the International Institute of Advanced Asian Studies, Torino, Italy and five Honorary Doctorates from Indian and foreign universities.

The Academia Studi Mediterrani, the Academy of Mediterranean Studies, Aggrigento, Italy elected him its Fellow. So did the Sahitya Akademi, New Delhi.

In the Citation for the Honorary Doctorate at the Silpakorn University, Bangkok he was described as "a living legend in the field of Sanskrit."

Detail

1	**Permanent Address**	C-248, Defence Colony, New Delhi-110024, India
2	**Telephone**	+91-11- 24336644, +91-11- 24336631 ; Mobile (+91)9650117463
3	**E-mail:**	drsatyavratshastri@gmail.com

4 **Date of Birth**	29th September 1930
5 **Academic Qualifications**	Shastri, Vyakarnacharya, M.A. M.O.L. Ph.D , D.Litt.(honoris.causa)
6 **Academic Distinctions**	Gold Medallist in B.A. (Hons) and M.A broke all previous records in B.A. Hons.
7a **Positions Held previously**	Vice-Chancellor, Shri Jagannath Sanskrit University, Puri, Orissa Dean, Faculty of Arts, University of Delhi Professor and Head, Sanskrit, Department, University of Delhi Visiting Professor of Indian Studies, Chulalongkorn University, Bangkok Visiting Professor of Sanskrit, University of Alberta, Edmonton, Canada Visiting Professor of Sanskrit, Silpakorn University, Bangkok, Thailand Guest Professor, Catholic University, Belgium Guest Professor, Karl Erhard University, Tubingen, Germany
7b **Present Positions**	Honorary Professor, Special Centre for Sanskrit Studies, JNU, New Delhi Professor Emeritus, University of Delhi Honorary Chair for Sanskrit Language and Literature, Centre for Sanskrit Study And Research in Indology, Bharatiya Vidya Bhavan, Delhi Kendra
8 **Govt of India Awards**	**Sahitya Akademi Award**, 1968 **President of India Certificate of Honour**, 1985 **Padma Shri**, 1999 **Padma Bhushan**, 2010 **Fellow Sahitya Akademi**, 2013

9 Honours and Awards

International

1. Honour from Royal Nepal Academy, Kathmandu, 1979.
2. Medallion of Honour from the Catholic University, Leuven, Belgium, 1985.
3. Elected Fellow, International Institute of Indian Studies, Ottawa, Canada.
4. Doctorate Honoris Causa from the Silpakorn University, Bangkok, Thailand, 1993.
5. Honour: "Autorita Academische Italiano Straniere". The Civil and Academic Authority of Italy for Foreigners from the Govt. of Italy, 1994.
6. Kālidāsa Award from the International Institute of Indian Studies, Ottawa, Canada, 1994.
7. Special Award from Centro Pimontese di Studi Sui Medioed Estremo Oriente (CESMEO), Torino, Italy, 1995.
8. Honour from Gaja Madah University, Yogyakarta, Indonesia, 1995.
9. Royal Decoration "Most Admirable Order of the Direk Gunabhorn, 5th Class" from His Majesty the King of Thailand, 1997.
10. Doctorate Honoris Causa, from the University of Oradea, Oradea, Romania.
11. Certificate of Excellence from the Spiru Haret University, Ramnicu-Valeca, Romania, 2001.
12. Certificate of Excellence from the Biblioteca Judeteana"Antim Ivireanul" Valeca, Romania, 2001.
13. Honour from Mihai Eminescu International Academy, Bucharest, Romania, 2001.
14. Honoured as "Outstanding Teacher and Writer" by Biblioteca Pedagogica Nationala 'I.C. Petrescu' and Biblioteca Indiana, Bucharest, Romania 2001
15. Golden Prize from CESMEO, International Institute for Advanced Asian Studies, Torino, Italy, 2001.
16. Elected Fellow, Accademia di Studi Mediterrani, Academy of Mediterranean Studies, Aggrigento, Italy.

17. Royal Decoration "Most Admirable Order of the Direk Gunabhorn, 3rd Class" from His Majesty the King of Thailand, 2015.

National

18. Sahitya Akademi Award, 1968.
19. Honour from Sahitya Kala Parishad, Delhi Administration, Delhi, 1974.
20. Honour from Delhi Sikh Gurudwara Board, 1974.
21. U.G.C. National Lecturer, 1983.
22. President of India Certificate of Honour, 1985.
23. Shiromani Sanskrit Sahityakar Award, Govt. of Punjab, 1985.
24. Visista Sanskrit Sahitya Puraskara, Uttar Pradesh Sanskrit Academy, 1988.
25. Gita Rana Puraskara, IX International Gita Conference, Delhi, 1991.
26. Sanskrit Seva Sammana, Delhi Sanskrit Akademi, Delhi, 1992.
27. Sanskrit Sahitya Paraskara, Bharatiya Bhasha Parishad, Kolkata, 1992.
28. Indira Baharey Gold Medal, Tilak Maharashtra Vidyapeeth, Pune, 1992.
29. Pandit Jagannatha Sanskrit Padya-racana Puraskara, Delhi Sanskrit Akademi, Delhi, 1993.
30. Kālidāsa Puraskara, Uttar Pradesh Sanskrit Academy, Lucknow, 1994.
31. Pandita Kshama Row Puraskara, Row Dayal Trust, Mumbai, 1994.
32. Vagbhusana title, Vanmaya-vimarsa, Delhi, 1994.
33. Devavani-ratna Sammana, Devavani Parishad, New Delhi, 1994.
34. First All India Sammana, Rajasthan Sanskrit Academy, Jaipur, 1995.
35. Vachaspati Puraskara, K.K. Birla Foundation, New Delhi, 1995.
36. Dayawati Modi Vishwa Sanskriti Sammana, Modi Kala Kala Bharati, New Delhi, 1995.
37. Shastra-chudamani Award, Rashtriya Sanskrit Sansthan, New Delhi, 1996.
38. Manasa Sammana, Tulasi Manasa Pratishthana, Madhya Pradesh andTulasi Academy, Bhopal, 1997.

39. All India Kālidāsa Puraskara, Madhya Pradesh Sanskrit Academy, Bhopal, 1997.
40. Honour from the Govt. of Maharashtra, 1998.
41. Degree of Mahamahopadhyaya, Honoris Causa, Rashtriya Sanskrit Vidyapitha, Tirupati, 1999.
42. Padma Shri, Govt. of India, 1999.
43. Honour from Kurukshetra University, Kurukshetra, 1999.
44. Honour from Delhi Sanskrit Akademi, Delhi, 1999.
45. Degree of Vidyavachaspati, Honoris Causa, Gurukul Mahavidyalaya, Jwalapur, Hardwar, 1999.
46. Honour from Mahamahopadhyaya Pandit Naval Kishore Kankar Seva Parishsad, Jaipur, 1999.
47. Kālidāsa Sammana, Kālidāsa Samaroha, Ujjain, 2000.
48. Title of Veda-shastra-visharada, Swami Vishvesh Tirtha, Adhokshaja Mutt, Udupi, Karnataka, 2002.
49. Shrivani Alankarana, Ramakrishna Jaidayal Dalmiya Trust, Delhi, 2002.
50. Degree of Vidyamartanda (D.Litt.), Honoris Causa, Gurukul Kangri University, Hardwar, 2002.
51. Mahakavi Kālidāsa Sanskrit Jivanavrati Rashtriya Sammana, Kavikulaguru Kālidāsa Sanskrit Vishvavidyalaya, Ramtek, Nagpur, 2002.
52. Honour from All India Oriental Conference, 43rd Session, Puri, 2003.
53. Shrimati Chandrawati Joshi Sanskrit Bhasha Puraskara, Jnana Kalyana Datavya Nyasa, New Delhi, 2003.
54. Vedanga Puraskara, Maharshi Sandipani Vedavidya Pratishthan, Ujjain, 2003.
55. Acharya Umasvami Puraskara, Kundakunda Bharati, New Delhi, 2003.
56. First International Himadri Uttaranchal Sanskrit Sammana, Uttaranchal Sanskrit Academy, Hardwar, 2004.
57. Dr. Shashibhanu Vidyalankar Rashtriya Puraskara, Dr. Shashibhanu Vidyalankar Dharmartha Trust, Hardwar, 2006.

58. Degree of Vachaspati (D.Litt.), Honoris Causa, Shri Lal Bahadur Shastri Rashtriya Sanskrit Vidyapeetha, New Delhi, 2007.
59. Life Time Achievement Award Vidyalankara, Purbanchal Academy of Oriental Studies, Kolkata, 2008.
60. Sardar Patel International Award,2008, Sardar Vallabhabhai Patel Foundation, New Delhi.
61. Jnanpith Award, Bharatiya Jnanpith, New Delhi, 2009.
62. Degree of D.Litt. Honoris Causa, Deccan College Post-Graduate & Research Institute, Pune. 2009.
63. Anuvadashri Puraskara, Bharatiya Anuvada Parishad, New Delhi, 2009.
64. Prashant Murti Puraskara,Vimala Vidyashruta Sansthan, Jaipur,2009
65. Śrī Chandrasekharendra Saraswati National Eminence Award, The South Indian Education Society, Mumbai, 2009.
66. Vishva Bharati Puraskara, UP Sanskrit Sansthan, Lucknow, 2009
67. Padma Bhushan, Govt of India, 2010
68. General President, All India Oriental Conference, 45th Session, Tirupati, 2010
69. Sanskrit Kaustubha Sammana, Bharatiya Vidya Bhavan, Delhi Kendra, New Delhi, 2010
70. Distinguished Alumnus Award, Banaras Hindu University, Varanasi, 2010
71. Mahamana Malaviya Smrti Alankarana Puraskara, Mahamana Mission, Varanasi Unit, Varanasi, 2010
72. Śrīmadvidyabhaskara Sammana, Mahamandaleshvara Junapithadhishvara Avadheshananda Giri, Hardwar, 2010
73. Sarasvati ke Varadaputra title, All India Sanskrit Prakashaka Sangha, Delhi, 2011
74. Maharshi Valmiki Sammana, Delhi Sanskrit Academy, Delhi, 2011
75. Dr. Gangadhar Bhatta Smrti Sammana, Rajaganga Charitable Trust, Jaipur, 2011
76. Bharatiratnam Sammana, Lokabhasha Prachara Samiti, Bhubaneswar, 2011.
77. Prajnana Gaurava Sammana by Gloryfest, Puri, Odisha, 2012.

78. Saptarshi Sammana by Sandipani Vidya Niketana, Porbundar, Gujarat, 2012.
79. Swami Brahmananda Memorial Vyasashree Award-2012 by Maharsi Vyasadeva National Research Institute, Rourkela, Odisha..
80. Doctorate Honoris Causa, University of Torino, Torino, Italy, 2012.
81. Rajata Sammana, Maharshi Sandipani Veda Vidya Pratishthan, Ujjain, 2012.
82. Degree of Mahamahopadhyaya, Kavi Kulaguru Kālidāsa Sanskrit University, Ramtek (Nagpur), 2012.
83. Brihaspati Sammana, Kavi Kulaguru Kālidāsa Sanskrit University, Ramtek (Nagpur), 2012.
84. Mahamahimopadhyaya Sammana, Sanskrit Sahitya Academy, Cuttuck, Odisha, 2012.
85. Honour Bharatashrih, Akhil Bhartiya Vidvat Parishad Varanasi, 2013.
86. Fellow, Sahitya Akademi, New Delhi, 2013.
87. Professor Emeritus, University of Delhi, 2013
88. Vasundhara Ratna Samman, Award of Excellence, Respect Age International, New Delhi, 2013
89. Chairman, 2nd Sanskrit Commission, Govt. of India, 2014.
90. Rajaprabha Puraskar, Kunjunni Raja Academy of Indological Research (KAIR), Thrissur (Kerala), 2014.
91. Distinguished Teacher Award from the University of Delhi, Delhi, 2014
92. Sanskrit Gaurava Samman from All India Sanskrit Sahitya Sammelan, New Delhi, 2014
93. Bharatbhusan Award, Indian Institute of Oriental Heritage, Kolkata, 2014
94. Sivananda Eminent Citizen Award, Sanathana Dharma Charitable Trust, Visakhapatnam, 2014.
95. Valmiki Sammana, The Rāmāyaṇa Research Foundation, Bangalore, 2015.
96. Vishva Kavi Samsada Sammana, Samskara Bharati, Goa, 2015.
97. Samskritasudhanidhi Sammana, International Society for Educational Research and Training, Tirupati, 2015.

98. Suryadatta Life Time Achievement Award, Suryadatta Group of Institutes, Pune, 2016.
99. Vangmay Mahodadhi, Rajasthan Sanskrit Sahitya Sammelan, Jaipur, 2016.
100. Vagyoga Sammana, Vagyoga Chetnapeetham, Varanasi, 2016.
101. Rashtriya Sewa Ratna Award, Vishva Sewa Parishad, New Delhi, 2016

10. Books

Creative

1. *Bṛhattaraṁ Bhāratam*, Sārasvatī Suṣamā, Sampurnanad Sanskrit University, Varanasi, Saṁvat 2014.
2. *Śrībodhisattvacaritam* (A Mahākāvya in Sanskrit), First Edition Self publication 1963, Second Edition Meharchand Lacchmandas, Delhi, 1974.
3. *Śrīgurugovindasiṁhacaritam*, (A Prabandhakāvya in Sanskrit), First Edition Guru Gobind Singh Foundation, Patiala, 1969, Second Edition Sahitya Bhandar, Meerut, 1984.

   (Translated into Thai and English) [Won Sahitya Akademi Award in 1969].
4. *Śarmaṇyadeśaḥ Sutarāṁ Vibhāti* (A travelogue in Sanskrit verse), Akhil Bharatiya Sanskrit Parishad, Lucknow, 1976. Translated into German and English. Broadcast in several installments from Deutche Welle, German Radio, Bonn.
5. *Thaideśavilāsam* (A travelogue in Sanskrit), Eastern Book Linkers, Delhi, 1979. Translated in Thai and English.
6. *Śrīrāmakīrtimahākāvyam* (A Mahākāvya in Sanskrit on the Thai version of the Rāma story), Moola Mall Sachdev Foundation and Amarnath Sachdeva Foundation, Bangkok, First Edition 1990, Second Edition 1991, Third Edition 1995. Translated in Kannada, Assamese, Hindi, Telugu, Tamil, Gujarati, Malayalam, English, Thai and French. Translation in Marathi is in progress. Won ttwelve national and international awards.
7. *Patrakāvyam*, Vol. I, (A collection of letters in Sanskrit verse), Eastern Book Linkers, 1998.

8. *Patrakāvyam*, Vol. II, (A collection of letters in Sanskrit verse), Eastern Book Linkers, Delhi, 2008.
9. *Dine dine yāti madīyajīvitam* (A Diary in Sanskrit prose), Vijaya Books, Delhi, 2009.
10. *Bhavitavyānāṁ dvārāṇi bhavanti sarvatra,* Autobiography in Sanskrit, Vol. I, Vijaya Books, Delhi, 2014
11. *Bhavitavyānāṁ dvārāṇi bhavanti sarvatra,* Autobiography in Sanskrit, Vol. II, Vijaya Books, Delhi, 2017
12. *Bhavitavyānāṁ dvārāṇi bhavanti sarvatra,* Autobiography in Sanskrit, Vol. III, Vijaya Books, Delhi (under publication).

Critical:

13. *Essays on Indology*, Meharchand Lacchamdas, Delhi, 1963.
14. *The Rāmāyaṇa—A Linguistic Study* (With a Foreword by Dr. Suniti Kumar Chatterji and Introduction by Dr. Siddheshwar Varma), Munshiram Manoharlal, Delhi, 1964.
15. *Studies in Sanskrit and Indian Culture in Thailand*, Parimal Publications, Delhi, 1982.
16. Kālidāsa Studies: *Kālidāsa in Modern Sanskrit Literature*, Eastern Book Linkers, Delhi, 1991.
17. Kālidāsa Studies : *New Experiments in Kālidāsa*, Eastern Book Linkers, Delhi, 1994.
18. *Discovery of Sanskrit Treasures* (In seven Volumes), Yash Publications, Delhi, First Edition, 2005, Second Edition, 2009.
    First Volume—Grammar and Linguistics
    Second Volume—*Rāmāyaṇa, Mahābhārata* and Purāṇas
    Third Volume——Classical Sanskrit Literature
    Fourth Volume ——Modern Sanskrit Literature
    Fifth Volume—Philosophy and Religion
    Sixth Volume—Southeast Asian Studies
    Seventh Volume—Society and Culture
19. *Sanskrit Studies—New Perspectives,* Yash Publications, Delhi, 2008.
20. *Sanskrit Writings of European Scholars,* Vijya Books, Delhi, 2013.
21. *Hungary Kitani dur Kiatni pas,* Vijaya Books, Delhi, 2013.

22. *Caran Vai Madhu Vindati* (An account of the foreign cultural travels), Vijaya Books, 2013.
23. *Human Values : Definitions and Interpretations*, Bharatiya Vidya Mandir, Kolkata, 2013
24. *Sanskrit Inscriptions of Thailand*, Vijaya Books, Delhi, 2014.
25. *Introducing Modern Works on Sanskrit*, Vijaya Books, Delhi, 2014.

Translations

26. *A Vedic Grammar for Students* of A.A. Macdonell translated in Hindi, Motilal Banarsidas., Delhi, 1971. The work has run into seven editions.
27. *Śrīrāmacaritābdhiratnam* of Nityanand Shastri, translated in English, Sahitya Akademi, New Delhi, 2005.
28. *Cāṇakyanītiḥ, translated* in Hindi and English. Bharatiya Vidya Mandir, Kolkata, 2013.

Editing

29. *Indological Studies*, Journal of the Department of Sanskrit University of Delhi.
30. *Śrījagannāthajyotiḥ*, Journal of Śrī Jagannath Sanskrit University, Puri, Orissa
31. *Charu Deva Shastri Felicitation Volume*, Charu Deva Shastri Felicitation Committee, Delhi, 1973.
32. *Mañjūṣā, Dr. S. R. Rao Felicitation Volume, Bangalore, 1985.*
33. *Sanskrit Words in South-east Asian Languages*, Somaiya Publications, Pvt. Ltd., *Mumbai, 2005.*

Compilation

34. *Subhāṣitasāhasrī*, a compilation of a thousand Subhāṣitas, wise sayings with Hindi and English translations, Rashtriya Sanskrit Sansthan, First Edition, 1998, Second Edition 2006, Third Edition, 2010, Fourth Edition, 2012.

Works under Preparation

Translation in Sanskrit verse of the poems of the most prominent poets of different languages of Europe

Projects Undertaken

1. Rāma Story in Southeast Asia.
2. Hindu Temples of Thailand.
3. Sanskrit Place Names in Southeast Asia

Other Academic Work

- Published more than 150 research articles.
- Contributed Foreword to 133 books.
- Delivered more than thirty Radio talks.

Other Information

- An half an hour T.V. Documentary on him under the title "*The Wielder of the Pen*" was telecast from Delhi Doordarshan, Channel I, on September 17, 1996.
- Was instrumental in setting up of the Sanskrit Study Centre at the Silpakorn University, Bangkok, Thailand. The University named the Library of its Department of Oriental Languages after him.
- Two films on his life and works, one of half an hour and the other of an hour were made by the Sahitya Akademi, New Delhi in 2015.
- Is subject matter of twenty theses for M.Phil., Ph.D. and D.Litt. degrees in Indian Universities. Degrees awarded on seventeen. Work on three is in progress.
- A Felicitation Volume in his honour under the title *Encyclopedia of Indian Wisdom* in two parts was published in 2005.

11. Membership of Learned Bodies

Has been a member or office bearer of scores of learned bodies during the last fifty years of his career of which some of the more prominent are:

- Member Selection Board, Ramakrishna Jaidayal Dalmia Shrivani Alankarana
- Member and later Chairman, Selection Board, Murtidevi Award, Bharatiya Jnanpith
- Member Selection Board, Dayawati Modi Vishwa Sanskriti Sammana
- Advisor, Institute of Advanced Asian Studies, Torino, Italy
- Advisor, Oriental Culture Academy, Bangkok, Thailand

- Fellow, Indian Institute of Advanced Studies, Ottawa, Canada
- Chairman, Academic Committee, Sanskrit Dictionary Project, Deccan College Post-graduate & Research Institute, Pune
- Member, Grants-in-aid Committee, Rashtriya Sanskrit Sansthan
- General President, All India Oriental Conference, 45th Session, Tirupati
- Member and later Chairman, Selection Board for President of India Certificate of Honour

Prof. Satya Vrat Shastri : An Assessment

***Indian Literature*, Sahitya Akademi, New Delhi, Vol. XII, No. 3, 1969**

Dr. Satya Vrat Shastri is one of those few scholars of Sanskrit in the country who have made a mark in both the widely different fields of critical scholarship and creative composition. His literary work consists of some of the most delightful poems, dissertations on some of the toughest problems of Indology, a humorous skit and a translation from English into Hindi. It is the combination in him of the poet and the critic, the playwright and the translator, the interpreter of the old tradition and the original thinker that marks him out as one of the most remarkable personalities in the contemporary Sanskrit field.

Oscar Botto

Ex-President, CESMEO, Institute of Advanced Asian Studies, Torino, Italy

Dr. Satya Vrat Shastri's experience as a philologist, his sensibility as a poet and a man of letters are exceptional, so exceptional that whenever one is asked to express an appreciation of any of his works, one feels a strange embarrassment due to the knowledge that nothing can be added to any judgment passed by him, nothing must be changed to improve it and nothing has to be taken away. Each of his statements must be accepted in its entirety. Only an illogical conceit could induce one to even think of modifying, revising or integrating what this renowned scholar has set forth on the methodical basis of ever thorough, subtle, perceptive analysis of considerations systematically supported by his scientific and cultural heritage, sustained as it is by that unique familiarity that he has with Sanskrit. We rarely find these endowments combined

and harmonized by the sensitivity and learning of Satya Vrat Shastri and feel happy and lucky of having the opportunity to benefit from his most rare and learned capacities emerging from his scientific and literary output.

P.L. Bhargava

Ex-Professor and Head, Department of Sanskrit, University of Rajasthan, Jaipur (Now settled in Canada)

Dr. Satya Vrat Shastri is one of those persons whom to know is to like ..... He has made profound contribution for the advancement of Sanskrit language and literature.

Visudh Busyakul

Ex-Professor of Sanskrit and Head, Department of Eastern Languages, Chulalongkorn University, Bangkok, Thailand

Professor Satya Vrat Shastri came to Chulalongkorn University in October 1977 as Visiting Professor of Indian Studies under the aegis of the Indian Council for Cultural Relations. He was in charge of a number of courses at the Graduate School. At the time Her Royal Highness Maha Chakri Sirindhorn, the Thai Princess was working for her M.A. in Pali and Sanskrit and Professor Satya Vrat Shastri at once became one of her Sanskrit teachers.

In a sense it is difficult to define the rare quality of his teaching. The medium of teaching in his class was necessarily English, and granting that the majority of students were able to follow his instruction with relative ease, some were not. He was a true model of a kind and understanding teacher who combined the spirit of the enlightened Adhyāpaka with leniency and patience towards all his students. He would persist in his explanation and not allow students to leave him until all the doubts in their mind had been cleared. Being the scholar of Indological Studies, he was always ready and he got never tired to explain any question directed towards him. This spirit of a teacher in him is a true merit that makes him highly respectable and well liked by all his Thai students. Personally he was friendly and kind towards his Thai colleagues and very understanding with his Thai students who mention his name with respect and admiration even today.

After finishing a two-year term at Chulalongkorn University, he continued his stay in Bangkok further, again as Visiting Professor in the Department of Oriental Studies, Faculty of Archaeology, Silpakorn University. Being a poet at heart he could not let the time pass by without having Sanskrit poems flowing out of his pen. His first stay in Thailand coincided with the time we were preparing the celebration for the 200th anniversary of the founding of the city of Bangkok as the capital of the country, due in the early part of April of 1982. Although a newcomer to Thailand, when part of his time was spent in touring the countryside and studying about Thailand in detail, he was able to spare some of his busy moments composing a lovely Khaṇḍakāvya entitled *Thaideśavilāsam* which he finished in the following year. What he reported in that poem was what he had acquired through his own observation of the life style of the Thai rural and urban folks at different places. He poem also shows that he read a great deal, evidenced by the popular anecdotes concerning places of tourist interest, and by the report of literary activities of several kings of the Royal House of Chakri.

He was always looking with sharp eyes and was active in acquiring knowledge about the intellectual and cultural aspects of Thailand. It is therefore natural that the Thai *Ramakien* (Sanskrit *Rāmakīrti*) could not pass unnoticed by him. Professor Satya Vrat Shastri studied the Thai *Ramakien* and came up in 1989 with the *Śrīrāmakīrtimahākāvyam*, a work divided in twenty-five cantos.

Professor Shastri deserves congratulations in accomplishing this pioneering work.

Thus are the two beautiful literary works produced by Professor Satya Vrat Shastri during his stay in Thailand. We are grateful to him from the academic point of view as well as from the fact that by means of his literary efforts he has effectively been an ambassador whose ultimate aim is to strengthen the cultural bond between our two countries, India and Thailand.

Juan Miguel de Mora

Ex-Professor of Sanskrit, National Autonomous University of Mexico, Mexico

Professor Satya Vrat Shastri is one of the experts who truly masters

the Sanskrit language at all levels, both that of Pandits and that of the most knowledgeable and eminent academics. Neither Vedic nor Epic Sanskrit, nor the *Aṣṭādhyāyī*, nor its exceptions have any secrets for him. But to stop at Pāṇini is to barely scratch the surface of Satya Vrat's erudition. He is a Mahākavi. The art of poetry he masters so absolutely that his poetry may be compared to Kālidāsa.

(Late) Paul Thieme

Professor of Sanskrit, Seminar fur Indologie, University of Tubingen, Tubingen, Germany

I had the rare opportunity of teaching at Tubingen the same class. We differed on many points. Every time I found that he was invariably right. He is the tallest of the Sanskrit scholars of India. His knowledge of Sanskrit grammar is unbelievable.

A Survey of Research done/being done on Prof. Satya Vrat Shasrti

(a) Theses on which degrees awarded:

1. A thesis on a study on Dr.Satya Vrat Shastri's Prabandhakāvya, the Śrīgurugovindasimhacaritam by Indira Sharma was approved for the M.A. degree by the Punjabi University, Patiala in 1973-74.
2. Ph.D.degree on a thesis on a study of Dr.Satya Vrat Shastri's Mahakāvya, the Indira Gandhicaritam: Indira Gandhicaritam - Ek Samiksatmaka Adhyayana by Indira Kant Pathak was awarded by the Bhagalpur University, Bhagalpur in 1989.
3. Ph.D. degree on a thesis on Dr.Satya Vrat Shastri - Poet and Critic by Vinita Singh was awarded by the Kurukshetra University, Kurukshetra in 1991.
4. M.Phil degree on a dissertation on the Character of Sita in Dr.Satya Vrat Shastri's Mahakāvya Śrīramakirtimahakāvyam: Śrīrama-kirtimahakāvya mein Sita ka Svarupa by Savitri Shukla was awarded by Rani Durgavati Vishvavidyalaya, Jabalpur in 1992.
5. D. Litt. degree on a thesis: A Critical Evaluation of Dr.Satya Vrat Shastri's Creative Works by S.V.Varma was awarded by the Kumaun University, Nainital in 1994.
6. Ph.D. degree on the study of Dr.Satya Vrat Shastri's Mahakāvya, Śrīramakirtimahakāvyam: Śrīramakirtimahahakāvyam - Ek

Adhyayana by Poonam Sharma was awarded by the Kurukshetra University, Kurukshetra in 1995.

7. Ph.D. degree on a thesis on a study of Dr.Satya Vrat Shastri's Mahakāvya, the Indira Gandhicaritam: Dr. Satya Vrat Shastrikrta Indira Gandhicaritam ka Alocanatmaka Adhyayana by Vibhuti Mishra was awarded by Kanpur University, Kanpur in 1995.
8. D.Litt. degree on an assessment of Dr.Satya Vrat Shastri on the totality of his work, creative, critical and translation under the title Samskrta-Samskrti-Sadhana by Kamal Anand was awarded by the Punjab University, Chandigarh in 1998.
9. Ph.D. degree on the linguistic study of Dr.Satya Vrat Shastri's Mahakāvya Śrīramakirtimahakāvyam : Śrīramakirtimahakāvyam ka Bhasavaijnanika Adhyayana by Jaikrishna Sharma was awarded by the Maharishi Dayanand University, Rohtak in 1998
10. Ph.D.degree on a study of Dr.Satya Vrat Shastri's Mahakāvya, Śrībodhisattvacaritam: Śrībodhisattvacaritam Mahakāvya ka Samiksatmaka Adhyayana by Shyam Kumar Sharma was awarded by the Meerut University in 1998
11. Ph.D. degree on a comparative study of the themes of the Krttivasa Rāmāyaṇa and Dr.Satya Vrat Shastri's Śrīramakirtimahakāvyam : Krttivasa Rāmāyaṇa aur Śrīramakirtimahakāvyam ke Kathanakon ka Tulanatmaka Adhyayana by Pampa Sen was awarded by the Ranchi University, Ranchi, in 1999
12. Ph.D. degree on the literary evaluation of Prof. Satya Vrat Shastri's Śrīramakirtimahakāvyam : Śrīramakirtimahakāvyam ka Sahityika Adhyayana by Salil Kumar was awarded by the Punjabi University, Patiala in 2003.
13. Ph.D. degree on the evaluation of Rasas in Prof. Satya Vrat Shastri's Śrīramakirtimahakāvyam : Prof. Satyavratasastriviracitaàri-ramakirtimahakavye Rasayojana by Satya Vir Shastri was awarded by the Gurukul Kangri Vishvavidyalaya, Hardwar in 2003.
14. Ph.D. degree on the literary and cultural evaluation of Prof. Satya Vrat Shastri's Śrīramakirtimahakāvyam : Śrīramakirtimahakāvyam ka Sahityika aur Samskrtika Samiksana by Bindu Negi was awarded by the Kumayun University, Nainital in 2003.

15. Ph.D. degree on a study of the episodes in the Śrīramakirti-mahakāvyam : Śrīramakirtimahakāvyam men Upakhyanatattva by Savitur Prakash Gangawar was awarded by the Kumayun University, Nainital in 2006.
16. Ph. D. degree on a study of Dr. Satya Vrat Shastri's Śrīramakirti-mahakāvyam : Dr. Satya Vrat Shastripranita Śrīramakirti-mahakāvyam ka Samiksatmaka Adhyayana by Namita Singh was awarded by the Banasthali Vidyapith in 2006.
17. Ph.D. degree on a study of Dr. Satya Vrat Shastri's Śrībodhisattvacaritam : Dr. Satya Vrat Shastrtikrta Śrībodhi-sattvacaritam—Ek Adhyayana by Ritubala was awarded by the Panjab University, Chandigarh in 2007.
18. Ph.D. degree on Dr. Satya Vrat Shastri's Patrakāvyam [Vol. I] : Dr. Satya Vrat Shastri dvara racita Patrakāvyam ka Samiksatmaka Adhyayana by Neelam Yadav was awarded by the Rajasthan University, Jaipur in 2010.
19. Ph.D. degree on a critical study of Dr. Satya Vrat Shastri's Patrakāvyam, Vol. II : Satya Vrat shastri ke Patrakāvya ke Dvitiya Khanda ka Samiksatmaka Adhyayana by Virendra Kumar was awarded by the Punjabi University, Patiala in 2011.

Theses on which work is in progress:

1. A thesis for the Vidyavaridhi (Ph.D.) degree on a comparative study of the themes of the Valmiki Rāmāyaṇa and Prof. Satya Vrat Shastri's Śrīramakirtimahakāvyam: Valmiki Rāmāyaṇa aur Śrīramakirti-mahakāvya ke Kathanako ka Tulanatmaka Adhyayana by Ganesh Nath Mishra is in progress at the Kameshwar Singh Darbhanga Sanskrit University, Darbhanga.
2. A thesis for the Ph.D degree on a comparative study of the themes of the Rāmāyaṇa in the Maithili Language and the Śrīramakirti-mahakāvyam : Mithila Bhasha Rāmāyaṇa aur Śrīramakīrtimahākāvya ke Kathanako ka Tulanatmaka Anushilana by Savita Jha is in progress at the Ranchi University, Ranchi.
3. A thesis on a critical evaluation of Dr. Satya Vrat Shastri's diary Dine dine yati madiyajivitam : Dr. Satya Vrat Shastriviracita Diary Grantha Dine dine yati madiyajivitam –Ek Samiksatmaka Adhyayana by Jyoti Bala is in progress at the Banasthali Vidyapith.

4. A thesis on a critical study of the Śrīramakirtimahakāvya in the light of the Valmiki Rāmāyaṇa : Valmiki Rāmāyaṇa ke Aloka men Śrīramakirtimahakāvyam ka Samiksatmaka Adhyayana by Bimalesh Kumar Maurya is in progress at the Banaras Hindu University, Varanasi.
5. A thesis on the critical study of the Śrīramakirtimahakāvya : Śrīramakirtimahakāvyasya Samiksatmakam Adhyayanam by Rekha Rani is in progress at the Acharya Nagarjuna University, Guntur.
6. A thesis on A Poetical Study of the Sanskrit Inscriptions and Socio-cultural Study of Thailand [based on Dr. Satya Vrat Shastri's work : Sanskrit Inscriptions of Thailand] by Soumyaranjan Mohapatra is in progress at the Rashtriya Sanskrit Vidyapeetha (Deemed University), Tirupati.

• • •

8

Prof. Satya Vrat Shastri— The Poet, The Prose Writer, The Critic, The Translator

Satya Vrat Verma

Introductory

Undoubtedly one of the most eminent poets of the contemporary era, Dr. Satya Vrat Shastri is heir to enviable greatness. His father Professor Charudeva Shastri, widely acclaimed as Abhinava Pāṇini for his profound equipment in Sanskrit grammar and semantics, worked hard to fashion him into a master grammarian, a replica of himself. He actually gained deep insight in the intricacies of grammar quite early in his career and came to be looked upon as a phenomenon of sorts right from his teens. After an exceptionally brilliant academic career which won him many a laurel, Dr. Shastri made the University of Delhi his *karmabhūmi* and served it in various capacities for about four decades with vision and devotion. Soon after he joined it, he published his first full - fledged comprehensive poem, the *Bodhisattvacaritam* which took the Sanskritists, round the globe, by storm and served to establish him as a front ranking Sanskrit poet of modern times. The *Bodhisattvacaritam* belied convincingly the oft-repeated charge that the grammarians do not make worthy poets. Dr. Shastri was trained as a grammarian but has flowered into a highly talented poet. Scholarship and poetry have worked out a happy fusion in him. It might have been a sheer coincidence though, his creative and critical writings seem to alternate at measured intervals. While his creative writings make a sizable literature, remarkable in several respects; his critical writings come to grips with a host of tangled issues with the delectable dissertation on Vālmīki's language, *The Rāmāyaṇa : A Linguistic Study*, excelling them all. Dr. Shastri has addedly contributed more than a hundred research papers on such diverse

subjects as grammar, poetics, epigraphy and classical literature to almost all the leading journals on Indology, both foreign and Indian. His Forewords to as many as one hundred and twenty five books dealing with subjects as different as Veda and Śyenikaśāstra, the science of hunting, are marked by a keen perception and lucid exposition of the subject, and tend to form by themselves a new discipline. The equipment of such an outstanding scholar was bound to percolate to his pupils, some of whom prosecuted researches under his supervision on a variety of tough problems pertaining to diverse disciplines.

With his formidable equipment, it was not unnatural for him to have broken over the world of Indology like a colossus. But for the middle east countries, there is hardly any university or seat of Sanskrit learning in the world where hey has not taught, lectured and guided the indological studies as a visiting scholar. His several assignments to the respective universities in Thailand have been highly productive. It is from his intimate grasp and understanding of the Thai culture, history and literature that the *Rāmakīrtimahākāvya* and *Thāideśavilāsam* emanate.

Awards and honours were bound to gush to such a mighty scholar and poet. They have been rather so numerous that it is hardly possible to keep their track. Howsoever coveted and prestigious, they represent but a small recognition of his massive contributions towards interpreting and disseminating the ancient wisdom of the country.

The Poet

Dr. Shastri has been instrumental in imparting new horizons to Sanskrit poetry, conditioned by outdated norms, through the vast array of his creative writings that encompass a mass of more than five thousand verses, spread over three Mahākāvyas, four Khaṇḍakāvyas, a series of versified letters and a host of shorter works refreshing and interesting in their own way. Almost all aspects of Sanskrit poetry have been enriched by his substantial contributions. With his flair for innovation, he did not hesitate to flout the theory which, howsoever entrenched, seems to have outlived its relevance. His zeal for innovation has manifested itself in a variety of ways. In contradistinction to the hackneyed themes sanctioned by the theory, he has come to grips with the subjects that might have been frowned upon by the traditionalists but exude uncommon charm and freshness. Almost all his works are distinguished by unorthodox themes.

I

The *Bodhisattvacaritam*[1] thus opens up new vistas in literature in reducing to mellifluous verses some of the most elevating *avadānas* (meritorious deeds) of the Bodhisattva, which surprisingly had not evoked much following in Sanskrit poetry. The *Rāmakīrtimāhākāvya*[2] *(RKM)*, on the other hand, makes bold to detail an alien (Thai) version of the Rāma-story, which notwithstanding its broad concurrence with Vālmīki's *Rāmāyaṇa*, makes daring departures from the known story to dwarf the epic figures to the extent that it may well raise frightening frowns at home. That apart, the *RKM* comes as a whiff of fresh air in a literature dominated by the stereotyped writings, and lends new dimensions to the vast Rāma literature, assiduously fostered over the ages. As a symbol of cultural synthesis it merits added esteem.

II

Dr. Shastri has made sustained forays in the history of the land and some of the neighbouring countries to make it the basis of some of his poems. The *Indirāgāndhīcaritam (IC)*[3] makes a determined bid to grapple with one of the most turbulent periods of the recent Indian history and thereby emerges as a readable biography of Indira Gandhi, who, as Prime Minister, presided over the destiny of the country for more than fifteen years, besides being an authentic record of the freedom struggle that the country waged to free itself from the yoke of British imperialism.

III

With its theme drawn from the Sikh history the *Śrīgurugovindasiṁhacaritam (SGGSC)*[4], serves to lend variety to the historical writings in Sanskrit and makes a delightful biography of the Tenth Guru. It also marks a proud addition to the existing Sikh literature in Sanskrit. The other Khaṇḍakāvyas also bespeak the author's zeal to invest the Sanskrit poetry with new contours by mustering hitherto the unexplored themes. The *Bṛhattaraṁ Bhāratam (88)*[5] addresses itself to capture, in a tiny frame, the glory of Southeast Asia, popularly known

1. Meharchand Lacchmandas, Delhi, Second Edition, 1973
2. Moolamall Sachdev Foundation, Aṁarnath Sachdeva Foundation, Bangkok, Thailand, 1990
3. Bharatiya Vidya Prakashan, Delhi, 1976
4. First Edition, Guru Gobind Singh Foundation Patiala, 1967, Second Edition, Sahitya Bhandar, Merut, 1984
5. Sārasvatī - Suṣamā, Varanasi, Vol. XII, No. i, Saṁvat - 2014

as Greater India, that served for ages as a cultural outpost of India. Though conceived as a *śataka*, it differs from its forbears in being thematic in character.

IV

In a similar vein but with added flourishes, the *Thāideśavilasam (Tdv)*[1] sets forth the history and culture of Thailand, the ancient Śyāmadeśa, which bears extraordinary affinities with India in religion, culture and language. For the *Napuṁsakaliṅgasya Mokṣaprāptiḥ (NMP)*[2] the author has picked up a grammatical problem as its theme. Conceived as a humorous skit, it seeks to open new vistas in Sanskrit dramatics. And *Ko'ham*[3] purports to be a perceptive analysis of the fractured personality of the modern man and skilfully underscores the vast potential of the Sanskrit speech in highlighting the nuances of modern thought. The *Patrakāvyam*[4] *(PK)*, the corpus of versified letters, tends to raise the trite practice of letter-writing to literary heights. Intended to be minikāvyas, the letters, not unlike the ancient inscriptions, settle down as an independent branch of poetry.

V

His contribution towards the Travelogue-literature in Sanskrit is solid and substantial. While the earlier accounts are confined to the centres of pilgrimage and are tiny in frame or flamboyant in style, it is the *Śamaṇyadeśaḥ sutarāṁ vibhāti (SSV)*[5] that purports to be the first poem to detail in delightful verses an account of the author's visit to the Federal Republic of Germany, a country that has done the most to interpret the wisdom of ancient India.

All of Dr. Shastri's works thus tend to defy the theory in taking up the subjects that are unconventional and bold. That purports to be his first step to liberate the Sanskrit poetry from the bondage of obsolete parameters.

---

1. Eastern Book Linkers, Delhi, 1979
2. *Bhāratī*, Jaipur, Volume, V, Saṁvat 2013, pp. 153-154. Also included in my *Satya-sudhā*
3. *Arvācīna - saṁskṛtam*, Delhi, Vol. IX, No. 1, 1987
4. *Patrakāvyam*, Vols. I and II, Eastern Book Linkers, Delhi, 1994, 2009
5. Akhila Bhāratīya Sanskrit Parishad, Lucknow, 1976

The freshness of Dr. Shastri's themes is matched by their equally fresh execution. The handling of his themes bears the imprint of a sober mind, well-attuned to the imperatives of elegant poetry, with no fascination for extravagance.

The themes of his Mahākāvyas are incidentally highly demanding and pose considerable challenge to the poet in imparting them a facade of cohesion. He has invariably risen to the occasion and acquitted himself with credit. The various episodes that form the canvas of the *BSC*, whatever their ethical overtones, stand in splendid isolation. Nor do they revolve round a single individual but hinge upon a host of characters, both noble and ignoble. The feeble attempt to explain away the motley crowd on the ethereal presumption that the solitary soul of the Bodhisattva binds them together leaves one cold. They do not cease to be separate entities thereby, nor do they acquire homogeneity. Left to themselves, they could have thrown the poem out of gear. Dr. Shastri has sought to weld the disjointed episodes by working up the Bodhisattva himself as a cohesive phenomenon. That is why the fractured stories end up with something noble, no matter what the vicissitudes.

Contrary to the limited sweep of the *BSC*, the *IC* commands a broad spectrum with a wealth of contents. The mass of the bewildering data that formed backdrop to the poem could have strained any one's ingenuity to work out a well-knit narrative therefrom. The author has confidently met the situation by culling such of the events as have a direct bearing on Indira Gandhi or are otherwise connected with her. The astute handling of the heterogeneous saga of the freedom struggle followed by the post- independence era has resulted in a smooth homogeneus theme that forms the warp and woof of the *IC*. The career of Indira Gandhi, as attempted in the poem, is marked by three perceptible stages which, if anything, ensure its sequential development to its full potential.

VI

Equally deterring was the data that provided raw material to the *RKM* which essentially represents an alien version of the Rāma-story. The peculiarly Thai episodes that the author has picked up for treatment in the poem might have added a new flavour to the narrative. They by themselves were no better than an incoherent jumble of heterogeneous

events, hardly worthy of serving as the theme of a Mahākāvya as postulated in Indian rhetorics. The author has sought to knit the apparently isolated episodes *(upākhyānas) by* providing the connecting links which the Thai classic often shares with the *Vālmīki-Rāmāyaṇa.* It has enabled him to weave out a smooth texture with spotlight constantly turned to the Ramakien-episodes, which the poem means to project.

Though the small canvas of the Khaṇḍakāvyas does not admit an exuberance of details, the way Dr. Shastri has sketched Guru Gobind Singh's career in its totality in the tiny frame of four Cantos of the *SGGSC,* and captured the glory of Thailand in the body of mere 121 verses, speaks volumes of his equipment in evolving appropriate themes to square with the parameters of his respective poems.

The expertise in working up smooth homogeneous themes out of a bulk of material is a creditable feat on the part of the author. Shorn of accretions, his well-knit themes are rich in contents. Nowhere are the contents of his poems allowed to be overwhelmed by their forms. It may well be treated as his unique contribution to Sanskrit poetry.

Dr. Shastri's well-knit narratives are marked by an unusually swift flow. He is not enamoured of the conventioinal descriptions which, notwithstanding their poetic worth, raise irritating impediments in the flow of the theme and divert the reader to the nonessentials. He has doubtless broken into a variety of descriptions to enliven his poems and letters. They, however, neither spill wide nor are flung at a place where they do not glue. They more often than not stem from the narrative. Their variety is as admirable as their brevity. These brief sketches are more in tune with the modern taste than the exhaustive descriptions that flood the ancient Mahākāvyas. The range of his descriptions is amazing. They encompass subjects that lesser poets would apologetically shun. One comes across here sketches of such social evils as poverty, bonded labour, population explosion and environmental pollution. At the touch of the author's pen they come to vibrate with life.

He is at his best in dealing with the conflicting emotions that overwhelm man in different situations and prompt him into a behaviour that he would have shunned under normal circumstances. All the three comprehensive poems throw up quite a few of such psychological descriptions, prompted both by noble and ignoble emotions. They rather abound in the *RKM.* The deep understanding of human psychology has enabled the author to turn focus on the minutest contours of emotions *(RKM,* IV. 4-10; V. 9-12, 14). It is these sketches that alongwith the

descriptions of alien lands and scenic beauties thereof that settle down as the author's contribution to the Mahākāvya tradition. Some of the tenderest emotions also have full play in his writings. Perhaps the most touching description in the *BSC* is reserved for the worst of all emotions - ingratitude. Even in the tender Mālinī metre the poet has come down heavily on Pīliya for not only what he had done to his noble friend Saṁgha but also for what he symbolised as the worst specimen of human being:

तदभिहितमवेक्ष्य त्यक्तसन्मित्रकार्यः
कुटिलमतिरवादीत् पीलियोऽसावनार्यः।
पदमितरदुपेहि त्वत्कृते स्थानमत्र
न भवति मम गेहे श्रूयतामंग मित्र।।
अपि शृणु निकटस्थं तत् पुरो वेश्म गत्वा
लघु महदपि किंचिद् देयमेवेति मत्वा।
प्रवितर बुसमस्मै सम्यगालोक्य तुम्बी-
परिमितमिह दूरादागतोऽयं कुटुम्बी।।
स्वयमयमुपलभ्याशीतिकोट्यर्धमर्थं
त्यजति निजसहायं संघमद्यासमर्थम्।
कथमिव स कृतघ्नस्तस्करः स्यात् प्रशस्यः
क्व च भवतु कदर्यस्तादृशो वा यशस्यः।।

BSC, XIII.38, 40, 44

Hanumān's encounter with Suvarṇamatsyā in the deep ocean brings to the fore the conflicting emotions that gripped them instantaneously. The conflict persists till they dissolve their identity in the vast ocean of love. The conflict, its subsequent resolution and the culmination of their love has been captured with keen sensitivity.[1]

The down-to-earth narrative in the *IC* does not admit of such emotions. The best descriptions in the poem are claimed by Gurudeva

1. दृष्ट्वैनमत्र मनसः सुतरामनीशा जाने न किं खलुं मया करणीयमत्र।
पर्याकुलेव लुलितेव सुविह्वलेव वल्लीव पौरुषतरुं श्रयितुं लषामि।।
चिन्तापरा विविधचारुविचारवीचिप्रेङ्खोलिता न वचनं किमपि प्रपेदे।
वायोः सुतोऽपि कमनीयतमांगयष्टिः पश्यन्न तां स्वमनसः प्रबभूव वीरः।।
अन्योन्यमेवमवितृप्ततयोपपन्नौ गाढोपगूहनसुखाकुलितान्तरंगौ।
वायोः सुतश्च रमणी च सुवर्णमत्स्या गाढं बभूवतुरुभौ मदनेषुविद्धौ।। *RKM*, XII.42, 44, 47

Rabindranath Tagore's cultural and academic hermitage, the Śāntiniketana:

सुकविता सुकवेरिव कस्यचित्
सुघटिता प्रतिमेव सुशिल्पिनः।
सुरमणीयमृषेरिव दर्शनं
लसति शान्तिनिकेतनमद्‌भुतम्।।

and the confluence of the rivers Gaṅgā and Yamunā at Prayāga:

पुण्यात्मभिः सेवितमात्मवद्‌भिः
सद्‌भिः सदाचारविचारवद्‌भिः।
स्वर्गापवर्गस्य निमित्तभूतं
प्रयागतीर्थं प्रथितं पथिव्याम्।।

....

यत्र स्फुटं भाति विभिन्नरूपं
गांगं जलं यामुनमेव चापि।
श्यामासु शुभ्राः शशिनः प्रविष्टाः
पादा यथा सान्द्रवनस्थलीषु।।

IC. I.9, 12

Some of Dr. Shastri's Khaṇḍakāvyas and letters are also distinguished by a perceptive account of the various phenomena. The touching description of the death of the author's father[1] and the unequal battle of Chamkaur in the *SGGSC* merit attention.

In the delineation of Rasa also the author does not wholly submit himself to the theory. The *BSC* in particular flouts the norms in allowing the various sentiments to have a free play. Otherwise also not many sentiments are fostered in the poem, certainly not with the intensity that would raise one of them to the high pedestal of the *aṅgirasa*. Since *śama* or *nirveda*, the lasting feeling of the Śāntarasa, runs through the poem with cogence, Quietism may broadly be accepted as its chief sentiment. Contrary to both the *BSC* and *IC*, Śṛṅgāra has received greater notice in

1. यावज्जीवं समाराध्य शब्दब्रह्म विशेषतः।
तातपादा अन्तकाले तत्रैव विलयं गताः।।
तादृशेऽथ महाभानावस्ताचलमुपेयुषि।
तामिस्रमिव भात्येतज्जगत्कृत्स्नं चराचरम्।। *PR*, I, p. 65

the *RKM* and it tends to conform in its depiction to the traditional parameters. Almost all the feelings *(bhāvas)* associated with Śṛṅgāra have been assiduously fostered to ensure its vigorous expression. The happy tendency to philosophise on the irresistible sweep of *Kāma* tends to lift the affair to sublime heights *(sādhāraṇaḥ prāṇiṣu bhāva eṣaḥ*, *RKM*, X11.40; *sukhadaṁ prema paramaṁ tattvaṁ jñeyam*, *BSC* X1.5). Strangely enough, it is Hanumān's romantic forays that culminate in the emergence of Śṛṅgāra in the *RKM*.[1] The sting of Vipralambha is felt more acutely in the *BSC*. The havoc that the young monk's unabated yearnings for the maiden of Śrāvasti have played with him, is moving to the extreme[2]. The improper love of Kumāra presents a different aspect of Vipralambha which the poet has spectacularly purged to sublimity.[3]

The Heroic sentiment has claimed a dominant position both in the *IC* and the *RKM*, though in view of the prosaic character of the narrative it is somewhat unconventional in the former. It is in the *RKM* that the Vīrarasa breaks out with utmost vehemence, dotted as the poem is with fierce encounters[4] of many a heady combatant. The wordy bouts that precede the actual combats reinforce the vigour of the sentiment beyond measure.[5]

1. RKM, X11.42, 46-50
2. इतीयमिच्छाद्य वरीवृतीति दुःखासिकां चेतसि तन्तनीति।
   अतो विवर्ण वदनं ममेदं यूनोऽपि दूना च कृशांगयष्टिः।। *BSC*, VI.15
3. *BSC*, VIII
4. (I) Vide duel of Maiyarāb and Hanumān;
   दण्डादण्डि मुष्टीमुष्टि दन्तादन्ति कचाकचि।
   हनुमन्मैयराबौ तौ न्ययुध्येतां परस्परम्।। *RKM*, XIV.66
   (II) Combat of Maṅkuṭa with Rāma;
   आस्फालयन् घोरघोषां धनुर्ज्यां मंकुटो मुहुः।
   अवसृजंश्ज फूत्कारं पदा स्पृष्ट इवोरगः।।
   प्रज्वलत्क्रोधताम्राक्षो बालसूर्य इवापरः।
   ओजस्विनीं तदा तत्र गिरमेव समाददे।। *RKM*, XXII, 61-62
5. (क) मैयराबः–
   कापेयमेतन्मम यत् पुरस्त्वं स्थितो नियुद्धं ननु याचसे माम्।
   अपेहि तद् दूरमितः प्रयाहि प्राणाः प्रियास्ते यदि सन्ति कच्चित्।।
   हनुमान्–
   प्रभञ्जनस्यास्मि सुतः प्रसिद्धो लोकेषु वज्रांगबली हनूमान्।
   भङ्क्ष्यामि ते संहननं विशालं मृणालदण्डं द्विरदो यथैव।। *RKM*, XIV. 41, 58

The author has not hesitated in working up some of the accepted motifs to lend vibrance to the Vīrarasa. It is, however, the exalted form of heroism– *dharmavīratā* or *dayāvīratā* - that has been nurtured with greater fondness in almost all his poems. It abounds in the *BSC*. The virtuous heroism reaches its acme in the sublime conduct of the farmer Bodhisattva who could throw gauntlet at death itself.[1]

It is characteristic of the *RKM* that of the ancillary sentiments, the Marvellous has been developed therein to such a pitch that it tends to equal the chief sentiment in intensity and frequency. The *IC* is enlivened by Vātsalya and Hāsya, the two being more vivacious in the *RKM*. Pathos is acutely evident in both, and in some of the letters as well.

Dr. Shastri's writings provide uneven avenues for the *dramatis personae* to unfold their potential. The possibilities of effective characterization have been effectively impaired in the *BSC*. For most of its characters, we do not have more than skeletal sketches. Even the hero of the poem is shrouded in mystery. It is the ethereal phenomenon represented by the Bodhisattva that has to be viewed its hero. All the leading characters are but different facets of the same phenomenon. The humble farmer emerges as the stoutest figure in the poem.

The author's fondness to have unconventional leading characters has led him to cast a woman in the mould of *nāyaka* in the *IC*. She, however, imbibes all that the poeticians have prescribed for effective characterization. However, the characters in the *RKM* as per the Thai story are a far cry from their originals in Vālmīki. They are essentially Thai figures transplanted on the Indian soil with all the oddities inherent

---

(ख) महीपाल देवासुरः–
समालोक्य वीरं कपिं सम्मुखे स तृणायैव तं मन्यमानो बभाषे।
अपेह्याश्वितो नैव वाञ्छामि युद्धं त्वया दर्शितं हन्त! कापेयमत्र।।
हनुमान्–
कपित्वान्न मे वीर्यहानिर्भवेद्वा सुरत्वादथो तेऽस्तु भो! वीर्यवृद्धिः।
परीक्षा नियुद्धे भवेदावयोर्द्राक् न कस्यापि वीर्यं परीक्ष्यं गिरैव।। *RKM*, XVIII. 21, 26

1. पुत्रो मृतस्तरुतले निहितस्तदासीद्
यत्र द्विजः समुपविश्य स भोज्यमाशीत्।
सर्वैस्ततः समुदितैर्मुदितैश्च तस्य
काष्ठान्युपाधिषत तत्र तनौ मृतस्य।। *BSC*, XII. 36

in the situation. They are divested of much of their idealism and greatness. Like lesser mortals they suffer from a number of infirmities. Rāma is reduced to a heartless, scheming hero, not always sure of himself. Hanumān doubtless emerges as the most colourful figure, but gone are his sheen and celibacy. He is a dandy, out to make love with any girl that comes his way. Even within the narrow limits Guru Gobind Singh rises as a dynamic personage adorable as much for his moral equipment as for his temporal attainments. He is by far the most vibrant Dhīrodātta hero, evolved by the author. The subordinate characters also engage attention. Some of them like Hanumān overshadow even the dominant characters.

While the expression of the majority of contemporary poets is progressively coming under the influence of the vernaculars, Dr. Shastri is one of the few poets whose language retains classical chastity and uncommon lucidity. He is well attuned to the genius of the Sanskrit speech. His language is distinguished by sweetness, flow and purity. To him, chastity of the language is not synonymous with mere grammatical correctness. It is the idiomatically vibrant expression, sanctioned by the *śiṣṭas*, that makes it an unblemished medium. And this is what the author has espoused in all his writings including the matter of fact documents like letters that are in fact studded with some of the choicest expressions which may well be the envy of the ancient masters.

According to Dr. Shastri poetry, in essence, is a charming expression, distinct from the beaten track, Vakrokti, as Bhāmaha puts it (*uktiviśeṣaḥ kāvyaṁ bhāṣā yā bhavati sā bhavatu*). It should be couched in a forceful language that imparts it grace and vigour. It should be additionally invested with profundity of meaning and embellished with a variety of *alaṁkāras.*[1] Lucid expression lends poetry added charm (*prasannapadākṣaram*, L. 20.1).

Lucidity, however, is not to be confused with shallowness (*gambhīrabhāvā* ca *na cāprasādā*, Prakīrṇapadyāni, 9.5). Strengthened by suggestive import and charming expression (*arthyaṁ ca hṛdyaṁ ca vacaḥ, RKM*, X1.27), poetry assumes winsome grace and evokes wide acceptance

1. ओजस्विन्या गिरा बद्धमूर्जस्वि रुचिरं तथा।
अर्थगौरवयुक्तं चाप्यलंकारैरलङ्कृतम्।। *PK*, I, p. 20

(*kāvyaṁ sahṛdayair uktaṁ hāri sugrāhyam eva ca*, L.12.13). The *śubhaguṇa* that the author has espoused is undoubtedly *prasāda*, the perspicuity. It is to Dr. Shastri's credit that he has invariably lived up to the high standards willingly set by him.

Alliteration forms the bedrock of the loveliness and liveliness that his language profusely exudes. The judicious use of Anuprāsa has enabled him to spin out spectacularly attractive phraseology that is addedly enlivened by lucidity. The poet is always alive, more so in the *BSC*, to the sound effect of his language. Even its consciously chiselled phraseology is not shorn of grace. It neither impairs its naturalness nor does it retard its smooth movement. The lucidity that is natural to the poet's muse has bloomed into full in the *RKM*. The lucidity of language combined with rhythmic sweetness and elegant flow has resulted in the emergence of the strings of *padalālitya* that is as refreshing as it is gripping :

(क) सपद्येव त्वयामात्य! पद्यान्याद्य प्रपद्यताम्। *BSC*, III.31

(ख) इति स्पष्टमाख्येयमार्ये! निवार्ये विचार्ये च कार्ये भवेन्नैव दोषः। *BSC*, V.12

(ग) सर्वेत्र सम्भूय सुखं वसन्तु प्रियं वदन्तु प्रियमाचरन्तु। *IC*, p. 3

(घ) अविगीतनिपीतसुनीतिसुधः। *PK*, I, p. 178

(ङ) प्रचामपाचां विदुषां सुवाचा (माचामकः) *PK*, I, p. 178

In order to impart vibrance and dramatic overtones to the expression the author has resorted to the novel method of conducting parts of the narrative in a conversational style. The device has been exploited with more alacrity in the *RKM*. The dialogues conducted between the respective characters not only enliven the poem, they addedly advance the narrative with a swiftness which otherwise might have been denied to it. It has also forcefully brought into focus some of the vital aspects of the story (*RKM*, IX.48-51). Hanumān's intimate conversation with Suvarṇamatsyā in the deep ocean emerges as the most vital and effective wordy engagement conducted by the author in any of his works (*RKM*, X11.20-21, 25-30, 32). Most touching, however, is the conversation in Canto Nine of the *BSC*.

The author's anxiety to spruce up his expression has led him to incorporate in his poem and letters alike such of the choice phrases and clauses or the ideas represented by them as suited the various situations

and contexts. There is nothing surprising about it as the parallel expressions of the ancient masters automatically suggest themselves to a modern writer. But Dr. Shastri has been a wee over-enthusiastic in borrowing such excerpts. These owe themselves to the Upaniṣads, the *Bhagavadgītā*, the two epics and the classical authors. The borrowals, whether direct or indirect however, melt into his writings; they rather add lustre to his expression like the gems to the well-fashioned ornament.

While the poet in Dr. Shastri has the upper hand, the grammarian in him has not failed to assert himself in his writings. This he did rather with a vengeance. That alone can account for the recondite grammatical forms that dot his poems. These, alongwith conversations and borrowals, seem to have settled down as a motif with him. The tendency seems to have assumed greater proportions in the *BSC* which is virtually overflowing with grammatical complexities. Even his shorter works have received a wide sprinkling of these expressions. While the intricate forms pertain to almost all sections of Sanskrit grammar, the author has insuperable fascination for the aorist in all its hues. In the *RKM* he has gone to the extent of weaving in his expression technical grammatical terms like *prayojako hetuḥ* (X.50) *karmavyatihāra* (X1.14), Kṛt and Taddhitavṛtti (तदर्थकृत् तद्धितवृत्तिरासीत् X111.6), though in their literal sense. He did not hesitate in illustrating the formation of the word Jīvaka by two sūtras of Pāṇini (आशिषि च, III.1.150; कुत्सिते, V.3.75) that lend it the diametrically opposite connotations. Some of the recondite forms that owe themselves to special rules of grammar may he noted here to underscore the author's formidable equipment in grammar: सौहृदय्यम् (*BSC*, III.19), कुमारश्रमणः (V1.3) दुःखासिका (V1.15), पूनम् (IX. 40), कडंगर्यः: (XIII.42), अमृत (मृतोऽभूत्) (XIV 13), अकपूयः (XIII.98). Such forms as were seldom employed elsewhere have also been used in the *BSC*: समयाकुर्यात् (III.13), आसन्नसाहस्राः (III.68), रोरूयांचक्रे (IV.22), आर्थि (VIII.98), शोशुभति (X.22), अवास्थिष्वहि (XI.36), मा तमः (XIV.6).

The versified letters, as remarked earlier, are a class by themselves. Those written from Bangkok and the *Thāideśavilāsam* carry lovely sketches of the scenic beauties, beaches, festivals, temples, monasteries, floating markets, crocodile farms of the country, and thereby invest Sanskrit poetry with some lovely contours. They are not wanting in Rasa ether.

The posse of letters is thus armed with practically all that entitles a writing to the status of *kāvya*

Dr. Shastri has been chary of exploiting the *alaṁkāras* beyond a point. He has used them for the purpose for which they are primarily intended, to lend clarity and vigour to the expression. Alliteration is doubtless his *forte*. The adroitness with which he has handled Anuprāsa seems to have exhausted its utmost possibilities.[1] Its zenith is reached in its most winsome variety, the Antyānuprāsa.[2] Next to Anuprāsa, it is Yamaka[3] that catches the eye. Of the Arthālaṅkāras it is the Arthāntaranyāsa[4] that

---

1. (i) त्वमच्छ गच्छेह यथेच्छमग्रे। *BSC*, I. 29
   (ii) दष्ट्वाभिजातां कनकावदाताम्। *BSC*, VII. 16
   (iii) देशे मानं परमुपगते मानवा मानभाजः। *IC*, *XXV*. 88
   (iv) स्वेदाम्बुजालजटितालकजालकाली ।।
   (v) हृद्यानवद्याखिलविद्यमानविद्याभिविद्योतितमानसानाम्। *PK* I, p. 6
   (vi) रामनामकजनं परिचर्य नांशतोपि फलमस्त्यृषिवर्य। *RKM* XVII. 14
   (vii) तेन मान्यवर विप्रकतोस्मि धिक्कृतोस्मि बहुचापकृतोस्मि न क्षणं क्षणमपि प्रतिपन्नस्त्वां शरण्यमहमस्म्युपपन्नः।। RKM, XVII.15
2. (i) सौदामनीवाश्रितचन्द्रशाला लावण्यवत्युत्पलिनीव बाला।
   प्रसन्नपूर्णेन्दुमतीव राका समुज्जवलद्दीपशिखेव सा का।। *BSC*, VIII. 50
   (ii) नहि मम परकीये स्वापतेयेऽभिलाषः
   फलति बहुललोभात् सर्वथेह प्रणाशः।
   मनसि मम सदा स्ते 'मा गृधो' वाक्प्रकाशः
   किमु निबिडतमःस्थः स्यामहं प्राप्तपाशः।। *BSC*, XIII. 96
3. (i) रुचिरा रुचिरारचिता न चिरात्।। *BSC*, IX. 56, *PV*, p. 13
   (ii) समुदितो मुदितो निखिलैर्गुणैः
   सुरहितो रहितोऽखिलकल्मषैः।
   अविकलं विकलंकमथोज्ज्वलं
   रसमयं समयं गमयन्नभात्।। *IC*, I. 89
   (iii) रामैकवृत्तं तदनेकवृत्तं श्रोत्रैकपात्रं तदनेकपात्रम्।
   लंकानलंकारमलंकृतं सत् सदा सदानन्दकरं भवेनु।। *PK*, I, p. 13
   The verse is also a fine example of Virodhābhāsa.
   (iv) समुदितो मुदितो निजबन्धुभिः
   कविकृतीरवलोक्य कृती भवन्।
   रसमयं समयं गमयन् भवत्-
   सुहृदहं हृदहङ्कृतिवर्जितः।। *PK* II, p. 26
4. नृपस्तु शुद्धान्तगतोऽपि रागादासीदशुद्धान्तर एव हन्त।
   वृद्धिं गते रागमलानुषंगे बुद्धेर्विशुद्धेर्हि कुतः प्रसंगः।। *BSC*, VIII. 100

attracts him the most. Enforced by Dṛṣṭānta, it unfolds itself in a wealth of *subhāṣitas* that dot his poems[1]. Upamā, which had been rather subdued in the earlier poems, emerges in glory in the *RKM* as its dominant *alaṁkāra*. The Atiśayokti, particularly the variety wherein the *prastuta* is absorbed by the *aprastuta*, has also been employed with skill. The other figures of speech like Yamaka, Utprekṣā Virodhābhāsa, Aprastuta-praśaṁsā, Viśeṣokti, Apahnuti, Sahokti also contribute their mite in enriching the expression.

Similar skill is witnessed in handling the metre, which uniformly accords with the norms. He is equally at home in using a broad spectrum of metres, from the tiny Anuṣṭup to the mighty Śārdūlavikrīḍita. He has pronounced predilection for the medium-sized metres. With its vast potential, Upajāti has been employed most extensively to voice a plethora of subjects. Against 15 in *BSC* and *RKM*, the *Indirāgāndhīcaritam* has claimed twenty two metres.

With his innate poetic genius, manifold innovations, firm hold on the Sanskrit speech backed by profound equipment in grammar, Dr. Satya Vrat Shastri has lent new ramifications to the contemporary Sanskrit poetry. He has a clear vision of what makes poetry worth its while. He stands far above the majority of his contemporaries, unmatched in many a respect.

The Prose Writer

I

The practice of recording momentous events of one's daily life which subsequently came to be designated as 'diary-writing', had its genesis in Europe. The upper strata of the society in England and France drafted the slaves to write down the happenings of their day-to-day colourful life and to maintain an account of their daily earning and expenditure. The practice gradually settled down as a form of writing and acquired literary overtones by the seventeenth century. Sir William Dugdel, Samuel Pepis and George Fox have been some of the outstanding diary-writers in England. The palm however, lies with John Min who is

1. A Collection of them was published under the title *Sūkti-sudhā* by Pravin Pralayankar, Parvati Publications, Muzaffarpur, 2003

credited to have written his daily diary for seventy five long years with amazing regularity. The diary-writing in India owes itself to the practice of maintaining *roznamcha* which had gained wide currency in the Mughal period.

While the Indian vernaculars have been resilient in adopting the diary-writing as a literary form of sorts, Sanskrit has been mysteriously impervious to this fascinating art, its alacrity to imbibe several of the foreign literary *genré* and capacity to voice the minutest contours of thought in accordant phraseology notwithstanding. True to his flair for innovation that unfolds itself in a variety of ways, Dr. Satya Vrat Shastri, the acknowledged Bhīṣma pitāmaha of the present day Sanskrit world, took it upon himself to remove this 'stigma' from the divine speech which forms the very essence of his being. His *Dine Dine Yāti Madīyajīvitam*[1] purports to be the first diary ever written in Sanskrit and has thus the proud distinction of introducing a new *genré* to the Sanskrit literature, which, though otherwise amazingly rich, had been deficient in this interesting discipline. The diary covers a period of a wee less than one and half year. The author has not been strictly punctual in recording the day-to-day occurrences. On his own admission, there have been gaps of days and weeks in between, though the events of the intervening period were recorded subsequently.

The *Dine Dine* is not a stale catalogue of the bland happenings of the author's day-to-day life. He has admitted in it such events as evoke wider interest and have a bearing on literary, cultural and social issues that concern the cultured reader and enlighten him with a wealth of information. Coming as it does from the pen of an outstanding poet, it imparts him aesthetic pleasure as well. Though concerned with a brief period, the way it has been written, the diary unerringly reflects the author's wide erudition, fascinating dynamism, worldly wisdom and the unstinted reverence he commands across the social, political and administrative spectrum in the country and abroad besides the plethora of Awards and Honours that have been rained on him the world over. The respective entries in the diary though primarily intended to record his inter-actions with men and matters, are so ingeniously framed that a

1. Vijaya Books, Delhi , First Edition, 2011

large number of them come out as self-contained pieces dealing with a slew of literary and social issues. That is perhaps why some of them run into five or seven pages. The entry on pp. 19-22 (26.1.06), thus, emerges as a perceptive critique on Kishor Kunal's catchy book *Dalitadevo bhava*, which serves to establish on valid grounds that the Śūdras, contrary to the erroneous notion, held a respectable and dignified place in society. The tantalizing account of the potential hazards and pitfalls of the old age, drawn with a measure of apprehension, on pages 54-55, sends a shudder down to one's spine. The pen-picture of the famous Punjabi festival Lohari, as attempted on pages 121-125, with the winsome Sanskrit rendering of the Punjabi song sung on the occasion is heart-warming, and affords a peep in the joyful nature of the author. The delightful narration of the Hungarian scholar Jozsef Vekerfi's devotion to Sanskrit and of the chilling circumstances under which he translated the Vālmīki-*Rāmāyaṇa* into the Hungarian language, over a period of time, in the factory-premises while working as a supervisor there, evokes instant esteem (pp. 244-245). It is, however, the entry made on 28.3.2007 (pp. 202-207) that purports to be the best literary piece in the diary. It turns focus on some of the interesting innovative tendencies that mark the Sanskrit literature, though some of them overshoot the appellation.

Besides these, quite a few of other write-ups in the diary engage attention. The resume of Dr. Karan Singh's speech on pages *98-99* emerges in essence as a perceptive critique on the philosophy of the Upaniṣads. The brief analysis is enlivened by the grace of his limpid thinking. The entry under 4.1.2007 (pp. 108-109) presents a brief history of the beginning of the Punjab University at Lahore in 1882. The renowned Sanskrit scholars Woolner and Meynard find a respectful mention here. The profile of the Aghorasiddha Prabhati Nath, drawn on pages 136-137, is astounding.

But for the sensitive and confidential matters, all the events occurring in the aforesaid period, have been recorded in the diary with admirable candour, without any attempt to camouflage even the unpleasant happenings. The way he has poured scorn in tender but incisive phraseology on the arrogance of a person, एवं धर्मकञ्चुक-प्रवेशिन एतादृशा वाक्कौशलेन जनान्मोहयन्तो नार्यं व्यवहरन्ति सरस्वतीसमुपासनमात्ररुचिषु शास्त्रैकचक्षुष्केषु विद्वत्सु।-नेमे स्वकीयामायतिं चिन्तयन्ति।-सर्वशक्तिमय्या भगवत्या नियत्या महतामपि गर्वः

खर्वीकृत:। तत्र के खल्वेते कृपणा: (p. 24), and denounced his wife's outburst against him (तस्या अनेन व्यवहारेण मनसि महान् मे क्लेशोऽजनिष्ट। बहुशो साऽसम्बद्धं प्रलपति (p. 62) speaks volumes of his moral courage and intellectual honesty. This is what makes a diary a trustworthy document, a true replica of the author.

Being a composition of a gifted poet and scholar the *Dine dine*, though apparently a 'diary', has the credentials of a *gadya-kāvya* Far from being a compendium of bald happenings, it is dotted with a series of descriptions of diverse phenomena and issues of different hues that combine to lend it the genius of a literary piece. The chaste and well-chiselled phraseology that it has claimed has a classical ring about it. The language is marked by winsome lucidity, elegance and flow, which, not unoften, result in the emergence of *pada-lālitya*.

तच्छ्रुत्वा मुषितमिव लुण्ठितमिवापहस्तिततसर्वामोदमिवात्मानमन्वभूवम्। अहो सुखप्रत्यर्थिता दैवस्य। यावदेव चिन्तयामि तीर्णो मया बहुकालप्रतीक्षोर्मिमालाकुल: प्रलम्बमानशिरोग्रीव-कार्यार्थिसार्थोद्वेगवेगो लिपिकादिचटुलशफरोद्वर्तनव्याकुल: प्राड्विवाकमकरसङ्कुलो दुस्तरोऽधिकरणार्णवस् तावदपरमधिकरणं कुतोप्युदियत्पश्यामि। कुतो मे निर्वृति:। (p. 241)

True to his wont, the author has admitted in the *Dine dine* a good number of choice expressions/excerpts from the ancient masters, which far from impeding the smooth flow of the language, impart it additional lustre like gems set in an ornament. They have been drawn from a vast range of ancient works, and are notable for their aptness. Some of the more interesting ones merit reproduction here:

i. क्षणश: कणशश्चैव विद्यामर्थं च चिन्तयेत्। p. 38

ii. दूरे ह्यध्वा जगुरि: पराचै:। p. 74

iii. शतं विहाय भोक्तव्यं सहस्रं स्नानमाचरेत्। p. 125

iv. अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति सत्यं महाराज बद्धोस्म्यर्थेन कौरवै:।। p. 128 (महाभारते)

v. बालादपि हितं ग्राह्यं नरेण हितमिच्छता। p. 134

vi. दोषो ह्यविद्यमानो पि तच्चित्तानां प्रकाशते। p. 174 (काव्यादर्शे)

vii. मुनेरपि वनस्थस्य स्वानि कर्माणि कुर्वत:।
सञ्जायन्ते त्रय: पक्षा मित्रोदासीनशत्रव:।। p. 244

Not unlike the author's other writings, the *Dine dine* too has received

a heavy·sprinkling of recondite grammatical forms. It is the grammarian in him that asserts himself with a vengeance in these complexities. However, they do not in any way hamper the flow of his racy prose, nor do they seem to have been thrown in to parade his pedantry. But for a few heavy expressions, most of the learned forms harmonize with his easy-flowing style. And he has happily explained and traced the formation of the more intricate of them with quotes of Pāṇini's aphorisms. However, some of them owe themselves to special rules of grammar.

प्रार्तथिषि (P. 17), अचेखिद्यिषि (p. 33), सम्बन्धप्रत्यपि (p. 64), उपाजेकृत्य (p. 73), कण्वचिकीर्षा (p. 125), पर्यष्वजिषि (p. 146), प्राध्वंकृत्वा (p. 156), चेलक्नोपं (p. 179), आसन्द्युत्थायं (p. 194), अजिज्ञासिषि (p. 214), अमृत (p. 255), are some of the forms that do not submit themselves to easy resolution or interpretation.

The *Dine dine* comes as a whiff of fresh air in a literature that is still dominated by traditional themes and forms. Besides its literary worth, it has the merit of initiating a new genré in Sanskrit. And that is no small achievement.

II

Bhavitavyānāṁ Dvārāṇi Bhavanti Sarvatra

Prof. Winternitz's observation that all that the word literature denotes in its widest ramifications exists in Sanskrit, has held the ground for long. With intimate interaction with European literatures, there, however, crept in such literary forms as were unknown to India thithertofore. While the vernaculars were quick to imbibe the new genrés with gusto, Sanskrit has been uncharacteristically impervious to them. That accounts for the queer phenomenon that with all its richness Sanskrit still suffers from a nagging lack/paucity of such literary forms as travelogue, diary–writing, satire, autobiography etc.

With his innate penchant for innovation, Dr. Satya Vrat Shastri, the unquestioned patriarch of the contemporary Sanskrit world took it upon himself to plug the irritating lacunae. While his *Śarmaṇyadeśaḥ Sutarāṁ vibhātti*, *Caran Vai Madhu Vindati* and *Hungary: Kitani dur Kitani pas* serve to enrich the burgeoning literature on travelogue in Sanskrit, the *Dine dine Yāti madīyajīvitam* means to be the first diary ever written in Sanskrit. The credit for introducing autobiography to the Sanskrit literature also rests with him. With his chequered career, phenomenal equipment,

stupendous literary output, staggering achievements, numberless awards and the enviable reverence that he has evoked in the country and abroad as a result thereof, it would have been surprising had he not unfolded it all in the popular literary form, the autobiography, which has now captured the imagination of every writer of note. His *Bhavitavyānāṁ dvārāṇi Bhavanti Sarvatra* (*BDBS*) has indeed the distinction of being the first full–fledged autobiography in Sanskrit and thereby seeks to efface the stigma that Sanskrit had none of it. It forms the first part of the Ātmakathā that promises to run in three volumes, covering well over one thousand pages.

The *BDBS* spans a period of fifty five years of the author's eventful life. Form modest beginning to the present acme of glory through a hectic and rewarding career that took him to almost every nook and corner of the world and yielded all that one can aspire for in life—name, fame, power, pelf, unstinted esteem and honour giving a sense of fulfillment (*pūrṇaḥ pūrṇo'ham*) which could be the envy of any person under the sun – it has been a fascinating journey. It is this kaleidoscopic story that is related in an equally kaleidoscopic medium in the volume with inimitable gusto. Interestingly the country and the alien lands have vied with each other to fashion him into a colossus and rain on him what few can dream of.

The *BDBS* is not a stale dossier of the banal vicissitudes of life. An array of lively happenins, issues, literary exchanges, human excellences and infirmities, gory sights, natural bounties, touching memoires, all having a bearing on the author's life, combine to invest it with uncommon charm. Read between the lines they make one a saner individual, equipped to come to grips with the ups and downs in life. Some of the happenings described in the volume represent landmarks in his life. While his participation in the World Sanskrit Conference at Torino (Italy) where he presented his comprehensive dissertation on Sanskrit synonyms established him as an international scholar, the visit to Berlin in the course of a lecture–spree across many a country served as a springboard to facilitate his rise to giddy heights.

A substantial part of the Volume, spanning as many as sixty one pages, seeks to set forth with warmth his abiding association with Thailand, and addedly affords a peep into his literary exertions there

which resulted in a number of monographs on the culture and history of the country besides the delectable poem, the *Rāmakīrtimahākāvya*. His assignments in the Tübingen University and the Leuven Catholic University (Belgium) are also described at length with fascinating details. The lively profile of the author's father which brings into bold relief his matchless equipment in Sanskrit Grammar and the sterling virtues of his head and heart form an apt finale to the volume.

Being a composition of a gifted poet and scholar, the *BDBS*, though evidently an autobiography, has the credentials of a *gadya–kāvya*, and reads like a novel with the panorama of its fascinating contents. The racy phraseology that it has claimed is well attuned to the spectrum of the phenomena that abound the tome. True to his wont the author has admitted in the *BDBS* a number of choice expressions from the ancient masters, which lend it an added lustre. Though a down-to-earth document, it has received a substantial sprinkling of recondite grammatical forms which, though resolved in the Footnotes, occasionally sound harsh. The diaphanous medium is rich enough to voice the genius of the whole gamut of the diverse contents. Be it the holocaust of the partition, or Mehrotra's tantrums tampered with nobility, Mahendra Chaturvedi's wickedness, the Anarkali bazaar of Lahore, Veṇī Shankara's profile, Haripal Singh's colourful life, proceedings of the learned assemblies, P.H.L. Eggarmont's harrowing experiences in a concentration camp during the second world war, interactions with men of learing, drama–festival–all these are so imaginatively drawn in accordant phraseology that they come to vibrate with life. The excerpt that follows would suffice to give the feel of the lucidity of the author's prose.

लक्षशो हिन्दवः शिष्याश्च विहाय स्वान् गृहान् स्वांश्च स्वं च भारतमभिप्रस्थिता मध्येमार्गं केचिद् विधर्मिभिर्हताः केचनाशनायोदन्याभ्यां पीडिता उपरताः, केचन च बलादिस्लामधर्मं ग्राहिताः। केचन पुनः स्वधर्मरक्षापरायणाः सोढ्वापि कषृपरम्परां शरणाय भारतममिप्रपत्राः।

केषुचिन्नगरेषु कन्यका निर्वस्त्रीकृता मार्गेषु रथ्यासु चानीताः।........को वानर्थो न तदानीं कृतोऽकृतात्मभिः को वा नोपद्रवः समाचरितः। p. 22-23

"The *BDBS* is well produced and is happily free from printing howlers. Dr. Shastri deserves congratulations for initiating a new literary form in the Sanskrit literature.

III

Bhavitavyānāṁ Dvārāṇi Bhavanti Sarvatra Volume II

Volume Two of the *Bhavitavyānāṁ dvārāṇi bhavanti sarvatra* (*BDBS* II) bears eloquent testimony, if any was needed, to the author's eagerness to complete the series into which the autobiography is likely to run at the earliest, his advanced age notwithstanding. The *BDBS* II, in fact, represents an extension of the preceding volume. Though not formally classified as such, the Volume, in view of their cohesion, though tenuous, may well be divided in sex segments of uneven girth. An assortment of diverse events and incidents, Unit One (P.11-46) is dominated by the author's anxiety about his frail health and the ailments that beset him, which tends to reverberate in the Volume at places more than one. It opens on a sombre note but is happily interspersed with such notable happenings as his interaction with Maharshi Mahesh Yogi, who overwhelmed by his sound equipment, invited him to head his University in America, his resolve to complete the long–held work on the Rāma–story in Southeast Asia and his visit to Pennsylvania to attend the World Sanskrit Conference which climaxed in a warm relationship with his hosts. Unit Two, spilling over as many as seventy five pages (47–112), purports, in all essentials to be an auto critique on his writings of all hues. In view of the fact that they have already been subjected to a sustained evaluation by a band of researchers including some competent critics, the exercise may seem to be somewhat untenable, but it serves to bring into bold relief the author's perception of the significance of his respective writings. The appraisal, however, tends to be rather prolix. Though perceptive and interesting in itself, the lengthy critique on the Sanskrit inscriptions of Thailand seems to be tenuously glued to the down-to-earth documents.

Because of his intimate association with Thailand distinguished by a plethora of hectic literary and social activities, Unit Three (P.122–164) is concerned, for the most, with the princess of the country, who has been singularly fortunate in having being trained in Sanskrit by Dr. Shastri. What was the formal Guru–Śiṣya relation flowered, over the years into abiding personal equation, with each entertaining deep affection and high regards for the other. It is a measure of her reverence for her Guru that she specially visited Delhi to release his *Discovery of Sanskrit Treasures* and to confer on him the prestigious Jñānapītha Award. Her visit to

India in 1986, with the author as a member of her delegation, at the

invitation of the Indian Government, which took her to almost all parts of the country, including the Buddhistic centres of pilgrimage, is described at length with a measure of warmth.

The Fourth Unit (P.165–182) is primarily focused on what some of the European stalwarts have done for the discovery and interpretation of the ancient wisdom of India. Grierson's Linguistic Survey in 19 volumes comprised of 18000 pages would sweep any professional academic off his feet. To be sure Grierson was a civil servant, Commissioner of Bihar, in the British days. Meynard of the Oriental College, Lahore was an embodiment of the ancient śāstric learning, acting, not unoften, a mentor to even the most erudite scholars. Jozeph Vekerdi's saga of agony and undying grit evokes instant esteem. The way he translated the Vālmīki–*Rāmāyaṇa* into the Hungarian language in a chemical factory, while working as a supervisor there, after undergoing inhumlan suffering in a concentration camp during the second world war, is a a testimony to the indomitable human spirit and devotion to learning. Walter Rübin and Ludwik Sternbach had also undergone their share of agony in the world war. Yu long, Head of India Studies in a Chinese University, was well versed in Hindi.

However the account of Charles Wilkin's heroic effort in fashioning a Devanāgarī typewriter as recorded in the volume on S.N. Panditas authority is imprecise. Wilkins had prepared the Devanāgarī type for his press, which (type) was damaged/burnt in the fire that caught his house.

Unit Five (p.183-258), true to its size, is a virtual storehouse of a spectrum of information on a baffling array of subjects. Dr. Shastri has rather spoken with abandon on the various issues in the segment. Beginning with the account of his teaching Sanskrit to Paithun, a functionary in the Thai embassy at Delhi, that prompted him to express himself on several aspects of Sanskrit grammar, the saga of enriching his personal library and collection of Sanskrit journals interspersed with ideas/options of donating it all to a befitting institute, reference to works under-preparation, the story of honours he received from the Sahitya Akademi, among others sit check by jowl to form the segment.

The concluding Unit Six (P.259-322) is enlivened by a series of momentous events which promise to have far-reaching repercussions

for Sanskrit studies in the Country. It begins with the author's first meeting with the HRD minister Sh. Pallam Raju, which so overwhelmed him that the good minister was virtually swept off his feet by the author's profound equipment that incidentally culminated in his appointment as Chairman of the Second Sanskrit Commission, appointed by the Government of India to study in depth the status of Sanskrit studies in the country and to recommend such measures as may be taken to promote the language which represents the heart and soul of India. The segment closes with presenting the Report running into five bulky volumes to the Secretary, Ministry of Human Resource Development.

The fascinating account of the Sanskritists who joined the Administrative services and reached high positions in the set up, is heart–warming indeed. Some of them are so proficient in the intricacies of the language that to them it is as good as their mother tongue. The likes of Mohan Gupta, Tara Datta, Bhagyesh Jha, and Vishnu Vibhu Girimira have indeed done Sanskrit proud.

The knotty issue whether Sanskrit was a spoken language, has also been briefly discussed in the segment. Needless to say, such pieces have lent winsome colour and grace to the fascinating narrative in the volume.

Far from being an insipid almanac of trite happenings of the routine life, the *BDBS* II, with its canvas adorned with strings of winsome designs of diverse character spread across the better part of the world, has the trappings of a literary composition which may well be called a *caritakāvya* in the parlance of the ancients, and a prose poem according to the parameters of the later critics. Rather with the shifting phenomena of its delightful contents, it not unoften, reads like a novel. The staggering variety of its contents imparts it an aura of a fast moving film scroll. Strictly speaking, the Volume spans a period of thirty six years of the author's life up to 2016, but in view of the fact that it has been so hectic and multi–track, an endless spectrum seems to have broken upon the *BDBS* II. Intimate family meetings distinguished by fond memories of the past, heart–warming exchanges with people from all walks of life, profound literary sprees yielding rich dividends, painful sagas of human vile, profound thoughts on an array of literary issues facilitating their fruitful resolution and elucidation, fond memory of the stalwarts who have been instrumental in discovering and interpreting the ancient wisdom of the land, embodied in the divine language, unstinted esteem

evoked across the globe– all these and much more rub shoulders together in the Volume to lend it fascinating overtones. Some of the happenings recorded in the Volume, on close analysis, seem to have been turning points in the author's life. His chance meeting with Pallam Raju, the HRD Minister, and the note prepared by him on Sanskrit studies in china combined to mark the beginning of a relationship which culminated in his appointment as Chairman of the Second Sanskrit Commission, establishing him firmly as the unquestioned patriarch of Sanskrit across the world.

In the midst of the diversity of contents, there however, reigns a pleasing unity which serves to string them in a cohesive entity. That accounts for the uniform lucidity of language that permeates the warp and woof of the Volume. It is to the credit of the author that the diaphanous expression is resilient enough to voice the spectrum of bewildering phenomena, whatever their tenor and hue. The lucid medium, not unoften, is enlivened by pleasing Alliteration and the resultant *padalālitya*. The excerpts that follow would bear it out beyond a shred of doubt.

(i) अहो! सौजन्यमेतेषाम्, अहो गुणगृह्यता, अहो दिव्यं चक्षुः येन पात्रमहं सत्कारस्येति दृष्टोऽस्मि।.... तैः समागमोऽन्तरङ्गचर्चा च मत्कृते क्षण इवासीत् यस्य स्मृतिरद्यापि मे रोमाञ्चं जनयति, मन्मन उद्वेल्लयति, मुदश्च परां कोटिं मामधिरोहयति।... मन्त्रिमहोदयानां कक्षान्निष्क्रान्तोऽहं प्रक्षालित उव, उन्मीलित इव, उद्भासित इव प्रीतहृदयः स्वगृहमागमम्। p.261

(ii) अविराम एव मम जीवने विरामः, श्रम एव विश्रमः, शरीरक्लेश एव सुखलेशः, अमन्दोऽभियोग एव योगः ग्रन्थादिनिबन्धनमेव बन्धनम्, काव्यक्रियैव सत्क्रिया, विद्वच्चर्चैवार्च्चा, सतामाशीराशय एव रत्नराशयः, लौकिकचिन्तामोक्ष एव मोक्षः। p. 322

The perspicuous phraseology is, however, occasionally weighed down by the strings of highly intricate grammatical forms that the grammarian in the author has inducted in the body of the Volume with a measure of tenacity. Mercifully, they have been resolved in the Footnotes. But forms like व्यस्मापयिष्ट (P.28), प्रण्यगादिषं (P.136), प्रार्तथे (P.147), अभान्त्सीत् (P.152), अध्यापिपम् (P.192) sound jarring, and the likes of याहि याहीति यान् (P.29) शिवभागवः (P.146), संविद्रते (P.166), साधनप्रति (P.278) and आशितम्भवानि (P.285) would be the despair of the *vaiyākaraṇabruvas*.

Like the author's other writings the *BDBS* II is dotted with a number

of relevant expressions from the ancient texts or refers to the earlier masters to bolster his contentions, conclusions or propositions. Far from being a drag on the expression or hindering its flow, they mix well with the text and, not unoften, heighten its grace. The excerpts reproduced below would bear it out beyond doubt.

(i) पठन् द्विजो वागृषभत्वमीयात्। *Rāmāyaṇa* [P.52]

(ii) संग्रह एतत्प्राधान्येन परीक्षितम् नित्यो वा स्यात्कार्यो वेति। *Mahābhāṣya* [P.68]

(iii) स (महाभाष्यग्रन्थः) एष दाक्षिणात्येषु ग्रन्थमात्रे व्यवस्थितः।

Vākyapadīya, 478 [P.69]x

(iv) कुपात्रेषु तथा दत्तं दानं कुफलदं भवेत्। *Padmapurāṇa*, 3.71

(v) आत्मनो वै कामाय सर्वः प्रियो भवति। बृहदारण्यकोपनिषद् [P.15]

(vi) यदध्यासितमर्हद्भिस्तद्धि तीर्थं प्रचक्षते। कुमारसम्भव, VI.56

(vii) गुण्य गुण्य इति व्यजीगणत्। शिशुपालवध, XIV.17 [P.53]

(viii) शिष्यप्रकर्षो यशसे गुरूणाम्। महाभारत

(ix) लौकिकानां हि साधूनामर्थं वागनुवर्तते।
ऋषीणां पुनराद्यानां वाचमर्थो ऽनुधावति।। उत्तररामचरित

(x) पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि जलमन्नं सुभाषितम्।
मूढैः पाषाणखण्डेषु रत्नसंज्ञा विधीयते।। सुभाषित

The Volume is notable for a new phenomenon as well. Since it deals with a number of concepts and things that are essentially alien to Sanskrit and for which no appropriate words exist in the language, the author has ventured to coin an array of new words to express them as closely as it was possible to do in the situation. They make a sizable bunch. Some of them call attention.

प्रैषणी- Post office (p. 13), चरकाचार्य- Visiting Professor, ध्वनिमुद्रिका- Recording, प्रवेशानुमतिः- Visa, प्रलम्बकंचुकम्- Overcoat, वज्रचूर्णम्- Cement, सूचिवेध- Injection, सिक्थवर्तिका- Candle, खडिका- Chalk, प्रोच्छनम्- Duster, चित्रयन्त्रं- Camera, विवरणपत्रिका- Budget, रथस्थितिः- Traffic jam, उत्तापनम्- Fomentation.

Of these Praiṣaṇī and Rathasthitiḥ are Sanskrit adaptations of their Thai counterparts. The exercise is actuated by a keenness to make the expression effective and precise.

The vibrant medium marked by winsome transparency and the fascinating contents combine to lend the *BDBS* II an uncommon charm.

The Critic

Variously described as a living legend and a unique phenomenon, Dr. Satya Vrat Shastri represents in essence a blend of fascinating contradictions. With his father striving hard to fashion him into a replica of himself, he was basically trained as a grammarian steeped in the Pāṇinian system, but flowered into an outstanding poet of the contemporary era. And debunking the oft-repeated charge that the poets do not make good critics, he emerged, over the years, as a critic of eminence. Dr. Shastri is as gifted a poet as distinguished he is as a critic spanning in his mighty sweep the vast domain of literature, both sacred and profane. It is because of this rare combination of *Śakti* and *Vyutpatti*, the creative and critical faculties, that he towers far above his contemporaries, strutting on the literary stage like an acknowledged colossus. Not unlike his *Śakti* which unfolds itself in many a literary form, his *Vyutpatti* too has umpteen ramifications that assert themselves with a vengeance in the spectrum of his critical writings. Grammar and Linguistics doubtless form his *forte*, but he has equally deep insights in such diverse disciplines as poetics, philosophy, culture and the great classical literature of Sanskrit including the Epics and the Purāṇas. His 'Discovery of Sanskrit Treasures' in seven volumes, which, true to its name, has unravelled the literary treasure enshrined in the ancient Sanskrit literature, bears it out beyond a shred of doubt. His sustained investigations into Kālidāsa, epitomised in *Kālidāsa in Modern Sanskrit Literature* and *New Experiments in Kālidāsa*, have opened up new vistas in the study of the master poet. While the former purports to be a perceptive appraisal of the personality of Kālidāsa, as drawn by the contemporary playwrights in their writings of diverse hues, the *New Experiments in Kālidāsa* represents a *tour de force* in bringing into relief the gamut of plays based on Kālidāsa's works and some of the vibrant episodes depicted therein with perceptible warmth. The language and culture of the countries of South East Asia have also claimed his attention. *Studies in Sanskrit and Indian Culture in Thailand*, and *Thaideśa Ke Brāhmaṇa* combine to provide a fascinating account of the powerful influence that the Indian culture and its repository the Sanskrit language, have exercised

on the cultural and social fabric of Thailand. *Sanskrit Studies: New Perspectives*, being an anthology of the author's key-note addresses, tends to lend a new orientation to critical Sanskrit writing. In view of their formidable volume, it is hardly possible to subject the whole gamut of Dr. Shastri's critical writings to a full-fledged evaluation in the body of a single paper. The present critique is, therefore, restricted to an indepth appraisal of his writings on Grammaı and Linguistics embodied in *The Rāmāyaṇa : A Linguistic Study*, and the corpus of papers on the *Yogavāsiṣṭha*, similarly addressed to highlight its linguistic peculiarities.

I

The Rāmāyaṇa : A Linguistic Study[1] is by far the most perceptive critical work of Dr. Satya Vrat Shastri. As is evident from the title, it purports to be a full-fledged appraisal of the language of Vālmīki's epic in its various aspects. The language of the *Rāmāyaṇa* is marked by an exuberance of peculiarities that perforce call the notice of the grammarian and linguist alike. While on the one hand it adheres to the discipline imposed by Pāṇini, on the other hand it flouts it with impunity. The violation of the Pāṇinian norms at times assumes quaint dimensions in the *Rāmāyaṇa.* While the indigenous commentators washed their hand off these unwholesome forms of the epic language, loosely calling them as *ārṣa*, Michelson dismissed them as 'Archaisms', remnants of the Vedic vocabulary. H. Jacobi went to the length of denouncing Vālmīki's language as a whole as Vulgar Sanskrit.[2] To S.K. Chatterji, it represents Sanskritisation of the Prakrit original.[3] But the un-pāṇinian forms represent only one aspect of the language of the *Rāmāyaṇa.* There is much else in the epic that is noteworthy from the linguistic point of view, and sheds welcome light on the growth of the Sanskrit language and the factors/tendencies that influenced it down the ages.

On careful consideration of the whole gamut of issues thrown up by the diverse views, Dr. Shastri has come to the conclusion that "the language in the time of the *Rāmāyaṇa*...... had not developed that rigidity and fixity which became its characteristic hallmark in later times. In the

1. Munshiram Manoharlal, Delhi, 1964
2. *Das Rāmāyaṇa* (Tr. R.D. Vadekar), P. 112-119
3. *The Rāmāyaṇa : A Linguistic Study*, op. cit, Foreword, XV

time of the epics and the Purāṇas it was flexible enough to still preserve in it a wealth of alternative forms which in the process of standardization was lost. With the passage of time the grip of Pāṇini's grammar grew tighter and tighter on Sanskrit while the earlier multiplicity of forms died out with a few select survivals which conformed to the Pāṇinian norm".[1] In calling Vālmiki's Sanskrit as 'language in the making' Siddheshvar Varma seems to concur with the author. He also discerns in it, a tendency to rapprochement with the language of the masses.[2] It is this lively speech of the *Rāmāyaṇa* that Dr. Shastri has critically analysed and examined in the volume. The study represents not only a full-fledged critique on the language of the *Ādikāvya* in all its facets, it also seeks to project in bold relief the genius, nature and sequential growth of the Sanskrit language of the age.

Dr. Shastri has been meticulous in dealing with the spectrum of Vālmīki's language in its entirety. The perceptive note prefixed to the critique proper serves to bring out in sweetly ringing phraseology the undying appeal of the *Rāmāyaṇa* and the peculiarities of its language which are accorded a detailed treatment in the volume.

The author begins the appraisal of the linguistic data in the *Rāmāyaṇa* with a searching scrutiny of its vocabulary, which, on his assessment, is notable on counts more than one. His perceptive analysis of the vocabulary reveals it, probably for the first time, that the epic is a virtual thesaurus of an array of rare words that are seldom met with in the subsequent literature. If ever encountered, they denote the meanings which are widely different from what Vālmiki has intended them to convey. Use of familiar words in highly unfamiliar sense is another characteristic feature of Vālmīki's vocabulary. The author has drawn upon the ancient commentators to pinpoint the exact sense of quite a few of them. It is on the authority of the commentators that the common word *Brāhmaṇī* (III. 29.5) is shown to have been used in the extremely rare sense of 'a lizard with a red tail', *raktapucchikā* as the commentary puts it. The meaning 'she-elephant' assigned to the word *Gaṇikā* (11.100.50), and 'poison' to *Karaka* (*III.* 29.5) also have the sanction of the

1. *The Rāmāyaṇa : A Linguistic Study*, op. cit., p.178
2. Ibid, Introduction, P.L.C. XVIII

commentators. However, the author has used critical and comparative methods to determine the sense of abstruse and obscure words. It was after a critical examination of several texts and writings that he determined the meaning of *Apūrvī* (III. 18.4), doubtless one of the most abstruse words in Vālmīki's vocabulary, as 'still unmarried', Brahmacāri as V. Raghvan rendered it. Incidentally it is not far from the way the commentators have interpreted it. The same *modus operandi* has been followed in interpreting *Saṁghāṭa* (II. 55.14, II. 55.18, VI. 43.17). The author is on the firm ground in taking it to be a cerebralised form of *saṁghāta* (heap, bundle) because it means a float, which is made of logs of wood. Though not known to Sanskrit, *Śarāvara* (111.51.14), according to the author, means 'armour' *(kavaca)*. *Tilaka*, however, renders it as *tūṇīra* under 111.64.49. No offence would be taken against his view that the use of words like *Vaidya* (learned) and *Vilakṣaṇa* (lustreless) in their etymological sense represents an earlier stage in their march to semantic development. He has also drawn our attention to words like *Khagama*, *Abhijidabhinnamukha* and *Araṇisuta*, which Vālmīki, in his view, has cooked up to mean bird, southern quarter and fire respectively.

After a critical analysis of Vālmīki's vocabulary, Dr. Shastri turned focus on an in-depth study of the words which have been listed as synonyms in the lexicons, but are used side by side in the *Rāmāyaṇa*. Their studied juxtaposition in the epic proves it beyond cavil that at an early stage of the development of the Sanskrit language, there existed a difference in their meanings, howsoever slight or imperceptible it might have been. The author concurs with Kṣīrasvāmin in the belief that while perfect synonymity may be an untenable proposition, it was the indiscriminate use of words, near unanimous in meaning, that ultimately climaxed in their acceptance as synonyms, *paryāyatvaṁ tv adūraviprakarṣāt*.

The study is not confined to a bald analysis of the so-called synonyms. The author has brilliantly highlighted the factors that have been instrumental in obliterating or obscuring the shades of difference in the meaning of the various words before they settled as synonyms or near synonyms. In view of its sweep and depth, the study may well be treated as an authoritative dissertation on Sanskrit synonyms which had hithertofore suffered undeserved oblivion. From his incisive analysis of

the strings of the so-called synonyms juxtaposed in the *Rāmāyaṇa*, Dr. Shastri has rightly come to the conclusion that the majority of words that now pass as synonyms actually stood in the relationship of *viśeṣaṇa - viśeṣya*, or *upamāna - upameya* or were prompted into juxtaposition by the subtle, almost negligible, difference in their meanings, which, as it got obscured, turned them into synonyms. The words *viṭapin* and *druma*, we are told, originally stood in the relationship of *viśeṣaṇa* and *viśeṣya*, Due to its constant association with *druma*, the adjective *viṭapin* appropriated to itself the sense of *viśeṣya*, and emerged as a noun itself. Likewise the *upamanavācin* word gradually appropriates the sense of the *upameyavācin* it is juxtaposed with and elbows it out to emerge as its synonym. This is how the *upamanavācin ghana* came to mean cloud. It otherwise means 'solid' (V.57.28).

With his penetrating investigations into their genius and precise connotation, Dr. Shastri has bared with admirable clarity the minute shades of difference that originally existed in the meanings of the so-called synonyms used in the *Rāmāyaṇa*. That has happily enabled us to know that *kīrti* originally was fame born of bravery while *yaśas* sprung from charity *(11.2.33)*; *Moda* was internal joy whereas its outward manifestation was *Harṣa; Apavāda* was baseless calumny and *Parivāda* was ill-repute emanating from an evil act; and *Hiraṇya* denoted unfashioned gold, while *Hema* stood for gold shaped into various ornaments.

The author has also detected the interesting fact about the synonyms in the *Rāmāyaṇa* that it itself occasionally explains the difference between the synonyms. The verse *amarṣī kupito rāmaḥ saṁrabdha idaṁ abravīt* (111.27.11), we are told, indicates the stages in the gradual rise in the emotion.

Credit must rest with Dr. Shstri for bringing to our notice that Vālmīki's language had come under the influence of the phonetic tendencies that had been at work since the time of the Vedas. Anaptyxis has been instrumental in turning *harsa* into *haruṣa* (VI.97.37) and *Tryambaka* into *Triyambaka* (VII.46.21), while *rāmaṇyaka* (III.15.5) and *jāgraṇe* (VI.61.26) are the outcome of Syncope. The author has unerringly attributed the quaint form *cakārādhanatatparaḥ* (NW.Rec.1.42.9) used in place of the regular *cakārārādhana-tatparaḥ* to the operation of Haplology.

Metathesis asserts itself in forms like *Kācakacya* (VII (II). 149.15) and *Nālikera* (III.35.13), which, with the transposition of the sounds evidently emanate from *Cākacakya* and *Nārikela.* According to Dr. Shastri an unknown phonetic tendency has been responsible for giving different forms to various particular names. It is under its influence that Bharata's mother Kaikeyī becomes Kaikeyī and Kekayī, and Rāma gets the patronymic name Dāśaratha.

Besides the aforesaid phonetic tendencies operating in the language of the *Rāmāyaṇa*, the author has ably pinpointed an interesting linguistic practice on the part of its author. That is seen to be at work in Vālmīki's interfering with the quality of a vowel to meet the exigencies of the metre. Of a number of such arbitrary words *Kṣamavatām* (VI.17.27), camum (VI.67.153) *aśanīpāta* (VII. 16.16), *anūcitaḥ* (V.36.21), and *koṭībhiḥ*, among others, engage attention.

That the words based on the imitation of sounds popularly known as Onomatopoeic words, form a sizable part of Vālmīki's vocabulary is duly noted by the author. From the simple *kalakala* or *kolāhala* to the complicated *cīcīkūcī*, quite a few words of this class are met with in the *Rāmāyaṇa*. Of these, Dr. Shastri tells us, *kilakila (lā) is* conspicuous by its absence and *cīcīkūcī* occurs only once in the *Yogavāsiṣṭha* which is otherwise a virtual storehouse of the onomatopoeic words.

Dr. Shastri has sifted the language of the epic so minutely that he has been able to identify all that characterizes it one way or the other. Thus we are told that apart from the tendencies noted above, Ellipsis also operates in the *Rāmāyaṇa* with a measure of vigour. Obviously Vālmīki has resorted to the device to ensure the brevity of expression in his language. It is, however, to his credit that the tendency of using fewer words does not blur the sense, though it is on inducting new word that the elliptical expression yields the intended sense. The verse *Rāmam eva hi paśyāmi rahite rākṣaseśvara* (III.39.17) illustrates the phenomenon. It gives the complete sense only after *vane*, the *viśeṣya, is* added to it.

On careful analysis of the epic language, the author is convinced that it mirrors the true Sanskrit usage as it obtained in the time of Vālmīki. The *Rāmāyaṇa*, he reveals probably for the first time, abounds in a wealth of forms and expressions which may raise the grammarian's frown now,

but formed a consequential part of Vālmīki's language, and faithfully echo the old idiom. Indeed Vālmīki meant to instruct the reader in the standard of Sanskrit usage - *paṭhan dvijo vāgṛṣabhatvam īyāt* (1.1.100). It is this standard usage current at the time that equips one to appreciate in true sense the epic language. The author has gone the whole hog to highlight it in its various contours.

We are told that the idiomatic use of some of the roots in the *Rāmāyaṇa* has given rise to meanings which may apparently sound strange or appear indefensible but were accepted coin in Vālmīki's age. The innocuous root *vṛt,* for example, had the resilience to convey such startling meanings as 'obstruction', 'death', 'obedience' and 'shedding (tears)'. They were doubtless sanctioned by the usage of the day. Prompted perhaps by the pliability inherent in its basic sense *(karaṇe)* and backed by the usage, the ubiquitous √*kṛ*, as used in the epic, is a virtual *kāmadhenu.* It is found to mean 'to die', 'to offer libation' and 'to begin' in *kālaṁ kariṣyati* (II.64.54), *udakaṁ kartum* (IV.25.51) and *cakre śobhayitum purīm* (11.6.10) respectively. The past participle form of √*ṣad* had also acquired idiomatic tinge in Vālmīki's language. *Sannaharṣaḥ* (II.14.56) evidently means *naṣṭaharṣaḥ*, and in the verse *pitā .... sannas tadā babhau,* it assuredly means *khinnaḥ*. It is usage that has been instrumental in investing the *ktānta* form *dhvasta* with miraculous meanings. In *dhvastamūrdhajaḥ* (1.58.10) it means 'dishevelled' *(vikīrṇa)* and in *rajasā sutaṁ dhvastāṅgam* (II.58.1), it means 'smeared', 'sullied'.

As pointed by the author, the figurative expression in Vālmīki also illustrates the usage of his time. The figurative use not only heightens the effect of the expression, it also settles the norm of speech which the subsequent writers tend to follow to great effect. The current usage finds expression in the excerpts that follow, which are enlivened by uncommon charm: *kāmavaktavyahṛdayā* (II.117.26), *vyalīyatāsane* (II.20.7), *devamānuṣayor adya vyaktā vyaktir bhaviṣyati* (II.23.18).

Vālmīki seems to treat his discretion *(vivakṣā)* to be more decisive than the grammatical injunctions in the use of Kārakas, which otherwise set the norm of effective expression. Howsoever odd this arbitrary use of Kārakas may sound in the situation, they, according to our author, reflect the usage of the day. Vālmīki seems to have special love for the Genitive, which he substitutes for almost all other cases, enjoined under

different conditions. Dr. Shastri justifies it as being expressive of general relationship which may well exist between two nouns as well.

Contrary to its penchant for brevity inherent in Ellipsis and shorter forms, the language in the *Rāmāyaṇa* betrays the strange tendency of over-burdening itself for no valid reson. It is evident from the use of identical or near-identical words side by side to convey the same idea. It has given rise to such quaint expressions as *darpeṇa mahatā yukto darpapūrṇo'bhavat tadā* (1.55.18), *dṛṣṭigataṁ dṛṣṭvā* (IV.49.19). Our author has rightly dismissed them as unjustified and faulty.

This tautology or superfluity which involves the use of more words than needed to express an idea, extends itself to the use of verbs with cognate object which being born of the same root, however, adds nothing new to the sense. *Nādaṁ nadan* (V1.94.16) and *mantram amantrayat* (IV.64.11) mean nothing more than *nadan* and *amantrayat* respectively. However, according to Dr. Shastri, the phenomenon is beyond reproach in case the cognate object is qualified, even obliquely, by an adjective.

The author has brilliantly emphasized the significance of the idioms and proverbs met with in the *Rāmāyaṇa.* While the idioms reflect the age-old style of expression, the proverbs additionally enshrine the ancient wisdom of the land. He has demonstrated through comparisons how some of Vālmīki's proverbs have percolated to various vernaculars in a new garb.

The use of a good number of words in their etymological sense in Vālmīki's language, Dr. Shastri rightly observes, affords us a peep in the earliest meanings of the respective words, which could have been otherwise lost for ever. Contrary to their known meanings, words like *vaidya, sāpatna, puraskṛtya, pariṣvaṅga, āvarjayṣyāmi,* besides many others are used in the *Rāmāyaṇa* in their etymological sense. The use of *pari + nī* in its etymological sense 'to lead well' is, however, very remarkable (Vi.30.9). In course of time this leading around' was restricted to fire only. However, later on 'fire' too fell out of use and the root came to denote the sense of 'marrying'. Likewise the use of some words in their secondary meanings, which is evidently distinct from their primary sense, represents the second stage in the history of their semantic development. In view of the several notable secondary meanings that it has developed

in its semantic march, the word *nibhṛta*, used a number of times in the *Rāmāyaṇa*, merits notice.

The plethora of prepositional verbs used in the *Rāmāyaṇa* have been subjected to an exhaustive discussion by Dr. Shastri. Quite a few of the meanings denoted by the various roots with a number of prepositions are extremely rare, though they form a link in the semantic development of the respective roots. Though seldom met with in the later literature, they were a current coin in Vālmīki's time and set the norm of usage. They are a pointer to the richness of the verbal forms and the slew of meanings they conveyed in the Sanskrit of his day. As unerringly observed by the author, no account of the meanings that the Sanskrit roots came to acquire in the later literature can be claimed to be complete or authentic without a thorough study of the functioning of the prepositions in the *Rāmāyaṇa*. Even the erudite scholars in Grammar and Linguistics could hardly imagine that *vikṛta* ever meant 'embroidered with gold', or *sannipāta* denoted 'clash', or *ap + vṛt* meant 'to sleep', or *prati + kṛ* meant 'to oblige'.

The treatment of the prepositional verbs as carried out by the author is so perceptive and incisive that it opens up new avenues of research in the semantic history of the Sanskrit roots from the earliest time down to the contemporary period.

Derivation of certain proper names, attempted in the *Rāmāyaṇa*, may also be viewed as a feature of its language. According to the author the etymologies offered in the epic are as good or bad as a grammarian or an etymologist would suggest. However, the stories worked up to support them tend to impart them a modicum of interest.

As observed by Siddheshvar Varma the greatest contribution of the author, which makes him matchless in this particular field, is the organized grammatical material of deviation form Pāṇini available in the *Rāmāyaṇa*. Vālmīki's language, by and large, adheres to the injunctions of Pāṇini. According to the author as a postpaninian work it could not have done otherwise. The strings of intricate forms met with in the epic also bear testimony to Vālmīki's sound equipment in Grammar. As such, the deviations from Pāṇini, which in any case are formidable in number defy logic. It would be as futile to dismiss them

as relics of the usage of Vālmīki's time as to treat them as remnants of Vedic Sanskrit. The plain fact, as opined by Dr. Shastri, is that Pāṇini's hold on the Sanskrit language had not by then tightened to the extent that it did not allow it the freedom that is inherent in a vibrant speech. The deviations from Pāṇini in the *Rāmāyaṇa* pertain to all sections of Sanskrit Grammar. Dr. Shastri has dealt with them threadbare with the authority of a traditional grammarian and finesse of a modern linguist, turning it into a highly enjoyable and informative study. At times, he has tried to explain the reasons that prompted Vālmīki to deflect from the norm. Forms like *saṁvadantopatiṣṭhante* (II.67.26), *purūravam* (VII.56.25), *triṁśati* (V1.107.42), *jāmadagneya* (7.74.17), *juhava* (VI.80.5), *kurmi* (II.12.36) *hanadhvam* (III.26.25), *tarjāpayati* (VI.34.9), *lobhitum*, *āśramāṇi* (I.61.10) etc. etc. are a pointer to the freedom with which even a well-equipped poet could operate in days of old.

Dr. Shastri has done a tremendous job in presenting a full-fledged dissertation on the language of the *Ādikāvya*. His critique follows the comparative methods of linguistic study and is backed by sound logic and diaphanous style. Coming from an embodiment of ancient learning and modern scientific equipment, *The Rāmāyaṇa : A Linguistic Study* is a solid contribution to the linguistic criticism.

II

Dr. Shastri had drawn an ambitious plan to subject to a critical analysis the language and poetry of the *Yogavāsiṣṭha* in a similar vein. While the plan is yet to be completed, he, as a result of his intensive studies in the *Yogavāsiṣṭha*, has published a series of eleven articles on its various aspects, which, clubbed together, make a sizable volume. It is the language of the *Yogavāsiṣṭha* that has expectedly claimed the majority of the articles. Of the remaining four, one is introductory in nature and sets forth the broad outlines and character of the work, the second grapples with the complex issue of determining its date, the third is addressed to an evaluation of its poetry, and the fourth has philosophical overtones. While a fullfledged appraisal of the whole gamut of articles would swell the critique beyond measure, the conclusions drawn by the author may be listed here to facilitate a broad understanding of the nature and character of the language of the *Yogavāsiṣṭha*.

1. The *Yogavāsiṣṭha* has undergone considerable modifications down the years. The original work must have been comparatively smaller and more homogeneous. It might have acquired the present form around 850 A.D. The popularity of the massive treatise must have prompted Abhinanda to prepare its compendium - the *Yoga-vāsiṣṭhasāra* - near about 900 A.D

2. The vocabulary used in the *Yogavāsiṣṭha is* distinguished by a host of astonishingly rare words. Some of them denote particular meanings against their general ones, some have undergone extension in their meanings, and some of the familiar words have been twisted to yield extremely rare meanings. *(carma = chaff* (3.107.9), *pādū* = horse's shoe, *lāṅgūla* = tongue shaped iron hanging from the bell, *śābdika* = noise-maker, *sāra = whole, sārā* in Hindi]

   The vocabulary has also received a sprinkling of Prakrit words, and words cooked up to suit the author's whim to convey rare meanings. *Kāṭa = clash, pāṭa = to* tear asunder, *ṭāla* = to evade, *peṭaka* = box are the Prakrit words that claim attention.

3. The *Yogavāsiṣṭha* has an enormously large number of onomatopoeic words. They are encountered most in the descriptions of natural and man-made calamities. Some of them being associated with the sound of a number of things, occur in the text with bewildering frequency. *Gharghara* occurs as many as thirty times, and *ghuṁghuma* 25 times. There seems to be a method to their use. Not unoften they are clubbed with the derivatives of the root *kṛ* like *kāra kṛti, kṛta* etc., and words like *ārāva, āṭopa āsphoṭa* etc. They have been given, at times, the form of denominative verbs and participle forms. The present participle forms of the roots are also found used with them. Some of the onomatopoeic words met with in the *Yogavāsiṣṭha* have quaint forms like *bhamadbham capacapa, kucakuca, śamaśama* and *timitimi.*

4. The Taddhita forms in the *Yogavāsiṣṭha* match in number the onomatopoeic words used therein with equal magnanimity. Though the majority of the forms adhere to the Pāṇinian rules, a couple of them are formed with suffixes for which there is no grammatical sanction *(yāmya (ñya), śārvara (an)).* Occasionally two suffixes are found used in the same sense *(Auṣṇyatva (ṣyañ* and *tva), sāmyatā (ṣyañ* and *tal) Śārīraka is* a typical form as both the suffixes, *an* and *kan* used

here, are in the original sense of the word itself. In the case of *grāmyeyaka* (*ḍhakañ grāmya* alone would suffice. It is peculiar of *kan* that it has been used as a possessive suffix in *kāntika* and *grāmaka*, and does not bring about any change in the meaning of the stem in *mūlaka* and *puṣpaka*.

5. The *Yogvāsiṣṭha* perpetuates the tradition of prefixing a number of prepositions to different roots to unravel a variety of meanings. The various meanings may not be always clear or easily intelligible, but they have the undoubted merit of shedding welcome light on the meanings that many a prepositional verb came to acquire in the later literature. Some of the meanings that the prepositional verbs denote in the *Yogavāsiṣṭha* are simply amazing. (*anu* + *bandh* = to force, to compel; *ud* + *han* = *to* behave, haughtily or insolently; *ā* + *hṛ* = to eat. Its verbal use is rather unusual; *vada vraja pibāhara* (VI(II).106.24).
6. In view of the fact that the *Yogavāsiṣṭha* and its author, belongs to the classical period of Sanskrit poetry, and its author, being well-equipped in grammar, revels in displaying his grammatical acumen in the strings of recondite forms with which the text, is virtually stuffed, deviations from Pāṇini met with therein, seem to have been inducted to give the *Yogavāsiṣṭha* an archaic look.
7. The vocabulary of the *Yogavāsiṣṭha is* not only interspersed with a large number of Prakrit words, the author also loves to coin new words with Prakrit suffixes. *maṅkala, harṣula* and *patrāla* are some such words. The influence of Prakrits has been instrumental in introducing changes in the meanings of some of the words used in the *Yogavāsiṣṭha*. It is under the influence of the Prakrits that *prānta* in the text stands for 'a province', against its usual meaning of 'corner', and the expression *māṁ nidrājagāma* is smugly admitted.
8. The language of the *Yogavāsiṣṭha is* marked by such trite tendencies as Ellipsis, Tautoloty, use of abbreviated forms and verbs with cognate objects. The elliptical constructions in the *Yogavāsiṣṭha*, more often than not, have the verbs omitted in them.
9. Etymologies in the Yogavāsiṣṭha are often fanciful. They are prompted by sound-analogy which is admittedly a hopeless base for any derivation.

III

Dr. Shastri's sustained investigations into the impact of Kālidāsa's muse on the contemporary generation of Sanskrit writers, imaginatively eptomised in *Kālidāsa in Modern Sanskrit Literature* (KMSL) and *New Experiments in Kālidāsa* (NEK) open up new vistas in the study of the master poet. The two volumes are addressed to a critical evaluation of an array of modern writings on Kālidāsa, each actuated by an anxiety to impact de novo a modicum of fresh perception to the ageless bard. Notwithstanding its somewhat truncated canvas, *Kālidāsa in Modern Sanskrit Literature,* is distinguished by a wider sweep. It makes bold to undertake an exhaustive appraisal of fourteen full-fledged works in the varied forms of drama, poetry and prose, which, taken together happily lead to the emergence of an integrated portrayal of Kālidāsa the man. In view of the vast mass of literature produced over the years, on the master in Sanskrit and its uneven worth it was neither possible nor desirable to subject them to a sustained treatment in the narrow confines of a solitery volume. The works picked up for study in the *KMSL*, besides their literary excellence are notable as each one of them has a bearing on Kālidāsa and thereby serves to highlight one aspect or the other of the poet's persona. Apart from the quaint anecdotes gleefully concocted down the ages almost all the significant happenings in the master's life have been brought under scanner. The writings have deservedly evoked a perceptive critique in the Volume, turning spotlight on the significance of their contents, their virtues and failings, and the novelties introduced therein to make what they are.

IV

In view of the genius of the writings dealt with in it and their pleasing overtones volume II, the *New Experiments in Kālidāsa* (NEK) makes an equally fascinating study. It rather tends to steal thunder over the *KMSL* in the cohesive character of the works and the broader canvas that they have claimed. Contrary to those in the preceding Volume, the writings included herein represent one literary form the play, doubtless of different denominations. Of the forty, rather forty one, plays evaluated the *NEK*, five are supplements to the works of Kālidāsa, twelve purport to the adaptations thereof, six stand out as adaptations of the notable episodes from the master's writings, seven are pure fantasies with

Kālidāsan background, and one is a Nāṭikā. Far from being a bald rehash of the originals, they are marked by a variety of features, novelties and peculiarties that combine to lend them the genius of distinct class of contemporary writings. With tasteful courses and tickling desserts, they make a sumptuous fare for the connoisseur to enjoy and the critic to launch upon an assessing spree. Indeed the writings have been met with in the *NEK* with a matching critique examining in detail from diverse angles the theme, the language the style and the dramatic technique of the respective plays with accumen and dispassion, projecting in the process what precisely makes them 'new experiments'. The *NEK* joins the sister volume in bringing into relief the fascination that Kālidāsa holds till date for the gifted Sanskritists, prompting them to come out with a corpus of worthy writings that merit unstinted esteem.

V

Sanskrit Inscriptions of Thailand

Collectively known as Suvarṇabhūmi mainly for the rich dividends it brought to the Indian merchants who ventured to its shores in ancient times, the countries of South-east Asia had come quite early under the influence of the Indian culture to the extent that they came to be viewed as cultural outposts of India. Thailand, the ancient Siam, was also quick to imbibe the cultural bounty. Though overshadowed for long by its powerful neighbour the Kambujadeśa (Cambodia), Thailand is believed on valid grounds to have adopted the Indian ethos epitomized by the Buddhistic and Puranic faiths as early as the second century A.D. Sanskrit, the repository of the ancient Indian culture, may or may not have been the language of its state–apparatus, the corpus of Sanskrit inscriptions, recovered from the length and breadth of the Thai country, however, prove beyond doubt that the use of Sanskrit was not confined to the narrow elitist circles but extended to the public at large as well to which the epigraphs were intended to communicate the royal edict. The Thai Sanskrit inscriptions have doubtless been studied earlier, individually or in small bunches but a full fledged compendium with English translation and a perceptive appraisal thereof has been a desideratum.

Sanskrit Inscriptions of Thailand (*SIT*) by Satya Vrat Shastri meets the desideratum with aplomb.

The Volume is comprised of seventy five inscriptions including the six published earlier by Chirapat Prapandvidya. With the five epigraphs edited by Sombat Mangmeesukhisiri, and the four by Prapod Assavavirulhakarn and Peter Skilling incorporated in the tome, the number swelling to eighty four. However, a good number of them are so badly mutilated that they are hardly amenable to a coherent reading or interpretation. Even of those that have escaped the climatic vagaries and destructive zeal of the illiterate folk, quite a few are tarnished by a series of gaping lacunae. The rest of the epigraphs are happily better preserved and come out as delightful pieces of poetry evoking esteem from the connoisseur and critic alike. Śrī Canasa Inscription, Wat Sema Muang Inscription, Prasat Than Inscription among others, call notice in this regard.

The epigraphs included in the *SIT* betray drastic variation in size. While with one word or phrase, inscriptions like Pumaya Khin (*Pumyagiri*) and Bung Khok Chang (*Vara prajnāvaraḥ*) are no better than the mole, the burly Phanom Rung Inscription with sixty one verses symbolises the hill. Similar variation is witnessed in their contents. An array of them deal with such banal subjects as the installation of the images of the Puranic and Buddhistic deities, offerings of a spectrum of food-items made to the hermitages and temples to feed their inmates, the construction of religious shrines, lying of tanks and gardens while others record the genealogies of the respective rulers, their victories, philanthropic activities, religious pursuits, patronage to art and letters and literary equipment. The mention of momentous events in some of them invests them with considerable significance. The Prasat Phanom Rung Inscription thus refens to the sage Kaṇva and his (foster) daughter Śakuntalā, pointing therely to the popularity of the story in the Thai country. Parsat Hin Phra Vihar Inscription, on the other hand makes a pointed mention of Kurukṣetra, where an unnamed person (from Thailand) is said to have received his education. And the Prasat Inscription credits Jayavarman with setting up of a big hospital (*ārogyaśālā*) to serve his people without distinction of caste or class.

Be it the ill–equipment of the authors or the carelessness of the scribes, the epigraphs are beset with quaint expressions, phrases and words that pose a serious challenge to the editorial skill and defy sane interpretation.

With his innate insight in the genius of the Sanskrit speech, Dr. Shastri has strained hard to emend the erratic text, which, more often than not, serves to straighten the expression. Of the scores of emendations carried out by him, quite a few are simply superb. By substituting *j* for *y* in *yo'rddhendusvarddalādharaḥ* (p 68, Line 2), he has brilliantly hit what must have been the original reading: *Svarjjalādharaḥ*, Lord Siva carried on his head the crescent and the heavenly Ganges (*svarjjalā*). The cryptic *devyānim* (P.331) ceases to be an enigma when emended to *divyām imām*.

The text of each inscription, transcribed both in the Devanāgarī and Roman scripts, is followed by a perceptive translation in English. Notwithstanding the many pitfalls that mark the language of the inscriptions, Dr. Shastri has acquitted himself with admirable credit. While his translation merits acclaim on counts more than one, phrases like *naikabhāvormmīmālī* (P.16, Vr,1), *vinītabhūṣākṛtamaṇḍanena* (P.16, Vr.8), *kāruṇyapuṣkarāvartau* (P.101, Vr.21), *aśeṣasarvvārimadavi dhanaśca dvitīyassvaśaktyā'sau* (P.177 3, side 2) are liable to be interpreted with more precision.

The detailed notes appended to the inscriptions shed welcome light on the linguistic features/peculiarities of the respective epigraphs, and their literary trappings that serve to impart them poetic overtones. With a perceptive analysis of the tricky forms, figures of speech highlighting their contribution towards enriching the expression and other related issues, the Notes doubtless facilitate a better understanding of the spirit of the inscriptions.

The inscriptions included in the volume are so imbued with the spirit of Indian thought, culture and religion that it is hard to believe that they were composed by "alien" authors, far away from the Indian shores. But for the names of the ruling sovereigns and the quality of language and poetry, there is not much to distinguish them from the corpus of ancient inscriptions of India. With Buddhism and Hinduism rubbing shoulders together, they breathe a spirit of religious harmony, though an echo of dissonance is heard in the Ban Khok Sakaerat Inscription.

Though basically down-to-earth documents, some of the inscriptions make worthy poems as good as mini–*kāvyas*. They are marked by winsome fancies, jingling rhythm, beauty of expression (*padalālitya*) and

a modicum of gimmicks inherent in Sanskrit poetry. Utprekṣā and Vyatireka join hands in the verse to give the feel of the quality of poetry in the Thai inscriptions.

Kāle harir varṣati vāryasaṁkhyaṁ
gatāgataṁ bāṇagaṇaṁ ca jiṣṇuḥ/
itīva śaśvad bahuvṛṣṭyatītam
anāgataṁ varṣati yogyadānam//

P.16, Vr.6

Taken together, the Sanskrit inscriptions of the Thai poets, edited in the Volume, form a significant chapter in the history of Sanskrit epigraphy. Dr. Shastri merits esteem for bringing out this hidden treasure, which both the epigraphists and the Sanskritists would fondly cherish.

VI

Introducing New Works on Sanskrit

Introducing New Works on Sanskrit (*INWS*) by Satya Vrat Shastri comes out as an added testimony, if any was needed, to his penchant for innovation which has unfolded itself in a variety of ways in his writings of all hues. While in the time–worn forms such as *mahākāvya* he being well attuned to the genius of contemporary poetry and evolving taste of its readership, has made bold to defy the hackneyed parameters laid down by the theoreticians lending it winsome dimensions he has been instrumental in introducing such forms to the Sanskrit literature as were unknown to it earlier. With him thus rests the credit for raising the trite practice of letter-writing to literary heights by the vast array of his versified letters some of which are as good as mini-*kāvyas*. It is again to him that Sanskrit owes the first diary and autobiography ever written in it, which even as down-to-earth documents have the credentials of *gadya-kāvya*.

The *INWS* evidently aims high. It is fired with zeal to turn the prosaic practice of Foreword-writing into a fascinating discipline, and thereby initiates in the Sanskrit literature a new genré which may well be exploited by the succeeding writers with fruitful results. The *INWS* is essentially a hefty corpus of 112 forewords contributed by the author to a wide spectrum of writings pertaining to such diverse disciplines as Veda, Epics, Purāṇas Classical Literature, Philosophy, Religion,

Grammar, Linguistics, Semantics, Lexicography, Music, Agriculture and Hunting. The range of the writings that he has introduced is thus as vast as is the depth of the Forewords that they have claimed.

Why a worthy writing should need the prop of a Foreword by an illustrious figure may be debatable but the practice has been rife since long and has now struck deep roots. Being well versed in the various disciplines which the tricky art of foreword writing presupposes Dr. Shastri has emerged over the years as the most favourite foreword writer. Beginning with the piece he, as a student at Varansi, hesitatingly contributed to his revered Guru Pandit Shuk Deo Jha's *Vaiyākaraṇabhūṣaṇasāraprakāśa* he has spawned a formidable Foreword literature by introducing the staggering number of 144 books, of which 112 contributed to works in/on Sanskrit are clubbed together in the present Volume to emerge as the first book of its kind in the form in which it is making its appearance. Doubtless no other collection of Forewords is known till date. In fact, no such work has ever been conceived.

Imaginatively arranged discipline–wise the Forewords compiled in the *INWS* are split in eight sizable segments which taken together cover as many as 442 printed pages. The maximum numbers of works that have drawn Forewords from the author pertain to literature both sacred and profane, while those on the Veda could not have been anything but perceptive studies on the various aspects of the sacred literature including such engaging subjects as Vedic Humanism, Yoga, Medicine, Astrology and Earthquakes; the works on the subsequent literature are both creative and critical. Besides the traditional themes the creative works happily deal with such burning issues as the family planning dowry system, corruption, terrorism, library science and agriculture. Works like *Scientific Knowledge in Sanskrit Literature Bhāratasya ārthikaṁ sarvekṣaṇam*, The *Art of Hunting in Ancient India* could have strained any critic. Dr. Shastri's Forewords to them are however as enjoyable as the works themselves.

The plethora of books introduced by him are written in Sanskrit, English and Hindi. So are his Forewords. The Forewords in Sanskrit are in either prose or verse. Of those in verse the one to the *Vaidika Bhaiṣajya* runs into as many as sixty four stanzas. Some others in verse have claimed Forewords comprised of thirty to forty verses. Quite a few of the

Forewords in English perhaps in a bid to measure with the richness of the respective works are very exhaustive and have the trappings of full-fledged review articles. The Sanskrit novel *Tapovanavāsinī* has evoked the Foreword that stretches to twenty four printed pages, while the one to the *Bāṅglāsodaya* covers eighteen pages. That attests to the pains the author took in scripting the pieces with utmost sincerity.

Forewords included in the *INWS* differ substantially from the common rut of exordiums. Far from being a rehash of the book interspersed with expression of appreciation, whether deserved or not, Dr. Shastri's Forewords are distinguished by a perceptive appraisal of the woks in lucid phraseology with such suggestions or plaudits as the works merit reflecting his sure insights in the subject. They represent the *summum bonum* of an array of books on different disciplines, and thereby act as a mirror to the vast Sanskrit literature produced in the contemporary era, and the critical appraisal it and its ancient counterpart have evoked.

Browsing through the *Introducing New Works on Sanskrit* one is apprised of the essence of a host of remarkable writings some of which might have gone scarce now. It, infact, is an indispensable companion to every Sanskritist of the day.

In scripting the *INWS* Dr. Shastri has for sure opened up another fresh avenue in the domain of contemporary Sanskrit literature.

VII

Discovery of Sanskrit Treasures

A prolific writer, Dr. Satya Vrat Shastri, has enriched Sanskrit and Indological literature with a number of his research studies. Apart from books, he has published a sizeable number of articles in journals and commemoration and felicitation volumes. It was thought desirable to bring out a compendium of them. Also thought desirable was to bring to light a big corpus of his writings which are still in manuscript.

The research material presented here is vast in quantity and unique in quality. The studies in the present seven volumes cover practically all major disciplines of Sanskrit and Indology. About half a dozen of them extend upto about a hundred pages each implying thereby that the *present volumes have six independent monographs in them*. Some of the studies like

the linguistic appraisal of the *Yogavāsiṣṭha*, the analysis of the etymologies in the *Mahābhārata*, the *Yogavāsiṣṭha* and the *Devībhāgavatapurāṇa*, the study of Sanskrit synonyms, the delineation of human values with definitions from ancient texts, the linguistic appraisal of the 20th century Sanskrit literature preceded by its detailed account, the description of the modern Christian literature in Sanskrit and an account of the *pūjā* and ritual in the Bali island of Indonesia and that of the cultural excursions in the countries of Southeat Asia *are the very first of their kind.*

This is true of the large components of other studies as well which goes well with Dr. Satya Vrat Shastri's habit for exploring new areas. His studies, therefore, are refreshingly original and compel attention.

The Translator

Vyutpatti, which in Rudraṭa's perception of the term is as good as *sarvajñatā*, extends in Dr. Shastri's case to the alluvial field of translation as well. As a polyglot, he has rendered, over the years, a number of works in various languages into English, Hindi and Sanskrit with the authority of a grammarian, felicity of a linguist and warmth of a poet. It may be a mere coincidence, but he had to grapple with some of the toughest works both in Sanskrit and English that could have swept a lay translator off his feet. It is to his credit that he has been more than equal to the challenge he had picked up gleefully. Besides translating his *Bodhisattvacaritam* and the anthology of wise sayings, *Subhāṣita-sāhasrī*, the former in Hindi and the latter in both English and Hindi, Dr. Shastri has rendered into English Nityanand Shastri's *Rāmacaritābdhiratnam*, a formidable *Mahācitrakāvya*, with amazing skill and expertise, though in view of the frustrating complexities it does not seem to be amenable to translation at all. It was equally deterring to enclothe A.A. Macdonell's *Vedic Grammar for Students* in any other language of the world, howsoever rich it might have been in its own right. Dr. Shastri has happily come out with a highly readable translation in Hindi, which surely does the language proud. He is, however, at his best in translating the European poets in Sanskrit verse. Apart from opening up the wisdom enshrined in the respective works translated by him, his translation serves the noble purpose of bringing the various linguistic and cultural groups closer and thereby strengthens national cohesion.

I

Rāmacaritābdhiratnam[1] : English Translation

With its pedantic language heavily infested with intricate grammatical forms, inverted style and quaint imageries often emanating from grotesque grammatical rules, the *Rāmacaritābdhiratnam (RCR)* poses serious challenge even to the most mature scholarship so far as translating it in any language is concerned. However Dr. Shastri has negotiated the daunting tome with great ability and grit. He has not only withstood the śāstric barrage with admirable courage but has also been equal to the literary tantrums the 'poet' has thrown with sadistic pleasure to overawe the reader. His profound equipment in Sanskrit and unerring grasp of the English language have enabled him to give us a flawless translation of this śāstric tome masquerading as a Mahākāvya.

Dr. Shastri's focus in translating the *RCR* has been on voicing the contents of the original in an intelligible language with as much precision as it was possible in the situation. This is indeed what a translation is meant to be, more so of the poems loaded with abstruse jargon. Dr. Shastri has taken great pains to express the intended sense with fidelity and clarity so that the reader is not lost in the labyrinth of verbal jugglery to which a lesser translator is tempted to succumb in the situation. In his anxiety to unravel the true import of the original he has not hesitated in taking a modicum of liberty with it, though he seldom strays away from the text. However, his rendering is primarily wedded to the *artha.* This is what prompted him to induct in the body of the translation such (extra) phrases as facilitate a clearer understanding of the original. Nor did he refrain from splitting the inverted and longer clauses in smaller units, rendering them independently in plain English without unduly heeding the demands of the tough suffixes used with the various expressions. It is because of this *modus operandi* that the translations of verses One and Five of the Invocation (Maṅgalam) are more vivid and effective than their originals. And the nauseating depiction of Bībhatsa rasa in XIII.56 has been brilliantly captured in the translation, which in a way, presents a pen-picture of the goblin wandering on the battle-field, enjoying to its heart's content the delicacies that were readily available there.

---

1. *Śrīrāmacaritābdhiratnam* of Nityanand Shastri, English Tr. By Satya Vrat Shastri, Sahitya Akademi, New Delhi, 2005

The frustrating gimmicks inherent in a *citrakāvya* do not admit of an easy resolution, much less a coherent and faithful translation. Credit must rest with Dr. Shastri for resolving these complexities with confidence and precision. It is doubtless his equipment in various disciplines that has been instrumental in unveiling the intended sense of abstruse and grotesque verses like V1.37 in unequivocal phraseology :

सुभ्रातरोपि भरतप्रमुखाः श्रयन्ति
तीक्ष्णात् स्वकीयनियमात् तममी समास्याः।
णं ठादिका इव परं सविशेषकास्यं
चाप्याकृतिं किल समान्तरयत्नवर्गाः।। V1.37

"Just as the letters *ṭha, ḍa* and *ḍha* which are uttered from the same place, i.e. mūrdhā, the top of the palate, with the same internal effort and are, all of them, of the form of bow take support from *ṇa* (which is supported from the head and the nose) in the same way Bharata, Lakṣmaṇa and Śatrughna of similar appearance, position and ideas resort to him (Rāma) by hard routine of service who looks like a bow and is adorned with a forehead- mark."

Verse Twenty of Canto Four, which represents the nadir of verbal jugglery and semantic torture, is one such wild stanza whose true import could have been fathomed and expressed in coherent phraseology by only a scholar of Dr. Shastri's stature. The way it has been dissolved, dissected and interpreted in the commentary leaves one breathless:

रमाभृदारम्भशुभाऽभिधो यथा-
ऽथः सम्यगाकारविपर्ययोऽप्यहम्।
प्रिया रमा सांप्रतमेव सांप्रतं
यं सैव सीतेत्यनुरज्यतीत्यवैत्।। IV.20

"From the very beginning I have an auspicious name like (the indeclinable) *atha.* Even with change of form (while Lakṣmī is white, I am dark) I am Ramābhṛt, the supporter of Ramā. With reversal of the *ā* of Rāma Rāma becomes Ramā much like *atha* which with the reversal of its *a* becomes *thā* which means that which protects from fear. Since I am Ramābhṛt it is proper that beloved Rāma, who is Sītā now, should accept me with love."

Of all the standards of comparison it was the suffix *ṇic* that the 'poet'

has used as an *upamāna* to highlight God's *karaṇatva* and *kāraṇatva* in Verse Two of the Rāmastavaratnam, appended to the *RCR*. That almost discounts the possibility of rendering the verse in precise terms. It is heartening to find that Dr. Shastri's equipment has been more than equal to the challenge, giving us a readable translation of the verse (pp. 406-407).

वन्दे सुरोरगनरादितनुं परेशं
रेण्वश्म-रत्न-कनकादिमयं यथाद्रिम्।
णिच् प्रत्ययो य इव कारयते करोति
यं व्याकृतिप्रकटितं प्रविदन्ति विज्ञाः।।

I bow to the Lord of the form of gods, reptiles and men and so on like a mountain made up of dust, stones, jewels and gold, etc., whom the wise declare to be manifesting himself (in the form of different *avatāras*, incarnations) though having no form (*vi* + *ākṛti*) like the suffix *ṇic* in grammar (*vyakti* = grammar) which gives the sense of agent and causal [*kathayati*, for instance, means both, says and makes one say].

The *RCR* is, infact a versified disquisition on Grammar. Only a scholar who matched the author's phenomenal equipment in Grammar and surpassed him in having an unfailing command over the English language could have ventured to translate it in delightful English. Of the contemporary Sanskritists Dr. Shastri alone is such a mighty scholar. And he merits esteem for the stupendous job he has done in resolving a very tough text with admirable credit

II

Vedic Grammar[1]: Hindi Translation

In translating A. A. Macdonell's *Vedic Grammar for Students* into Hindi, Dr. Shastri had in fact to deal with a *Citrakāvya* in Grammar. Notwithstanding its high merit, the Vedic Grammar confronts the translator with a plethora of frustrating complexities. It was highly demanding to determine the appropriate Hindi equivalents of the series of technical grammatical terms used by Macdonell with telling effect. Dr. Shastri struggled hard to identify such terms in Hindi as may reflect

1. *Vedic Grammar for Students*, A.A. Macdonell, Oxford University Press, 1955. वैदिक व्याकरण (हिन्दी अनुवाद), सत्यव्रत शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1994

the true spirit of the corresponding English terminology, and at the same time may go well with the reader, more so the student. After all, they were to serve as a springboard for him to launch upon the arduous task of rendering in intelligible Hindi what Macdonell had said by way of an in-depth appraisal of the Grammar of the Vedic language with the precision of an erudite English Vedist. Happily, Dr. Shastri came out of the gruelling exercise with flying colours. Terms like आमन्त लिट् (Periphrastic perfect), अपेक्षितक्रमविरह (Anacluthon), अभ्यासाच् (Reduplicative vowel) पराश्रित स्वरित (Enclitic svarita), संयोजक अवयव (Copula), सहार्थ (Sociative sense), स्वरोन्मुख अनुनासिक (Sonant nasal), हेतुमद् वाक्यांश (Apodosis), ईषद्भिन्न द्वितीय रूप (Doublet) could have been coined only by one who has an unfailing insight in the intricacies and nuances of Sanskrit Grammar. An idea of the hard thinking that the connotations of each term required to arrive at its exact Hindi equivalent can be had from the fascinating details given by him as to why चतुर्थी प्रतिरूपक तुमर्थ कृदन्त was accepted as a synonym of Dative Infinitive in preference to several other alternatives.

It is always hazardous to translate a work on Grammar, more so the one written by a scholar of Macdonell's stature. The difficulty was further aggravated by his inimitable style with some of the sentences spilling over eight to ten lines. Not only that, his scheme of dealing with the Vedic grammar differs widely from the Prakriyā of the indigeneous grammarians. Moreover, as a scholar well-versed in Greek and Latin, he has used the technical terms of Grammar of these languages. It was hard to express them in Hindi.

Though ridden with the prohibitive constraints, Dr. Shaṣtri has acquitted himself with admirable credit. True to his wont, the main thrust of his translation of the Vedic Grammar has been to render the text in a language which faithfully echoes the original and thereby contributes to its easy comprehension. This he sought to achieve by using such words, phrases and idioms as were already known to the student of the Veda and conveyed the essence of the original without ambiguity. It was with this end in view that he has translated Macdonell's phrase 'positionally long' as संयोगे गुरू or संयोगवशात् गुरु because this, in his view, is the expression that reflects the drift of the original better than any other word. Similarly, अन्वादेश according to him, voices what 'Anaphoric' stands for with utmost precision. The anxiety to express the connotation of the original in its totality led him to coin कालबोधक कृदन्त for 'Participle' and use शत्रन्त, शानजन्त,

क्तान्त etc. according to the exigency of the context. Likewise the term क्त्वादि प्रत्यय has been used for Gerund because several other suffixes besides *ktvā* are found used in the Veda in the same sense. For the convenience of the students not conversant with English, the translator has used traditional terms like अच्, हल्, प्रातिपदिक, उपधा, अजादि विभक्ति etc. which strike an agreeable chord in the student. This well-planned and neatly executed methodology has resulted in a translation that reflects the genius of the original and the grammar of the Vedic language with unerring vigour and precision. Dr. Shastri's translation is notable for another reason as well. It is here that the Greek and Latin terms used by Macdonell have been transliterated in the Devanāgarī letters which are not only convenient to read but also enable the student to compare them fruitfully with the corresponding Sanskrit terms he knows well with their inherent implications.

The best example of translation of the statement of Macdonell that 'phonetic *t* is added to *ya* in words like प्रकृत्य, प्रहृत्य is मुखसुख अथवा उच्चारणसौकर्य के लिये य् से पूर्व त् (पाणिनि की शब्दावली में तुक्) लगा दिया जाता है। In literal translation phonetic *t* would be ध्वन्यात्मक which would simply leave the Hindi readers cold. Dr. Shastri had to struggle hard to find a suitable equivalent for Macdonell's 'phonetic'. He thought about it for some time and then in a flash his memory led him to the *Mahābhāṣya* where its author, the master grammarian Patañjali, has explained the phenomenon of the addition of *t* to *ya* as मुखसुखार्थस्तकारः. Macdonell's 'phonetic' is nothing but मुखसुखार्थ. His deep study of the ancient Sanskrit grammatical texts has helped Dr. Shastri solve many a knotty problem in translation by culling from them the most suitable equivalents.

Besides the crisp technical rules of grammar fashioned by Macdonell in his inimitable English, the introductory/explanatory parts of the Vedic Grammar also do not submit themselves to easy translation. It is indeed hard to convey in Hindi the connotations of English phrases and idioms used to explain the tough grammatical precepts. Dr. Shastri has been acutely conscious of the hazards involved in translating a text like the 'Vedic Grammar'. He, therefore, did his best to convey the connotations of Macdonell's language in a Hindi that could echo it with utmost exactness. The excerpts that follow would give an idea of the pitfalls inherent in translating the 'Vedic Grammar', and the way Dr. Shastri has negotiated them with canny skill.

1. The prose of these works, however, to some extent represents better than the language of the Mantras the normal features of Vedic syntax, which in the latter is somewhat interfered with by the exigencies of metre. p. 1

तो भी इन ग्रन्थों (ब्राह्मणों) का गद्य कुछ सीमा तक मन्त्रों की भाषा की अपेक्षा वैदिक वाक्य-विन्यास की साधारण विशेषताओं को अधिक अपनाये हुए हैं, जिसका कि मन्त्रों में छन्दो-नुरोधात् किंचिन्मात्र भी पालन नहीं किया गया है।

2. The Optative is formed by adding the accented modal suffix combined with the endings to the weak perfect stem. The active forms are much commoner than the middle.

विधिलिङ् दुर्बल लिट् प्रकति से आने वाले प्रत्ययों से सम्पृक्त उदात्त प्रकाराभिधायी प्रत्ययों के लगने से बनता है। (इससे) परस्मैपद के रूप आत्मनेपद की अपेक्षा कहीं अधिक प्रचुर हैं।

A close comparative study of the 'Vedic Grammar' and the 'वैदिक व्याकरण' leaves little doubt that Dr. Shastri has virtually done the impossible.

III

Bodhisattvacaritam[1] : Hindi Translation

Dr. Shastri's Hindi translation of his *Bodhisattvacaritam*, a Mahākāvya in 14 cantos, is as enjoyable as the poem itself. The felicity of the language of the poem seems to have contributed in no small measure to the elegance of the translation. The diaphanous expression of the *Bodhisattvacaritam (BSC)* does not pose much of a problem to the translator to render it in the medium of his choice. But even the lucid phraseology at times does not lend itself to a coherent interpretation. Its simplicity may rather lull the translator into false smugness. Not unmindful of the debilitating constrains, Dr. Shastri has translated the mellifluous verses of the BSC in correspondingly lucid Hindi with a skill that the original finds precise expression in the translation. The rendering of the second half of XII.52

मासान् दशोदरगतः प्रियसच्चरित्रः पीतस्तनो मम सुतो यमभूत् पवित्रः as यह मेरा प्रिय सच्चरित्रशाली पवित्र पुत्र था जिसने दस मास मेरी कुक्षि में निवास किया और मेरे स्तन का पान किया–affords a sure peep into his notion of translation, which in essence

1. Meharchand Lacchmandas, Delhi, Second Edition, 1973]

means a faithful reflection of the original in a new garb. The apparently innocuous fourth quarter of XII.39 स्वस्थोऽप्यतद्गुणसहिष्णुतयाऽऽस्त वक्र: which may not yield itself to precise interpretation to a lay reader, has been aptly translated by Dr. Shastri as प्रकृतिस्थ (अथवा स्वर्ग में स्थित) इन्द्र भी उनके गुणों को न सह सका और उनके प्रतिकूल हो गया। It was impossible to translate वक्र: as प्रतिकूल हो गया unless one was abreast of its implication in the context. The crisp expression कृष्या कृतम् (XII.87) may have been normally translated as खेती बाड़ी से बस करो which is extremely bald, to say the least. Dr. Shastri's translation कषिकर्म का त्याग कीजिये echoes the wish and solicitude of the Lord of the heaven with precision. It is certainly more idiomatic to translate भूमिं हलेन कृषति (XII.17) as हल से भूमि जोत रहा था than धरती पर हल चला रहा था।

Dr. Shastri has many a device in his armoury to ensure a clearer understanding of the original. He often tends to treat the qualifying phrases and words as distinct units so that they may be rendered with great effect in pithy sentences. This is what he has done with the second hemistich of XII.12–

आयव्ययक्षययुता नचिरप्रभावा भावा विभान्त्यनुपदं पतनस्वभावाः।।

The three qualifying phrases have been rendered separately as संसार के पदार्थों की उत्पत्ति, क्षय तथा विनाश होता रहता है। इनका प्रभाव थोड़े समय तक रहता है। अन्त में नष्ट हो जाना इनकी प्रकृति है। In order to bring the translation in line with the idiom of the language he does not occasionally mind overlooking the grammatical niceties of the original. While translating the verse तदोन्मदन्ती कलिकाग्रदन्ती (VII.13), he has accorded more importance to the clarity of the Hindi expression than the feminine present participial forms used in it. With each clause rendered separately, Dr. Shastri's translation of the verse serves to highlight Unmadanti's physical charms with more clarity. The verse (XIV) describing Jīvaka's death in Canto Fourteen has also been translated in a similar vein, with the result the Sanskrit idiomatic expressions which were hard to render have mellowed down to submit themselves to the genius of the Hindi language. The last quarter दैवं त्वप्रतिरोध्यमित्ययमभूद् हन्त प्रमुक्तोऽसुभि: he has rendered as follows : किन्तु दैवगति प्रबल (अप्रतिरोध्य) है, (अत:) इसका प्राणान्त हो गया (प्रमुक्तोऽसुभि:)।

With a view to bringing the reader face to face with the true import of the original, Dr. Shastri not unoften makes bold to depart from the

traditional mode of translating the Sanskrit text. The second half of VI. 27, cautioning man against over-indulgence in carnal pleasures, न बुद्धिमांस्तेष्वधिकं रमेत, सुदुस्त्यजांस्तान् न च रोचयेत (V1.27) may sound simple, but it is not easy to express in Hindi the contours of connotations it conveys in Sanskrit. Dr. Shastri has rendered it in such lucid and direct terms that the message comes loud and clear. His translation reads as follows— बुद्धिमान् पुरुष को चाहिये, वह इनमें (विषय भोगों में) अधिक न रमे और न ही इनमें रुचि रखे क्योंकि फिर इनका छोड़ना दुष्कर होता है।

With his firm grip on the genius of the two languages, Dr. Shastri has given us an elegant and intelligible translation of the *BSC*, though it abounds in an array of complicated grammatical forms and lexical words which are seldom met with elsewhere.

IV

Subhāṣitasāhasrī[1]

Hindi and English Translations

Dr. Shastri's *Subhāṣitasāhasrī (SS)* stands on a different footing. Being a compendium of wise-sayings and epigrams drawn from an array of ancient masters, and intended to serve as a handy guide to a smooth and purposeful life, on the one hand, it forms a link in the long chain of Subhāṣita-saṁgrahas that had settled long back as an independent literary form, and, on the other hand, it has the trappings of an original work inasmuch as the text is followed by translations in Hindi and English by the compiler himself. Notwithstanding some distinct peculiarities of style and semantics, the *subhāṣitas* included in the anthology form a homogeneous entity. It is invariably composed of such lucid and delightful verses as voice the ancient wisdom in an intelligible language. But even in their simplicity they at times are quite demanding in the matter of interpreting them in a crisp phraseology. However, Dr. Shastri has resolved and rendered them in his inimitable way, turning out a translation that is as elegant as the original itself.

Dr. Shastri has happily come out with his perception of what makes a translation worth its while. In his view translation to be purposeful has to be faithful not only to the original but also to the language of

1. Rashtriya Sanskrit Sansthan, New Delhi, Second Edition, 2006

translation. Effective representation of the original moulded to the genius of speech in which it is being put, is what meets his approbation. Discordance between the two melts against the spirit of *bhāṣāsvārasya* which in essence forms the heart of an ideal translation. A close perusal of the *svopajña* (auto-) translations of the SS reveals it beyond cavil that, minor exceptions apart, Dr. Shastri has lived up to the norms set by him. It is also evident from it that the Hindi translation of the text, capturing as it does the nuances of the original more effectively, not unoften tends to steal march over its English counterpart, though that does not in any way impinge upon its excellence.

With a view to disseminating the ancient wisdom epitomized in the anthology the compiler is actuated by a keen desire to render it in an appropriate language that reflects the *summum bonum* of the text with fidelity. Happily he is armed with the rich equipment that the exercise presupposes. While his incisive insight in the semantics of Sanskrit enables him to pinpoint the nuances of thought expressed therein, he is equally at home in Hindi and English to enclothe them in an elegant phraseology. The sane approach has served to heighten the beauty and force of his expression while the translation as a whole is enlivened by this *svārasya* (accordance). The rendering of some of the verses included in the volume illustrates it with greater cogence.

The apparently simple verse from the *Hitopadeśa:*

न गणस्याग्रतो गच्छेत् सिद्धे कार्ये समं फलम्।
यदि कार्यविपत्तिः स्यान्मुखरस्तत्र हन्यते।।

is, in fact, a bit tricky. It is hard to put in translation, more so in Hindi, the exact drift of सिद्धे कार्ये समं फलं and मुखरस्तत्र हन्यते. The Hindi translation of the verse by Dr. Shastri, however, unravels their connotation with remarkable precision in delightful phraseology.

i. जन-समुदाय का अगुआ बन कर न चले, कार्य सिद्ध हुआ तो सब बराबर-बराबर फल के हिस्सेदार होंगे। यदि काम बिगड़ गया तो मार अगुआ पर पड़ेगी।

ii. One should not go at the head of a multitude; if the undertaking succeeds, the fruit is the same (i.e is shared equally by all); but if its fails, it is the leader who is killed. It is thrilling to render मुखरस्तत्र हन्यते as मार अगुआ पर पड़ेगी. It brings out the true essence of the Sanskrit expression in its entirety in common parlance. In comparison to it,

the English translation 'it is the leader who is killed', though faultless in itself, sinks into insignificance. It is too literal and narrows down the true implication of the original.

Manu's well-known precept embodied in the verse–

दृष्टिपूतं न्यसेत् पादं वस्त्रपूतं जलं पिबेत्।
सत्यपूतां वदेद्वाणीं मनःपूतं समाचरेत्।।

defies coherent interpretation in Hindi, its diaphanous expression notwithstanding. It may be alright to render *pūtam* as 'purified' in English, it is difficult to put it in intelligible Hindi that may echo its innate sense with clarity. Dr. Shastri seems to have hit the mark in translating it as छान कर

i. नजर से छान कर पांव धरे, कपड़े से छान कर पानी पिये, सच्चाई से छान कर शब्द उच्चारण करे, मन से छान कर आचरण करे।

ii. One should put down one's foot purified by sight, drink water purified by (straining with) a cloth, utter speech purified with truth, and behave purifying his behaviour with mind.

जामातुर्वक्रता तावद्यावच्छ्यालस्य बालता।
प्रबुद्धमात्रे सारल्यं प्रवृद्धेऽस्मिन् पलायनम्।।

seems to be so simple a verse to offer any difficulty in translating it in a language of one's choice. It is, however, not easy to convey the connotation of बालता, प्रबुद्धमात्रे, सारल्यं and प्रवद्धेस्मिन् in unequivocal terms. Dr. Shastri has unerringly detected it and projected it in his translation with winsome clarity.

I. दामाद की कुटिलता तब तक चलती है जब तक साला बच्चा होता है। जैसे ही वह समझदार होने लगता है, दामाद सीधा हो जाता है, जब (साला) बड़ा हो जाता है तो वह (दामाद) भाग खड़ा होता है।

II. The crookedness of the son-in-law is effective only till the brother-in-law is under age. As soon as he starts comprehending things, the former begins to behave and with his further gaining in age he just runs away.

It speaks volumes of the translator's skill to render सारल्यं as सीधा हो जाता है, and 'begins to behave', and प्रबुद्धमात्रे as जब वह समझदार होने लगता है।

The translations of प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैः etc. (p.240) are remarkable

for the finesse with which they have brought into relief the precise drift of words like नीचैः, विघ्नभयेन, मध्याः, प्रतिहन्यमानाऽ, उत्तमगुणाः One is convinced on reading them that even in translation, if done by an expert, Sanskrit is as enjoyable as by itself.

1. नीच लोग (अधम कोटि के लोग) विघ्न पड़ सकता है उस डर से काम प्रारम्भ ही नहीं करते हैं, मध्यम कोटि के लोग काम आरम्भ तो कर देते हैं पर विघ्न पड़ने पर काम (उसे) छोड़ देते हैं। बार बार विघ्न पड़ने पर भी उत्तम कोटि के लोग प्रारम्भ किये हुए काम को नहीं छोड़ते।

The verse from the *Dharmaśarmābhyudaya:*

अहो खलस्यापि महोपयोगः स्नेहद्रुहो यत्परिशीलनेन।
आकर्णमापूरितपात्रमेताः क्षीरं क्षरन्त्यक्षतमेव गावः।।

has brought out the grammarian in Dr. Shastri to crack the hard nut of the *double entendre*. The respective meanings of the verse are lucidly expressed in the translations.

I. कैसा आश्चर्य कि चिकनाई रहित खल की भी बड़ी उपयोगिता है जिसके खाने से ये गायें बिना आघात के (बिना लात खाये) ऊपर तक बर्तन भरा दूध अपने से ही दे देती हैं।

II. What a wonder: Even the deposit of oil without oily content has its great utility in that cows grazing on it yield milk, of themselves, without thrashing, to the extent of a brimful vessel.

I. दूसरा अर्थ

आश्चर्य है कि स्नेह के द्वेषी दुष्ट की भी बहुत उपयोगिता है जिसके पास उठने-बैठने से बिना किसी घाव के वाणी पात्र व्यक्तियों को कान तक पूरी तरह भर दूध देती है (अर्थात् शुभ वचनों का उच्चारण करती है।)

II. Other meaning

What a wonder : Even an unaffectionate half-wicked person has his great utility in that by coming into contact with him the speech yields milk (good words) by itself, without hurt, with the worthy ones having the fill of their ears.

A good number of verses included in the anthology, though seemingly simple, are beset with a corpus of knotty words and phrases which throw a spanner in rendering them with exactness. Dr. Shastri has dealt with them with his known expertise. But for resolving them, the verses would hardly lend themselves to coherent interpretation.

While it is beyond reproach to render the phrase गणयति धरित्रीं तृणसमाम् occurring in Bhartṛhari's famous verse परिक्षीण: कश्चित्स्पृहयति यवानां प्रसृतये etc. (P11) as धरती को तिनके के बराबर समझता है to translate it as 'treats the earth as a straw' in English would do violence to the idiom. Dr. Shastri has rightly translated it as 'attaches no importance to (the whole) earth'. It goes well with the genius of the language. With penetrating insight he has detected that the root *duṣ* at some point of time meant 'to deceive' as well. And that is upheld by the compound दुर्जनदूपितमनस: met with in the verse from the *Hitopadeśa*, दुर्जनदूपितमनस: सुजनेष्वपि नास्ति विश्वास: (p.12) दुर्जनों से धोखा खाने वाला or 'a person deceived by the wicked' is how it has been rendered by Dr. Shastri

And this indeed is what it denotes in the context.

In the hemistich न स्वयं स्तुतिपदे ग्लानिं गुणगणं नयेत् (P.23), the word ग्लानि poses quite some difficulty. It accords well with the context to translate the line as स्वयं अपनी स्तुति से अपने गुणों को कम न करे, and 'one should not diminish one's qualities by self-praise'. *Glāni* has evidently been used here in its primary sense of *hrāsa*, diminution. Reversely, the root *han* has been used in its secondary sense in Bhartṛhari's famous epigram दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या (P29). Dr. Shastri's translation of दैवं निहत्य as भाग्य के भरोसे न रह कर 'setting aside fate entirely' aptly voices its exact connotation here. The phrase कर्मण्येवानुधावति occurring in the verse अविज्ञाय फलं यो हि कर्मण्येवानुधावति (p.49), though apparently cryptic, has been unerringly rendered as कर्म करने को भाग पड़ता (लेता) है which is indeed what it implies here. Its English counterpart 'enters into an undertaking' is rather bald.

'She has nothing to do with a dullard' is a remarkable rendering of न जडरागिणी used in ज्ञानधर्ममृतो वश्या लक्ष्मीर्न जडरागिनी (p. 120). The Hindi translation, जड़ से उसे कोई लगाव नहीं though closer to the original, seems to have a different connotation. The two phrases अनागतविधाता and प्रत्युत्पन्नमति that occur in the well-known verse from the *Mahābhārata:*

अनागतविधाता च प्रत्युत्पन्नमतिश्च य:।
द्वावेव सुखमेधेते दीर्घसूत्री विनश्यति।।

are hard to put in translation, more so the former. The way they have been interpreted by Dr. Shastri has brought out the best in them. अनागतविधाता : जो होने वाला है उसका पहले उपाय करने वाला and प्रत्युत्पन्नमति : हो जो

रहा है, उसका उपाय उसी समय ढूंढ निकालने वाला। The rendering in English 'who provides for the future', and one 'who has presence of mind' seems to fall short of its Hindi counterpart.

Quite a few of the didactic epigrams also embellish the *SS*. Though well-known and seemingly transparent, it is rather difficult to express the import of some of them in direct phraseology. Thus it would be an affront to the idiom to translate the crisp saying अतिस्नेहः पापशङ्की (p. 4) as अधिक स्नेह पाप की शंका करता है। The fact is that deep love for someone leads us to fear the worst for him. An this is what Dr. Shastri's translation of the epigram echoes : अतिस्नेह के कारण पाप (अनर्थ) की शंका होने लगती है। In his English rendering he has, however, stuck to the original verbatim - 'Excessive affection suspects evil'. स्वल्पमप्युपकारकृते प्रत्युपकारं कर्तुमार्यो न स्वपिति is quite demanding. Unless resolved imaginatively it may well throw one out of gear. And, as is evident from its rendering, this has been done by Dr. Shastri with admirable precision. His translations read as follows: सत्पुरुष थोड़े से भी उपकार के बदले में जब तक प्रत्युपकार नहीं कर लेता तब कि उसे नींद नहीं आती। 'A good man does not get sleep till he returns even the small good turn done to him.'

It is with quite some hard thinking that one can afford to grapple with प्रस्तुतस्य विरोधेन ग्राम्यस्सर्वोप्युपक्रमः (p.242) प्रस्तुतस्य विरोधेन here stands for प्रस्तुतम् आरब्धं कार्य विरुध्य, implying thereby that all that is done contrary to the work in progress is not tenable at all. 'Anything against something in progress is unbecoming'; as Dr. Shastri puts it. His Hindi translation also breathes the same spirit: जो कार्य हो रहा हो उसके विपरीत सभी कार्य अशोभन होते हैं।

The epigram from the *Pañcatantra* प्रत्यासन्नविपत्तिमूढमनसां प्रायो मतिः क्षीयते (P 242) may lead an uncanny reader to verbal jugglery. Dr. Shastri has expressed its connotation with disarming ease. This is how he puts it in Hindi: जिन पर विपत्ति आने को होती है, उन्हें समझ नहीं आता कि वे क्या करें। उनकी बुद्धि प्रायः काम नहीं करती। Marvel of effortless expression indeed! The English rendering reads as follows : 'Those with adversity to set on them have confused mind. It is common that their discerning faculty fails them.'

In translating the *SS*, Dr. Shastri has tried his hand at a novel linguistic device. Confident of its greater force and suggestiveness, he occasionally

opts for the Urdu expression in preference to its Hindi counterpart. He is thus sure that the sense of the epigram भुजे वीर्यं निवसति, न वाचि (P.331) is better expressed in ताकत बाजुओं में होती है, जुबान में नहीं। Elsewhere he has given हुक्म उदूली as an alternative rendering of आज्ञाभंग (p.299).

V

Sanskrit Translation of Poems of Western Poets

While in translating the Sanskrit works Dr. Shastri has bared the ancient wisdom of the country to the English-knowing readers, his translation in Sanskrit verse of some of the writings of the Western poets seeks to bring the Sanskritists closer to other languages. His rendering thereof is marked by effortless ease and felicity to the extent that, more often than not, it reads like the original. The following excerpts from the Sanskrit version of the Hungarian poet Sándor Wores's poem bears it out:

क्षौमं वसाना मृदु चापि वासो
ऽवगुण्ठिता चारुणिमानिलेन।
धारा वहत्येव निरन्तरालं
सन्दीर्णसम्प्रोच्चशिलान्तरालम्।।

कुटीरमत्यन्तमसुन्दरं भोस्
तवागमे प्रेमपदं बिभर्ति।
सम्प्रस्थिता कुत्र नु दिव्यरूपे
किंचापि वा वांछसि नोग्निना त्वम्।।

• • •

9

Prof. Satya Vrat Shastri's Contribution to Thai Studies

Prativa Manjari Rath

It is an embarrassment for me to write on Prof. Satya Vrat Shastri's contribution to Thai studies. but at the same time I feel tempted to write on the topic as I have experience and deeply felt the admiration, the love and affinity to Thai people as well as the Indians in Thailand towards this great savant Prof. Shastri. A renowned Sanskrit scholar, an enquirer *par excellence,* a great Sanskrit poet, an eminent writer in the field of Indology and above all and excellent Acharya, Prof. Shastri is simply known as cultural Ambassador of India to Thailand. During my assignment as Visiting Professor of Sanskrit at Silpakorn University, Bangkok under ICCR, New Delhi, I was pleasantly surprised to note that Prof. Satya Vrat Shastri is the epitome of love, admiration and regard among the intellectual and cultural spheres of Bangkok in Thailand.

Thailand is a prominent Buddhist country of Southeast Asia, where Sanskrit had been promoted as a subject of study in a number of universities since a long time. Leading universities of Thailand like the Silpakorn University, the Chulalongkorn University, the Mahachulalongkorn Rajavidyalaya University, Mahamakatarajavidyalaya University etc. have Sanskrit in their study programmes. Sanskrit has deep influence on Thai literature and culture The Thai script was created following the Indian systems with more consonants and vowles added.

Prof. Satya Vrat Shastri has visited almost all the leading countries of Southeast Asia in academic context but his contribution to Thai studies has multiple facets as an excellent Acharya (Acharn in Thai), a sensible

admirer of Thai cultural heritage, a great poet and academician to upgrade Sanskrit studies, an ever vigilant researcher on inter–relation of India with Thiland on epigraphic, linguistic, literary and socio–cultural matters.

Prof. Shastri was appointed Visiting Professor of Indian studies in Chulalongkorn University, Bangkok for the first time in 1977 and from 1988 to 1990 he was again appointed as Visiting Professor of Sanskrit at the Silpakorn University, Bangkok under the aegis of Indian Council for Cultural Relations (ICCR), New Delhi. He upgraded Sanskrit studies in the Silpakorn University. Sanskrit as a subject has been included in the bachelor level of the Faculty of Archaeology.

Since its inception in 1995. Sanskrit was introduced in its Master's curriculum in 1974. Under his guidance and able leadership the Sanskrit Study Centre was established in it to promote Sanskrit learning and research. Under his leadership, the Department of Oriental Languages in association with the Sanskrit Study Centre has started Ph.D. course in Sanskrit from the year 2000. Silpakorn University is the first University in Thailand to introduce this course.

Her Royal Highness Maha Chakri Sirindhorn was the student of Prof. Shastri at the faculty of Arts, Chulalongkorn University. Her Royal Highness studied Sanskrit under the direct supervision of Prof. Shastri. She took two Master degrees, one in Pali–Sanskrit at the Chulalongkorn University and the other in Oriental Epiqraphy at the Silpakorn University, Bangkok. She became attracted towards Sanskrit studies being influenced by the impressire teachings of Prof. Shastri. In the words of Her Royal Highness Princess Sirindhorn "The study of Sanskrit is a useful tool to understand words written in Thai texts. In coining new words, naming people and places, Sanskrit offers more choices. In reading or composing Thai Chanda poety, the knowledge of Sanskrit prosody may help us to have more profound understanding of the beauty of the verses. I had the opportunity to study Pali and Sanskrit through the Western approaches as well as the Thai and Indian traditional approaches. These various methods complement one another and help me understand the language better. I would like to express my gratitude to all the teachers who taught me Sanskrit, the language of rich content and exquisite beauty, from which I benefitted so much for a good life in

these past years and I hope it will continue to lead my life towards the future". (*Sanskrit in Southeast Asia: The Harmonizing Factor of Cultures*, p.3) This expression clearly reveals the contribution of Prof. Shastri as an excellent teacher to promote interest in Sanskrit studies. In 2009, Prof. Shastri became the only Sanskrit poet to win the Jñanapīṭha Award, for his contribution to the enrichment of the language. The Award was conferred by none but the most dear Thai disciple of Prof. Satya Vrat Shastri, Princess of Thailand, Mahachakri Sirindhorn who was invited on the occasion as the Guest-of-Honour.

An excellent Ph.D. thesis entitled "Yoga Philosophy in Secondary Thought: Tracing Back to Yoga in Thailand's past" was prepared by Dr. Mrs. Amara Srisuchat under the able supervision and guidance of Prof. Shastri along with two other faculty members of the Silpakorn University, Dr. Chirapat Prapandvidya and Dr. Samniang Leurmsai.

The Thesis is the discovery of the perceptions and the interpretation of Thailand's past towards the Yoga philosophy through their literature and Art before the mid 19th century in the light of Hindu and Buddhist teachings. The thesis contains an excellent exposition of the philosophical connotations of Yoga in Sanskrit and Pali texts. Dr. Mrs. Amara Srisuchat who is serving now in the Bangkok National Museum has expressed her gratefulness to Prof. Shastri as follows: During my field work in India accompanied by my husband, we were overwhelmed by the kindness and hospitality of Prof. Dr. Satya Vrat Shastri and Acharn Dr. Usha Satya Vrat, who have graciously helped. To them we express our sincerest appreciation and deep gratitude". (Yoga Philosophy and Secondary Thought: tracing back to Yoga in Thailand's Past by Amara Srisuchat, Acknowledgments, page–F)

Prof. Usha Satya Vrat, Professor of Sanskrit and wife of Prof. Shastri had also taught as AMOC. Prof. in Silpakorn University from 1994 to 1998.

As professor Dr. Shastri is a true model of a kind and understanding teacher who combined the spirit of the enlightening Acharya with leniency and patience towards all his students.

Prof. Visudh Busyakul, the then Head of the Dept. of Eastern Languages of the Faculty of Arts, Chulalonkorn University Bangkok,

Thailand appreciating Prof. Shastri as a teacher says:– "In a sense it is difficult to define the rare quality of his teaching. Prof. Shastri was a true model of a kind and understanding teacher who combined the spirit of enlightening Adhyāpaka with leniency and patience towards all his students. He would persist in his explanation and not allow students to leave him until all the doubts in their mind had been cleared. Being the scholar of Indological studies, he was always ready and he got never tired to explain any questions directed towards him. (This spirit of a teacher in him) is a true merit that makes him highly respected and well liked by all his Thai students".

In 2001 he was honored as "outstanding teacher and writer" by Bibleoteca Pedagogica "I.C. Petrecu" and Biblioteca Indiana, Bucharest, Romania (Bibliography published by Sahitya Akademy, 21 September 2012, meet the author Satya Vrat Shastri)

His contribution as a poet: – In Prof. Shastri blend Oriental knowledge of Sanskrit and Occidental skills of interpretation. Being a Sanskrit poet, Prof. Shastri contributed excellent compositions in Sanskrit for which he is the most adorable Indian personality for Thai intellectuals as well as the Royal family of Thailand. His first stay in Thailand coincided with the celebration for the 200th anniversary of the founding of the city of Bangkok as the capital of the country in the early part of April of 1982. Although a new–comer to Thailand, he was able to spare time in composing an interesting Khaṇḍakāvya on Thailand entitled *Thaideśavilāsam*. This composition in Sanskrit deals in brief with Thailand's history, its places of historical and cultural interest and its tradition. Whatever he had acquired while touring through the countryside and studying about Thailand, he depicted in the poem along with fusing into them his own observation of the life style of the Thai urban and rural folk at different places. His poem also shows that he read a great deal, evidenced by his popular anecdotes concerning places of touring interest and by his report of literary activities of several kings of the Royal House of Chakri. His depictions are supported by an insight which is both objective as well as sympathetic. The depiction in *Thaideśavilāsam* is precise but at times necessarily brief as required by the exigencies of metrical schemes.

The *Khaṇḍakāvya* is tri-lingual, namely in Sanskrit Thai and English

and serves as a brief introduction to prospective serious tourists of Thailand. It is the first Sanskrit work specially written on Thailand. The work has been translated into Thai language by Princess Mahachakri Sirindhorn of Thailand. Eastern Book Linkers, Delhi published it in early 1979. Dr. Samba Shiva Murthy of the Jagadguru Ramananda Sanskrit University of Jaipur has translated it in Telugu along with pictorial presentation of the descriptions of the places and situations desctibed in each stanza. It is a new experiment in Sanskrit literature, both contemporary and ancient.

Another monumental literary contribution of Prof. Shastri to Thai studies is his *Śrīrāmakīrtiṃahākāvyam*, a Sanskrit Mahākāvya on the Thai *Rāmakien*. The kāvya is the first ever Sanskrit Mahākāvya on any of the versions of the Rāmā story of Southeast Asia. The kāvya contains Foreword by Her Royal Highness Mahachakri. Sirindhorn, the Princess of Thailand and is published by Moolamall Sachdev Foundation and Amarnath Sachdeva Foundation, Bangkok in1990. This is a voluminous work of twenty-five contos dealing with the Thai *Ramakien*, the Rāma story of Thailand. Prof. Shastri describes the Thai *Ramakien* in Sanskrit so that the story as told in the Thai version can be appreciated by scholars of India as well as of countries abroad.

King Taksin of Thonburi of Thailand (1767-1782) wrote a poem on some parts of the Thai *Ramakien* which is widely read in Thailand. At the beginning of the Rattanakosin era, King Rama I, the first king of the Chakri dynasty composed the most complete and comprehensive work on *Ramakien* in poetic form. King Rama II (1809-1824) composed a much shorter version of it for theatrical performance. King Rama VI traced in detail its origin and development. Different versions of the *Ramakien* are derived from various sources, from Bengal, the *Viṣṇupurāṇa* the *Hanumannāṭaka* and other *indegineous soures*. The Thai version of the Rāma story differs from all others. Prof. Shastri through his Kāvya in Sanskrit acquainted the people outside Thailand with the Thai version of the Rāma story.

The poet Prof. Shastri expressing his feeling about this Kāvya says that the uniqueness of this work is that it in its entirely was as if revealed to him. The uninterrupted flow of language, the excellent diction and the poetic expressions were so spontaneous that the entire Kāvya of

twenty-five cantos was written for once only without necessitating the change of any dot, any *mātrā* for the second time. The poet says "verse after verse started pouring in. It was just a labour of love, nobdy asking me to do it, no prompting, except that from within. It was a great Joy creating something in Sanskrit, the language of the gods, the Devabhāṣā, bordering almost on bliss. I have drunken from the cup of this joy to the brim the period I have been working on the Kāvya. It had been all spontaneous. I did not prepare any fair copy of the work from the draft which, as it is, was passed on to the typist for typing. This shows how the stanzas have come out of me well–formed in a variety of metres and rhythms. It seems some unseen power had been behind this" (Preface to *Śrīrāmakīrtimahākāvyam*, p.XV).

Whole staying at Puri as the Vice Chancellor of Shri Jagannath Sanskrit University, once Prof. Shastri narrated this to Prof. Gouri Kumar Brahma an eminent professor of Odia and a venerable Sanskrit poet. Professor Gouri Kumar Brahma closed his eyes after listening to this and exclaimed, "Professor Shastri ! you did not write this work. Some divinity positioned itself in you and made you write it." Thus what is termed myth came alive in his life.

Śrīraṁakītimahākāvayam was first published in 1990, and then the Second Edition came in 1991 followed by the third edition in 1995. This *mahākāvya* has beeṇ translated in six Indian and three foreign languages. First translation was in Kannada by S. Ranganath of Bangalore. This was followed by Assamese translation by Subrata Barua of Gauhati, Assam. Hindi translation was done by Mithilesh Kumari Mishra of Patna and Tamil translation by Rajalakshmi Srinivasan of Chennai. The translation into Telugu has been done by Ramakrishna of Vijayawada. Translation into Gujarati has been done by Madhusudana Vyas of Shyamalaji of Gujarat and into Malayalam by C. Rajendran.

The English translation of the work was prepared by Jiya Lal Kamboj of the Department of Sanskrit of the Hindu College of the University of Delhi, Delhi. The Thai translation was prepared by Dr. Chamlong Sarapadnuke of the Department of Oriental Languages of the Silpakorn University, Bangkok.

The *Mahākāvya* is published along with the pictorial presentations

of the situations and envents as found in the *Ramakein* scenes from Wat Phra Kaew, the Temple of the Emerald Buddha, Wat Suthat, and Wat Po all of Bangkok. This unique work has brought twelve national and all of international awards to Prof. Shastri. The translation of the work into seven Indian languages and three foreign languages is indeed a record for any modern Sanskrit work.

Prof. Shastri's another significant contribution to the languages of Southeast Asia including the Thai language is the interesting work entitled "Sanskrit Words in Southeast Asian languages". A project under-taken under the auspices of K.J. Somaiya Centre for Buddhist Studies. It was published by Somaiya Publication Pvt. Ltd, Mumbai in the year 2005. It contains Sanskrit loan worlds as found in different Southeast Asian countries like Indonesia, Laos, Malaysia and Thai. Prof. Shastri is the General Editor of this work. Dr. Chirapat Prapandvidya of Sanskrit Studies Centre of the Silpakorn University has enumerated more than seven hundred words in Thai language as Sanskrit loan words under the supervision of Prof. Shastri. The "Preface" of the book written by Prof. Shastri gives a critical analysis of the linguistic link between Sanskrit and Southeast Asian languages. In the words of Prof. Shastri, "it is this link that will bind the people of the countries of Southeast Asia with the people of India, the link that is vital in forging a common bond between them with enormous possibilities of bringing about better understanding which is precursor to goodwill, harmony and friendship". *(Sanskrit Words in South East Asian Languages, p. xvii).* His keen observation on the Sanskrit words in the languages Southeast Asia not only highlights his erudition in the field of Philology and Linguistics but also paves the way for the further socio–cultural study between India and Southeast Asian countries.

Another interesting work of Prof. Shastri is "Studies in Sanskrit and Indian Culture in Thailand" published by Parimal Prakashan, Delhi 1982.

His noted work *Discovery of Sanskrit Treasures*, Volume VI, South-east Asian Studies published by Yash publications Delhi, 2006 is an excellent presentation of Prof. Shastri's contribution to Thai studies. In this book he has highlighted many an aspect such as Indo–Thai Relations: Cultural Perspective, Brahmins in Thailand, Old Hindu Shrines of Thailand, Sanskrit Content in Thai, Suan Phak Kard Palace Sanskrit

Inscription from Thailand, Panom Rung Sanskrit Inscription of Thailand. His interesting account of "visit to Thailand" under the project "Journeys for cultural exploration" is an interesting account of some of his intimate experiences of visiting Thailand to attend the international conference on "Sanskrit– Unity in Diversity" organized at Bangkok from June 23-26,2005 by the Sanskrit Study Centre of the Silpakorn University to mark the 50th Birth Anniversary of Her Royal Highness Maha Chakri Sirindhorn, the Princess of Thailand.

Some of his writings in Hindi about the religion and culture of Thailand, Ayudhiya of Thailand, the character of Hanumān, Rāmakathā, based upon *Śrīrāmakīrtimahākāvyam,* the tradition of *guru–pūjā* in Thaideśa, the legend of Princess Navamāsa and the festival of Loi Krathong and a survey of Sanskrit women scholars of the Muslim community of Thailand represent an array of Prof. Shastri's observations and contribution to Thai studies.

Patrakāvyam vol. I (1998) and Vol. II (2008) published by Eastern Book Linkers, Delhi, are the two interesting works of Prof. Shastri where he shares with his friends and relatives his experiences. Sadashiva Kumar Dwivedi has written a detailed report on these two *Patrakāvya* Volumes *Caran Vai Madhu Vindati* is a book in Hindi language of 450 pages published by Vijaya Books, Delhi 2013, together with photographs. It is an account to Prof. Shastri's cultural travels across the world. His two books entitled *Studies in Sanskrit and Indian Çulture in Thailand* and *Thaideśa ke Brāhmaṇa* in Hindi provide a fascinating account of the powerful influence that the Indian culture and its repository, the Sanskrit language, have exercised on the cultural and social fabric of Thailand.

Besides the above, his other work related to Thailand is the "Sanskrit Inscriptions of Thailand". As many as 136 inscriptions have been collected by him form different parts of Thai Kingdom. Besides, Prof. Shastri has contributed immensely to the activities of Thai Bharat Cultural Lodge, Bangkok, Hindu Samaj, Bangkok, Geetashram, Thailand, Vishnu Mandir, Bangkok, Sikh Gurudvara, Bangkok and Arya Samaj, Bangkok by his erudite lectures on various subjects. He has as many friends in Thailand as in India and he is as well known there as in India. After he got the Bharatiya Jnñanpīṭha Award on 2009, a grand get-together was organized to felicitale him where Her Excellency the Ambasador of India to

Thailand Madam Latha Reddy greeted him along with many other intellectuals of Bangkok. He is very much popular and much awaited Indian Professor at Thailand's different Institutions.

Many scholars have studied the complete works of Prof. Shastri. Mrs. Kamal Anand, former Principal, Aditi Mahavidyalaya, University of Delhi has prepared her D. Litt. thesis on the complete works of Prof. Shastri which has been published in two volumes entitled "Saṁskṛta–Saṁskṛti Sādhanā" by D.K. Publishers, New Delhi. She is the first woman to receive D.Litt. Degree from the Punjab University. Dr. Satya Vrat Varma of Sri Ganaganagar, Rajasthan has written "Satya sudhā", a critical evaluation of Prof. Satya Vrat Shastri's creative works published by Eastern Book linkers, Delhi.The study of Prof. Shastri is an uphill task which is left to rising scholars.

To conclude, it will be justifiable to quote an eminent Professor of Thailand Prof. Visudh Busyakul about Prof. Shastri: – "The literary outpourings of Professor Shastri, his unassuming attitude and his vast learning testify to the still vibrant spiritual genius of traditional India.... Scholars like Prof. Satya Vrat constitute the shore that holds back the fury of the ocean which wants to ride and sweep away the soul of Sanskrit Culture". (Professor Satya Vrat Shastri: An Appreciation by Visudh Busyakul, Internet).

• • •

10

Satya Vrat Shastri– A Name That Spells Innovation

Chandrakant Shukla

The gifted son of Goddess Sarasvatī and doyen of Indology, Prof. Satya Vrat Shastri, who is worthy son of illustrious late Pt. Charu Deva Shastri, has justified each and every alphabet used in shaping his name. His name itself defines his qualities. They are specified as below.

S-Sagacious; **A**-Academician; **T**-Topper; **Y**-Yogī; **A**-Administrator **V**-Visionary and vibrant; **R**-Remarkable researcher; **A**-Angel; **T**-Teacher **S**-Studious; **H**-Harmonious; **A**-Adventurous; **S**-Spiritual; **T**-Theist; **R**-Repository of knowledge; **I**-Innovator

It goes without saying that the shining star of the Indological scholarly constellation, Prof. Shastri is one of the most eminent Sanskrit scholars and distinguished educationists. He is highly acclaimed in the scholarly world. Though living life with simplicity, he possesses within himself sweetness and light in abundance and has magnetism in his personality. Whoever visits him comes back not only delighted but also illumined. He is of working nature that too with zeal and earnestness. The one trait of his character that lifted him at once from the common run of great men is his unswerving self-confidence and zealous self reverence. He is always conscious of his own intrinsic worth and unfailing rectitude; and he always relies solely upon his own merits to achieve whatever he aspires.

To this globetrotting professor of divine language shifting from romanticism of his youth to the depth of scholarship comes like a fall cascading down the stair of stones. And why not, he received Sanskrit in the cradle of his childhood adopting and adapting himself to the knotty

incantations at an age when most children play with dolls and *gharonda* (toy houses).

For, his family has soaked and lived along the stream of Sanskrit, with the marquee of its exalted literature. The Jñānpīṭha awardee inherited Sanskrit from his grammarian father Charu Deva Shastri, also a noted scholar. It was, therefore, no surprise when Prof. Shastri composed poem at the age of 11. This is why, an extensively-travelled Sanskrit professor describes himself as "a poet by instinct and a linguist by training".

Shastri remained on his toes throughout his life. The Sanskrit scholar did post-graduation from the Punjab University in western India. And when it came to research, he travelled eastward. He did his PhD from the Banaras Hindu University, Varanasi. And again sought a northwest sojourn towards Delhi, where he embarked on teaching career, joining the Delhi University as lecturer.

By writing on him, it is not Dr. Shastri whose recognition goes up, rather the writer draws appreciation from all corners. This shows how a great personality Shastri is. *He now does not remain an individual but has become an institution* and everybody wants to gain knowledge under his able guidance.

Professor Shastri is a living legend who truly masters the Sanskrit language at all levels, be it traditional or modern. Neither Vedic nor Epic Sanskrit, nor the Aṣṭādhyāyī, nor its exceptions have any secrets for him. But to stop at Pāṇini is to barely scratch the surface of Satya Vrat's erudition. He is a Mahākavi. The art of poetry he masters so absolutely that his poetry may be compared to Kālidāsa.

His experience as a philologist, his sensibility as a poet and man of letters are exceptional, so exceptional that whenever one is asked to express an appreciation of any of his works, one feels a strange embarrassment due to the knowledge that nothing can be added to any judgement passed by him, nothing must be changed to improve it and nothing has to be taken away.

There is no exaggeration in stating that Dr Shastri is a personality who can talk, converse and lecture in Sanskrit, English, Hindi, Thai and many other languages with ease and fluency. He laboured and thereby

earned a place in the galaxy of Orientalists of international repute. His life has been a life of dedication to scholarship. He has made profound contribution for the advancement of Sanskrit language and literature.

Prof. Shastri is a personality having innovative ideas. These ideas have come to fore not only when he composes literature but also when anybody comes to him with questions on Indology and other related things. He has infinite patience and does not rest till the visitor is fully satisfied. He explains difficult concepts lucidly and clearly. As anyone acquainted with him would know, he constantly offers himself as an inexhaustible source of knowledge on most aspects of Indian lore. He wins admiration of all those who come in to contact with him. He is affable, modest, and generous in providing references. The literary outpouring of Prof Shastri is beyond imagination. He has no qualms if new words are coined or Sanskrit adopts ones from other languages.

Growth and development of Sanskrit has always been a primary agenda for Prof. Shastri. And, for this he has left no stone unturned. His efforts have brought to light the richness of Sanskrit and how people could be enraptured with Sanskrit. Even in the midst of his heavy pre-occupations, he snatches time for intellectual and cultural pursuits. He always remains in contact with contemporary Sanskrit scholars.

For those who believe that Sanskrit is an obsolete language should at least once visit Prof. Shastri and it is sure that he would change his opinion. He has used Sanskrit as a creative tool and has opened new arena for writing in Sanskrit. He is an eminent scholar, poet and critic. Being a poet at heart, Prof. Shastri could not let the time pass by without having Sanskrit poems flowing out of his pen. Prof. Satya Vrat Shastri is renowned both as a critic and as a creative writer. Some of his works are-

Ṣaḍṛtuvarṇanam—In the age of twelve, when children learn how to recite poems, Shastriji composed this poem of fifteen stanzas. Spontaneous overflow of powerful feelings from within him was an amazing experience for one and all related to him. This poem has now become a historic document. A very surprising aspect of this poem is the proficiency of its author in handling complex metres even at a very young age. From then on he has contributed to the literary world in various ways.

Bṛhattaraṁ Bhāratam—As Shastriji believed in something innovative he very unlike traditional poetry and very unlike the subject matter of the ancient epics, chose entirely different subject matter for this Kāvya. It unveils culture, arts, literature and architecture of the countries of Southeast Asia as also their glory and prosperity, briefly touching upon their history in a pleasant, rhythmic and poetic manner. It is a century of verses in different metres. The Kāvya describes those parts of the world known as Bṛhattara Bhārata.

Napuṁsakaliṅgasya Mokṣaprāptiḥ—It is a singular work of Shastriji. Here too Shastriji came up with something new and exceptional. This creation is well known as *laghurūpaka*. The uniqueness of the rūpaka is that characters are not human beings. They are allegorical. Its main purpose is to explain the uncertainty of gender in Sanskrit Grammar in humorous manner.

Śrībodhisattvacaritam—Shastriji came with this poetic work at the young age of thirty. This deals with nine Avadānas of Bodhisattva in fourteen cantos in a thousand verses. It is this which with its unconventional theme had established Shastriji as a poet of eminence. By narrating the stories of previous lives of the Buddha, Shastriji has come up with ideas that would be quite helpful in guiding humanity.

Śrigurugovindasiṁhacaritam—This is a maiden biography of Guru Govind Singh in Sanskrit poetry. It is an authentic account of the Sikh history in a poetic style putting it in the genré of an historical poem.

Indirāgāndhicaritam—This is a voluminous Mahākāvya of 25 cantos. Primarily, it describes the life of Smt. Gandhi before and after she became the Prime Minister. of India., the challenges and problems she overcame dexterously. However, it seems that just describing the character of Indira Gandhi was not his aim. By dint of this creation he has established the qualities that any leader should have for running the country in emphatic way.

Śarmaṇyadeśaḥ Sutarāṁ vibhāti—It is a century of verses in form of travelogue giving an account of the visit of Prof. Satya Vrat Shastri in 1975 to the Federal Republic of Germany. It is an account perhaps for the first time, of foreign journey of an Indian scholar. This travelogue is significant for developing an insight into the history of the country visited as also of its geography, society, art, literature, architecture and so on.

Thaideśavilāsam—It is an elegant Khaṇḍakāvya that gives in brief, the history of Thailand, and describes its places of historical and cultural interest and its traditional values. It reflects the glory of the cultural and religious relationship between India and Thailand. It is a wonderful tourist guide, the first of its kind in Sanskrit and that too, in verse form with a good sprinkling of poetic flashes.

Śrirāmakīrtimahākāvyam—This is a voluminous work of twenty five cantos. It deals with Ramakien (Rama story in Thailand). This is an epic poem in Sanskrit. It is the first ever Sanskrit Mahākāvya on any of the versions of the Rāma story of Southeast Asia.

Patrakāvyam—From very early age, Shastriji had developed a habit of writing letters in Sanskrit to Indological scholars. In due time, Shastriji had large collection of letters. He found that those letters could be of great use to Sanskrit scholars and learners. He arranged the letters chronologically and got them published under the title *Patrakāvyam*. It is first ever collection of letters in Sanskrit verse. It is the source of real delight to connoisseurs.

The Rāmāyaṇa-A Linguistic Study—It is a voluminous work. It is the first attempt of its kind in analysing and critically evaluating the language of the *Rāmāyaṇa* in all its varied aspects and, therefore, fulfils a long-felt desideratum. The twenty-four thousand verses of this great epic of India have been given here the most searching treatment and fresh ground broken in more ways than one. The study of the *Rāmāyaṇa* synonyms, phonetic tendencies, onomatopoeia, prepositional verbs, usage, etymologies and un-Pāṇinian forms, to mention only a few of the many topics dealt with exhaustively here, is bound to interest students of Sanskrit language in general and Linguistics in particular. The treatment of the subject is scientific throughout. The work is well-documented.

Dine-dine yāti madīvajīvitam—When Shastriji found that there was no diary in Sanskrit he decided to fill this blank. This work captures everything of his life in a given specific period. Moments of joy and happiness, moments of pain and anguish—all have found place in this diary. Clarity and forthrightness is the characteristic of the Diary. The diary is very first of its kind as far as Sanskrit literature is concerned. His new approach has been lauded by Sanskrit scholars.

While summing up, from amongst the sea of epithets that Shastriji has won in his illustrious lifetime, he has been a personality *par excellence*, the exemplary erudite entity and the embodiment of an eternal tower of light from which learning and scholarship keep emanating no end. He has been like the proverbial pitcher whose water refuses to be exhausted. It should not be taken as hyperbolic proposition when one of his worthy disciples ventures into terming Shastriji as the 'Saint' of Sanskrit as well as a 'Sentry' of the ancient language that has mothered all modern languages of the contemporary world.

• • •

11

Śarmaṇyadeśaḥ Sutarāṁ Vibhāti—An Appraisal

Nirmal Trikha

The Federal Republic of Germany is pioneer in the field of Indological studies. It has highly contributed to the study of ancient Indian life and to the study and interpretation of India's rich heritage. Indian scholars are deeply touched by the dedication of German scholars to Sanskrit literature. The love and admiration of German scholars for Sanskrit studies create emotional bonds in the hearts of the people of both the countries. Students and scholars of Indology year to visit Germany. *Śarmaṇyadeśaḥ Sutarāṁ Vibhāti* is an outcome of such long yearning. The work is a travelogue (*Yātrāvṛtta*) in Sanskrit. At the invitation of is Government Dr. Satya Vrat, Prof. and Head, Dept. of Sanskrit, University of Delhi, visited Germany from 17th to 25th June, 1975. He was not an ordinary traveller or tourist. He went there as a cultural ambassador. He recorded his impressions of Germany in Sanskrit Śataka tradition primarily for his inner satisfaction (*śvāntaḥsukhāya*).

The work is published by Akhila Bharatīya Sanskrit Pariṣad, Lucknow, with English travalation by Dr. Satya Vrat himself and German translation by Dr. and Mrs. Th. Ickler, Valuable suggestions of Shri Charu Ḍeva shastri are also incorporated in it.

Śarmaṇyadeśaḥ Sutarāṁ Vibhāti gives a brief account of Germany in a well-knit poetic form. Prof. Satya Vrat appreciates ever obliging and helpful Embassay of the Federal Republic of Germany in India. He gives graphic description of German cities and people. The spacious city of

Frankfurt is very attractive.[1] The city of Marburg Is charming[2]. The writer was captivated by its beauty[3]. The villages of Germany have neat and beautiful double-strayed clusters of houses,[4] lovely cars, well-cleaned roads, electric lights and all types of luxuries[5]. The capital city of Bonn lies on both sides of the river Rhine which is a feast for those people who visit if.[6] The writer describes the cities of Ankle, Rome[7]. Stuttgart, Heidelberg, Tübingen and is highly impressed by the hardworking and pleasing nature of the people of Germany. They are active, happy, prosperous, highly contented, high-minded and generous-hearted. They are deeply attached to their country[8]. Ladies and gentlemen of Bonn in Germany do their work intently as work is of utmost importance to them[9]. Mrs. Krüger is a good natured and considerate lady[10] Prof. Hahn is of gentle nature and sharp mind "Meetings with well known scholars like Wilhelm Rau, Gustav Roth, Stietencron, Berger[11] and others was very satisfying and fruitful[12].

The writer is delighted to see the love of Germany for Indological studies. At the entrance of the Seminar building at Götingen he saw a mantra from the *Atharvaveda* and a few beautiful lines from inscriptions

---

1. पुरं विशालं स्पृहणीयशोभं
   फ्रांकफर्तुनाम ....।।12।।
2. मार्बुर्ग्समाख्यां नगरीं मनोज्ञाम्।।15।।
3. तदीयशोभाहृतमानसोऽहम्।।17।।
4. द्विभूमिका:- 23
5. विद्युत्प्रकाशा दृढबद्धमार्गाः
   स्वच्छाः समस्तैर्विभवैः समेताः।।22।।
6. बॉनेऽस्ति राईननदोऽतिरम्यो नेत्रद्वयासेचनको जनानाग्।।41।।
7. Verses. 51, 54-55, 59, 93.
8. देशानुरागं परमं वहन्तो मनस्विनो नित्यमुदात्तचित्ताः।
   हृष्टाश्च पुष्टाश्च भृशं च तुष्टास्तरस्विनो यत्र जना विभान्ति।।9।।
9. Verse. 45
10. सौशील्यदाक्षिण्यगुणैरुपेता।।14।।
11. सौम्यस्वभावेन सुतीक्ष्णया च।।
    तत्प्रज्ञया ....।।40।।
12. Verses: 24, 28, 75, 83

of Aśoka.[1] He saw tuere the beautiful verses composed by Professor Waldt Schmidt to felicitate his Professor Sieg on his 80th birthday[2]. He was delighted and wondered at the flow, sweetness and tenderness of the verses[3].

Seminars on Indology are organized In Germany[4]. Prof. Satya Vrat attended the Indologiche seminar at Marburg. Scholars of both the countries gave each other free and frank account of their activities,[5] Dr. Satya Vrat had interesting discussions on śāstric topics[6]. He attended a seminar at Goettingen organised by Prof. Gustav Roth.[7] German scholars respect Indian scholars and listen to them carefully. Prof. Satya Vrat spoke to Professor Berger and other German scholars on Modern Sanskrit Literature. They were happy to get this information.[8]

German scholars participate in Indian indological activities. Scholars like prof. Thieme and others came to Delhi in connection with the 150th Birtu Anniversary of Prof Max Müller. Prof Thieme was present at the Sanskrit Drama Festival organized by the Department Sanskrit of the University of Delhi. He delighted the audience by his significant, coherent, sweet and lovely Sanskrit.[9] Prof Berger also attended the, Sanskrit Drama Festival.[10]

Śarmaṇyadeśaḥ Sutarāṃ Vibhāti is a poetic composition in hundred verses. It follows the śataka tradition of Bhartṛhari. It contains beautiful descriptions. The lovely country of Germany is described as adorned

---

1. प्रवेशकक्षेऽहमवालुलोके तत्सद्मनः साधुनिविष्टवर्णम्।
आथर्वणं मन्त्रवरेण्येकमशोकलेखाद्रुचिराश्च पङ्क्तीः।।
2. Verse. 33.
3. अहो प्रवाहः सुतरामहो नु माधुर्यलालित्यगुणास्तदीयाः।
आश्चर्यमित्येव वहन्नभूवं मग्नस्तदा तद्रसचर्वणायाम्।।36।।
4. Verse. 29
5. Verse. 24-25.
6. Verse. 26
7. Verse. 29
8. Verse. 56-57
9. आकंर्ण्य सुश्लिष्टपदं गभीरं लालित्यमाधुर्यगुणाकरं तत्।।82।।
10. Verse. 83

with green fields. Crops grow in it without much effort. It has long lakes.[1] The description of the city of Bonn is so vivid, tender and vibrant that the whole scene appears before the eyes of the reader.

Bonn lies on both sides of the river (Rhine). The hills skirting it impart unique beauty to it with its grassy highlands, the rich gardens, the islands, the houses with flowers along its banks, the farmers busy with the cultivation of the vines, the people given to different trades, strange looking small houses of the appearance of boats ..'[2]

The poet is attracted by the sky-scrapers at Bonn which has a lofty building of thirty two storeys.[3] He is astonished to see the imposing building of the Ministry of Post and Telecommunications which has five statues of tiger, kangaroo, elephant, bull and eagle, representing the five Continents of Asia, Australia, Africa, America and Europe respectively.[4] He saw the unique single-storeyed residence of the German chancellor which was all made up of big glass pieces.[5]

The poet is a great lover of nature. He describes the joyful sight of Black Forests, called so because of their dark colour. The Black Forests are lined with rows of trees and adorned with creepers.[6] These forests are described in the following manner:–

I was filled with delight, as I saw them, the long ones with their stately trees, interspersed with villages and towns, resorted to by the overworked people waiting to have rest, resounding with charming falls,

---

1. अकृष्टपच्यं खलु यत्र सस्यं हृद्यास्तथा शाद्वलभूमिभागाः।
दीर्घाश्चकासत्यथ दीर्घिकाः स शर्मण्यदेशः सुतरां विभाति।।7।।
2. कूलद्वये तस्य नदस्य तावद् बॉनाख्यमास्ते नगरं निविष्टम्।
यस्योपकण्ठे वलया गिरीणां सौन्दर्यमत्यद्भुतमर्पयन्ति।।
अधित्यकाभिः खलु शाद्वलाभिरुद्यानजातैश्च समृद्धिमद्भिः।
द्वीपान्तरीपैर् अनुकूलमत्र निवेशितैः पुष्पयुतैर्गृहैश्च।।
द्राक्षाकृषिव्यापृतकर्षकैश्च नानाविधोद्योगरतैर्जनैश्च।
नौकासमानाकृतिभिर्विचित्रैः स्वल्पाल्परूपैर्निलयैस्तथा च।।42-44।।
3. Verse. 46
4. Verse. 51-52
5. Verse. 53
6. तरुप्रतानैः समलङ्कृतानि प्रताननीभिश्च विभूषितानि।
श्यामाख्यया लोकसुविश्रुतानि श्यामायमानानि वनानि यत्र।।8।।

with cows sitting merrily or grassy meadows, adored with water channels and rivers, stretching out for many many miles, a great feast for the eyes.[1]

The poet is well-versed in the use of various alaṅkāras (figures of speech). Utprekṣā alaṅkāra is used In the description of sky-scrapers in the following way—

The sky scrapers appear as bridges between the earth and the heaven.[2] The lofty buildings appear as if it were the immensely beautiful forehead of a śāla tree.[3] It appears that the sky scraper having enjoyed the Rhine breezes likes now to enjoy the breezes in the higher regions, having seen the people on the earth, it now wants to see the beings in the heaven.[4]

It appears as if it were desirous of seeing the beauty of the city or carrying its fame to heaven.[5]

Śvabhāvokti alaṅkāra has been used with gentle touch in the descriptions of Bonn and Black Forests. The use of Ānuprāsa and Yamaka make this poetic composition sweet, vibrant and pleasing. Āryā, Anuṣṭup, Indravajrā and Upajāti are the metres used in the composition.

This, *Śarmaṇyadeśah Sutarām Vibhāti* is a descriptive poem which gives a graphic description in Sanskrit poetry of the Federal Republic of Germany; its people and places. Prof Satya Vrat is attracted by the natural beauty and material prosperity of Germany. He is impressed by its hard

---

1. श्यामाख्यनामानि वनानि रम्याण्यवेक्षितुं नेत्ररसायनानि।।
दीर्घाणि दीर्घैस्तरुभिर्युतानि ग्रामैः पुरैश्चान्तरितानि तानि।
विश्रामकामैः श्रमकर्शितैर्वा नानाजनैश्चापि समाश्रितानि।।
झरैश्च रम्यैरनुनादितानि सुखं गवाध्यासितशाद्वलानि।
जलप्रवाहैः परिशोभितानि स्रोतस्विनीभिश्च विभूषितानि।।
बहूनि तावत्खलु योजनानि विस्तीर्णतामापतितानि तानि।
नेत्रद्वयासेचनकान्यभूवमालोकमालोकमहं प्रहृष्टः।। 88-91.
2. अभ्रंलिहाग्रा बहुभूमिकाश्च भूमेश्च खस्यापि च सेतुभूताः।।10।।
3. चकास्ति तत्रैव महाविशालं शालद्रुमाकारवदभ्रचुम्बि।
द्वात्रिंशता भूमिवरैरुपेतं भालं पुरस्येव नितान्तशोभि।।46।।
4. राईनवातानुपभुज्य शीतान् नभःस्थवातानुपभोक्तुकामम्।
भूमिष्ठलोकानवलोक्य कामं द्युलोकजालोकनकौतुकार्थि।।48।।
5. पुरस्य शोभामिव वीक्षितुं वा तत्कीर्तिमारोपयितुं दिवं वा।
तस्यापि खस्यापि च सेतुभूतं दूराभिलक्ष्यं भवनं सुरम्यम्।।49।।

working, happy, good-natured, prosperous, coquetted and sharp minded people. He is delighted to see the love of German scholars for Sanskrit studies. As for the poetic value of the work, it is a very well knit, and sweet, composition in śatāka tradition and serves to fulfil the deficiency of travelogues (Yātravṛtta) in Sanskrit literature. The description of the city of Bonn with its sky-scrapers is one of the best in the work. The description of the Black Forests reminds one of the poetic style of Kālidāsa where he uses the expression *śyāmāyamānāmi vanāni paśyan*. The whole work kis replete with *padalālitya*). The poet has adorned his poem with various figures of speech. He is expert in the use of various metres. He is a great lover of nature.

Śarmaṇyadeśah Sutarām Vibhāti gives a message of Indo-German friendship. The work shows that German authorities have great respect for Indian scholars.[1] The purpose of writing this work is to make the wise people happy, to foster the friendship between India and Germany and to promote the love and attention among the people of both the countries.[2] The poem shows great love of the writer for his motherland Bhārata which he considers as the source of heaven and salvation.[3] Dr. Satya Vrat has compossed the poem as an offering to Lord Śiva, with the wish that may the Lord (Śiva), who gives happiness, bestow it on all.[4]

• • •

---

1. Verse. 54
2. सुमनसां विनोदाय
   कलयाऽपि समेधेत मैत्री यद्युभयोरपि।
   भारतस्य च शर्मण्यदेशस्य च सतां मता।।
   अनुरागः सम्प्रवृद्धिं यायाद्यद्यंशतोऽपि च।
   फलेग्रहिः प्रयत्नोऽयं मम कामं भविष्यति।।
   यदि भवेदुभयोरपि राष्ट्रयोः सकललोकसुखं सुखवर्धनम्।
   उभयमेव तदा दृढसङ्गतं रसमयं समयं गमयिष्यति।। 96-99।।
   Dr. Satya Vrat says that the friendship between the nations is like a tender flower which requires constant care and nourishment. If the present work were to do that it would have more than served its purpose.
3. स्वर्गापवर्गस्य च हेतुभूतां
   प्राप्तः प्रियां भारतभूमिमासम्।।95।।
4. विदधातु समेषां नः शिवतातिः शिव शिवः।।100।।

12
Sanskrit Writings of European Scholars— A Critique

Dr. Shashiprabha Kumar

I

I am delighted to have this privilege of introducing the latest, may be thirty first, book, authored by Prof. Satya Vrat Shastri who has been duly acknowledged as a *living legend in the field of Sanskrit*. Exceptionally endowed with both, creative as well as critical capabilities, Professor Shastri has only recently (on 16" July. 2013) been conferred with the highest honour of Sahitya Akademi in the form of Fellowship. Bestowed with more than hundred and one recognitions and awards including the prestigious '*Padmabhushana*'. Prof. Shastri belongs to a rare class of Sanskrit scholars which is dwindling day by day.

The first Jñānapīṭha Award to Sanskrit literature was bagged by Prof. Shastri who has also been honoured by Torino University, Italy and Silpakorn University, Bangkok. An effective teacher across seven countries of three continents, a gifted poet, a terse critic and a felicitous translator, Prof. Shastri has written pioneering works in Sanskrit, English and Hindi. His *Patrakāvyam* is a trendsetting work while दिने दिने याति मदीयजीवितम् is the first diary written in Sanskrit prose. Several travelogues from the pen of Prof. Shastri's bear a testimony to his never ending enthusiasm and unfailing memory besides admirable inter-personal relationships with Sanskrit scholars across cultures. Prof. Shastri's first literary poem was published in 1959 and his constant creative journey is still continuing.

II

The book *Sanskrit Writings of European Scholars* is the first ever

collectiȯn of Sanskrit writings by several scholars of different European countries. In fact, Sanskrit had entered Europe in the nineteenth century and had already found a fertile land there for its global growth and diverse development. No doubt, the European scholars have made tremendous contribution to Sanskrit studies by their valuable writings in numerous fields of the same in German, French, Russian, Italian, Polish and English languages. But prior to this book, there was no record at all of any Sanskrit writings of European scholars, as Prof. Shastri has himself clarified in the preface:

"No monograph comprising their Sanskrit compositions has come to my notice making it look like that they, with all their sound knowledge of Sanskrit, could not compose in it............ There have been till recently many Sanskritists even in India who, with all their massive scholarship and the mastery over the language, could not write or speak in it, they not having practiced it as a living idiom. But there were still some among them who could compose in it in an expression, chaste and chiseled. The same should be the situation even in Europe. There should be some scholars who could have been in a position to compose originally in Sanskrit. With this idea in view I started my search for their Sanskrit writings. I pursued my mission with all persistence and perseverance. And to my delight my efforts did not go in vein."

III

The innate quest of Prof. Satya Vrat Shastri for exploring the newer pastures, coupled with his keen sense of observation and remarkable zeal for collection of such academic material has resulted in the form of this valuable volume which has covered almost ten European countries and twenty one. European scholars. The total number of Sanskrit writings contained in this book amounts to 35 which are in different literary forms of prose and poetry and in various formats such as letters, translations, travelogues, memoirs, essays and speeches etc. The size of these writings varies from a single paragraph or verses upto 100 or 120.

To begin with, I would like to quote the four verses composed by Prof. H. Von Steitencorn, former Director of the of the Indian Institute of Indology at the University of Tübingen, Germany where Prof. Shastri was teaching as Visiting Professor. When Prof. Shastri had completed

his term and was about to return to India, then the German Prof. composed these verses as mark of love and administration he had for Prof. Shastri:

भारतराजधान्यां यो व्याकरणविदां वरः।
पारगः सर्वविद्यानां कवीनां मुकुटे स्थितः।।
शशास सत्यमावृत्य शास्त्री शास्त्रविशारदः।
शिष्याञ्शिक्षाशुश्रूषार्थाञ्शर्मण्यदेशमागतः ।।
स्मृतिः सुरमणीया स्यात्स्वकर्मसु सुहृत्सु च।
दूरे वसन्नदूरेऽस्तु हृदि मैत्रीं प्रवर्तयन्।।

IV

Now, please relish the poise of Sanskrit prose authored by a Polish scholar, Stuzkiewicz which he wrote on the occasion of Name Day of his Guru Gawronski.

"अद्य खल्वष्ट्यङ्गपातत्वेन गुरून् प्रणमामः। द्वे एव वर्षे अस्माकं गुरुभिरध्याप्यमानानां पर्यायं गते। किन्तु संवत्सरयुगमात्रमूढं दुष्करं यदि सत्यमुद्विग्नकम्पाः संस्कतविषयालवाल उपदेशप्रभृत्यध्यापनोत्सेकादिव्यापारशतपोषिताः शिष्यपादपास्तिष्ठामः। गुरुज्ञानसूर्य-प्रभववाग्विशेषरश्मिपुञ्जबलेन च लवमात्रशेषीकृतसूचीभेद्यान्धकारा वर्तामहे। अथवा जातभेदावस्थान्तरत्वेन शुभोक्त्यादिमधुलालसाः पाठकमिलिन्दभूताः संस्कृतपुस्तकोद्यानेषु गुरुपादादिष्टमार्गा यथासुखं पुष्पात्पुष्पं पतामः। एतत्प्रतीन्धनजनितहर्षशिखाप्राग्भारत्वे बृहद्भानुकल्पीभूता अपि न तावद् आश्रयाशं यथार्थनामानं विदध्मः। अद्य गुरुनामोत्सवे भक्तिबहुमानादिपरिवारा साक्षादिव वपुष्मती कृतज्ञता शरदां शतं जीवत सर्वाण्यपि रोगाध्यादिरूपाणि दुःखानि दोर्घायुस्तेजःप्रभावोत्पादितोत्कटभयकान्दिशीकीकृतान्यतिमात्र बाधितविरोधिमनांसि दूरतो वर्तन्ताम् इत्यादिभिः स्वान्तारामप्रभवैराशीर्वाद-सुमनोभिरवतंसवष्टितोत्तमाङ्गान् गुरून् कुर्मः।

"The highly ornate style of the above passage easily reminds of Bāṇa. In it similes and metaphors vie with each other. The author shows his skill in drawing a verbal picture through them. The pupils, that include himself, evidently, he speaks of as tress that are nurtured through sprays of water in the form of instructions and host of such other activities in the basins of the subject of Sanskrit, their blinding darkness in the form of their ignorance being dispelled by the rays of the sun in the form of the knowledge ingrained in the Professor. The skill of the author in the use of words assumes new dimensions

when he speaks of the flame of joy among them, the pupils, issuing from the firewoods, the knowledge of the teacher who is the source of it. His gratefulness (to his teacher) he speaks of as assuming on the Name Day a physical form as it were with devotion and regard as family members."

—Prof. Shastri.

V

We, the Sanskritists, of India as well as other countries, are all very familiar with the *Wörterbuch* or the *St. Petersberg Sanskrit–German Dictionary*, compiled by two German scholars, namely Rudolf Roth and Otto Bothlink. On the occasion of Bothlink's birthday, another German scholar Cowell had composed a Sanskrit vesre which runs like this:

यशः श्रमेणैव नरैरुपार्ज्यते श्रमेण कोषोऽपि समाप्तिमाप्तवान्।
श्रमे व्यतीते वदते सरस्वती ध्रुवं स कोषोऽप्यमरो भविष्यति।।

the pun in the last line of the verse needs to be noted which signifies that just as an earlier Indian Sanskrit dictionary नामालिङ्गानुशासनम् compiled by अमरसिंह became popular as अमर (immortal) कोष, similarly this dictionary would also become immortal.

Cowell had also composed a Sanskrit verse on the completion of fifty years for Maxmuller which is reproduced below:

रयेण तुल्या व्यतियान्ति वत्सराः जरावशं यौवनमाशु नश्यति।
अलं शुचा किं परिदेवनैर्गुरो क्वदेहराहुः क्व यशःसुधाकरः।।

In this Cowell had compared years to speeding (waters) and the youth making a quick exit having come under the grip of age. He counsels him not to grieve over it nor also to feel sad. How opposite to each other are the two: राहु in the form of the mortal frame and the moon in the form of the fame. The use of क्व in the verse cannot but remind one of the use of it by कालिदास in रघुवंश

VI

Interestingly, another German scholar C. Cappellar had translated in Sanskrit one hundred stanzas from Greek poets such as Homer, Theocritus etc. known as यवनशतकम् the whole of which is included in the book. A few of these are being quoted below for presenting a flavor of Sanskrit poetry by the German scholars:

न हि कश्चिज्जनो दैवमतिवर्तितुमर्हति।
क्षुद्रकः स्यादुदारो वा जन्म यो लब्धवान्भुवि।।

× × × × × × ×

न हि प्राणिषु सर्वेषु महीतलविसर्पिषु।
शोचनीयतरः कश्चिन्मनुष्यादिति मे मतिः।।

× × × × × × ×

प्रीतिः प्रीत्या प्रतिग्राह्या दर्शनेन च दर्शनम्।
दात्रा दानपरे भाव्यमदात्रा दानरोधिनि।।

× × × × × × ×

मम वाणीमयं तेजो ददौ देवी सरस्वती।
अन्यद्वियुतममन्येषु राजा तु शिखरायते।।

अहो विरलता नृणां सहभुवं
जनेऽभ्युदायिनि क्षमां विदधताम्।
विषं हि हृदये द्विधा दहति नो
निजाश्च विपदः परस्य च
सुखम्।।

× × × × × × ×

मा विषादं गमस्तात श्वो हि श्रेयो भविष्यति।
आशा धारयति प्राणान्मृता एव निराशकाः।।

Cappeller had also translated in Sanskrit more than a hundred *subhāṣitas* from German poets in the book सुभाषितमालिका from which one hundred and twenty such Sanskrit verses alongwith their original in German have been included in the present volume compiled by Prof. Shastri. A select few of these are being quoted below:

रुवन्ति प्रथमे कर्णे तुदन्ति मशकास्ततः।
भाषन्ते मधुरं यावद् व्रणयन्त्यपरं खलाः।।

× × × × × × ×

एकस्मै महती देवी विद्या यज्ञैरुपासिता।
अन्यस्मै जीवनायैव गौर्यथा क्षीरदायिनी।।

× × × × × × ×

मुमूर्षुरद्यैव धनानि भुङ्क्ष्व
जिजीविषुस्तानि सदैव रक्ष।
यो रक्षति स्वानि धनानि भुञ्जन्
भुङ्क्ते च रक्षन् स जनो विपश्चित्।।

× × × × × × ×

श्याममेघावलीलीनमिन्द्रायुधमिवोज्ज्वलम् ।
विषयाणामतीतानां स्मरणं चेतसि स्थितम्।।

× × × × × × ×

सर्वेष्विह धनेष्वाहुर्यशो धनमनुत्तमम्।
भस्मीभूते शरीरे हि पुण्य कीर्त्तिर्न नश्यति।।

× × × × × × ×

अद्य श्वश्चैतयोर्मध्ये दूरमत्यन्तमन्तरम्।
यावत्स्वस्थशरीरोऽसि कुरु यत्कार्यमस्ति ते।।

VII

The book also carries Sanskrit verses composed by H.H. Wilson, former Principal, Sanskrit College, Calcutta in response to the request of a Sanskrit Pandit (when the then Governor General of India, Lord William Bentinck received a recommendation from Macaulay in pursuance of his new education policy in 1835):

विधाता विश्वनिर्माता हंसास्तत्प्रियवाहनम्।
अतः प्रियतरत्वेन रक्षिष्यति स एव तान्।।

अमृतं मधुरं सम्यक् संस्कृतं हि ततोऽधिकम्।
देवभोग्यमिदं यस्माद् देवभाषेति कथ्यते।।

न जाने विद्यते किं तन्मधुरत्वं हि संस्कृते।
सर्वदैव समुन्मत्ता येन वैदेशिका वयम्।।

यावद् भारतवर्षं स्याद् यावद् विन्ध्यहिमाचलौ।
यावद् गङ्गा च गोदा च तावदेव हि संस्कृतम्।।

VIII

There is another significant Sanskrit writing of T. Burrow, the then Boden Professor of Sanskrit at Oxford University who composed four

verses when the Sanskrit Department was being shifted from the famous Indian Institute building. Prof. Shastri rightly comments that Burrow has expressed his shock and anguish in these verses and that the last verse (where he has compared the building with the dismal looking अयोध्या with राम out of it in exile) is sure to touch a special chord with Indian readers:

विद्याविहीना शालैषा परैर्नीता पराभवम्।
अयोध्या प्रोषिते रामे नष्टश्रीरिव शौचति।।

IX

Besides the above, the book compiled by Prof. Shastri contains Sanskrit writings of Aurel Stein (handwritten letter addressed to Nityanand Shastri of Kashmir) and Tottosi Csaba of Hungary, A.W. Stratton of Holland, J. Ph. Vogel, Klaus Brün and Alois Payer of Germany; Stefano Piano and Gianni Pellegrini of Italy, Phillipee Vouin and P.S. Filliozat of France; M.K. Byrski and Rucinski of Polland; Kalyanov (who calls himself कल्याणमित्र) of Russia, young Miquel Peralta of Spain and Mans Broo of (Helsinki) Finnland. This in itself is an indication of the richness and variety of the book which must be and will definitely be read by each and every Sanskrit student all over the world.

X

To Sum up, I would like to congratulate and complement Prof. Satya Vrat Shastri on my own behalf and on behalf of all of you for bringing out this masterpiece in global Sanskrit studies. Let us all wish and pray for his long life, sound health and untiring contribution to the cause of mother Sanskrit. May I conclude with a Sanskrit verse from this book itself which was composed in मन्दाक्रान्ता metre by Waldt Schmidt of Germany for his guru Emil Sieg when he attained the age of eighty.

जिज्ञासूनां त्वमसि शरणं बुद्धिधारापयोद-
स्तर्कोपेतश्चतुरमनसा चारु निर्मुक्तशङ्कः।
आकाङ्क्षामो हृदि तव हितं तेन चोच्चैर्ब्रुयामो
जीवेच्छ्रीमान् जयतु जयवान् वर्षनानाशतानि।।

• • •

13

Introducing New Works on Sanskrit : An Appraisal

Jiya Lal Kamboj

Books on various subjects have been and are being published in modern times, but it is perhaps for the first time in the history of literary world, that a big collection of Forewords to new works on Sanskrit by Dr. Satya Vrat Shastri entitled *Introducing New Works on Sanskrit* has come to light. Dr. Satya Vrat Shastri is in the habit of wading through new fields and exploring new strata. He is not only a critic but a creative writer also. To his credit he has three Sanskrit Mahākāvyas, a Prabandhakāvya and three Khaṇḍakāvyas. In the recent past he has published the first ever *Patrakāvya* (in two volumes), the first ever diary in Sanskrit *Dine Dine yāti Madīyajīvitam* and the first ever autobiography in Sanskrit *Bhavitavyānāṁ Dvārāṇi Bhavanti Sarvatra* (in two volumes).

Dr. Satya Vrat Shastri has been contributing Forewords to books since long. He had begun writing Forewords to newly written books even when he was a student. His revered Guru Pandit Shuk Deo Jha wrote a book *Vaiyākaranabhūṣaṇasāraprakāśa*, a commentary on the tough grammatical text, the *Vaiyākaranabhūṣaṇasāra* of Kauṇḍabhaṭṭa. The Guru insisted on the Śiṣya to contribute a foreword to the book, ignoring his protestations to avoid the embarrassment and discomfort that it would cause him. The Śiṣya had to fulfill his wish and the work done by him was very much appreciated not only by the Guru but by other scholars of Grammar also.

Among the Sanskritists of India, it is most probably Dr. Satya Vrat Shastri, who has contributed the maximum number of Forewords to an array of books in or on Sanskrit. By the time he made up his mind to

bring the forewords contributed by him to various works, in a book form, he had already written as many as one hundred and thirty, of which he picked up one hundred and twelve only, pertaining to Sanskrit books, for publication.

It is a general practice among the authors and editors that as soon as they publish a new treatise or book, they haste to approach critics, expert judges and higher authorities, in the respective fields, for forewords to their works. It is so because they feel that the words about their works coming from the expert critics, well-known figures and higher authorities would up their rating and add value to them. This is the reason that contributing forewords to new literary works has become an accepted practice.

There are generally two categories of foreword writers. One category is of those who are not very serious about this work. For them it is just a formality. They think that a few words of blessing, good wishes and encouragement are enough, or some words of praise would do. The persons of the second category, on the other hand, are very serious about it and take the work as their sacred duty. They have to have a thorough mastery over the subject whereon the book is written. The book to which a foreword is to be contributed may have hundreds of pages, but they have to go through it very carefully and delve deep in the subject matter it deals with. They probe deeply into the work in hand, digest what it contains, make a careful analysis of it and then pronounce themselves on it to readers in a very succinct, lively, flavoury and interesting form. Foreword is not just a precise, a summary or an abstract of a work, but it has to be more than that. It has to reflect, as the author himself says, "the in-depth knowledge of the subject the book deals with, the knowledge that will have to match the knowledge enshrined in the book or may be, carry it a notch higher by the foreword writer's own input. That will turn the foreword into an art rather than an insipid exercise. The author likes to put himself in this category of the foreword writers. For him it is an obligation with total involvement. He has taken to it all through in this spirit. It is this which has resulted in an appearance of the present volume of more than four hundred pages.

The books to which the author has contributed forewords cover a

wide variety of disciplines such as Veda, Epics, Purāṇas, Classical literature, Religion, Philosophy, Culture, Society, Politics, Grammar, Linguistics, Semantics, Poetics, Lexicography, Art, Music, Agriculture and Hunting. They cover a vast range from literature to science, from philosophy to religion, from lexicography to grammar and linguistics, from poetics to semantics. "In literature the forewords deal with works of old and new, the Vedas and Upaniṣads, the *Rāmāyaṇa* and the *Mahābhārata*, the Kāvyas of all types including the ones with humour in all its varieties of satire and punch, the prose writings and the plays, big and small with a bewildering variety of themes like the creation of Bangaladesh, the dowry system, the life and contributions of Max Müller, the family planning, corruption and terrorism. The prose works in their modern *avatāra*, incarnation, break fresh ground in introducing short stories and novels. So do the works on drama in introducing One-Act and Radio plays."

Of the works to which the author has contributed forewords there is wide variation in themes. Apart from the conventional subjects they deal with such unconventional ones as agriculture in ancient India, the library science, the economic survey of India, the physical and natural sciences of India, the art of hunting and so on. A few of them also deal with such subjects as the account of their authors of their foreign travels like the *Nisargasarasāñjaliḥ* which gives an account of travel to Brazil, or an account of life and achievements of one of the more recent of the rulers of Mewar, Ajeet Singh.

The forewords are in all the three languages Sanskrit, English and Hindi. There is a peculiarity here that the forewords contributed to books are generally in the languages in which they are written. But there are many exceptions too. The forewords to many Sanskrit works are in English, or in Sanskrit and English both. The foreword to a Sanskrit book *Rāṣṭrasmṛti* is in Sanskrit with Hindi translation. Forewords in Sanskrit are both in prose and verse. Many a time the poet in the author takes the upper hand and verses from his mouth begin to flow as water from a fountain and he goes on non-stop. We see that the longest foreword to the *Vaidikabhaiṣajya*, the Vedic Medicine, has as many as sixty four verses, preceded by 4 pages of introduction in English. First 28 verses are in Bhujaṅgapravāta metre, next 23 verses in Anuṣṭup metre and the last

one is in the *Śāradūlavikrīḍita*. The others are not too small either. They go up to the figure of forty, thirty and twenty one. Some of those in Hindi and English are so exhaustive as to give the appearance of review articles. For instance the foreword to the novel *Tapovanavāsinī* covers 24 pages, to the play *Bāṅgalādeśodayam* 18 pages, to the *Rāmāyaṇa* Tradition in Historical Perpective 13 pages and to the Scientific Knowledge in Sanskrit literature 9 pages.

All the forewords have been divided under eight heads according to their themes. They are 1. Vedic literature (22 forewords), 2. Epics and Purāṇas (5 forewords), 3. Philosophy and Religion (11 forewords), 4. Grammar and Semantics (8 forewords), 5. Poetics and Literature (44 forewords), 6. Science (4 forewords), 7. Society and Culture (8 forewords), and 8. Miscellaneous (10 forewords). The largest number 44 of the forewords falls under the head Poetics and Literature, and the Smallest number 4 under the head Science. The largest foreword is to the *Tapovanavāsinī* (a Sanskrit Novel) which is spread over 24 pages, and the smallest one is *Kiñcitprāstāvitam* which covers less than a page.

The corpus of forewords presented in the volume under reference apart from the depth of knowledge that they carry are noteworthy for their diction as well which makes them delightful in reading. They represent—quite a few of them—poetry in prose whatever the medium. This collection of them introduced a new genré in Sanskrit critical literature and deserves consequently full plaudits of the scholarly community.

• • •

14

'श्रीबोधिसत्त्वचरितम्' की समीक्षा

केदारनाथ शर्मा, उमेश पौडेल

'श्रीबोधिसत्त्वचरितम्' चौदह सर्गों का एक महाकाव्य है, जिसका प्रकाशन सर्वप्रथम 1960 ई. में मेहरचन्द लक्ष्मणादास, दिल्ली की प्रकाशकत्व में हुआ। यह काव्य संस्कृत के प्रकाण्ड विद्वान् डॉ० सत्यव्रत शास्त्री की कवित्व शक्ति एवं असीम वैदुष्य का प्रतिफल है। डॉ० सत्यव्रत शास्त्री का जन्म 29 सितम्बर, 1930 में पश्चिमी पाकिस्तान लाहौर में हुआ। इनकी प्रारम्भिक शिक्षा अपने पिता अभिनव पाणिनि पण्डित चारुदेव शास्त्री की देखरेख में हुई। पंजाब विश्वविद्यालय से 1944 एवं 1953 में इन्होंने क्रमशः शास्त्री तथा एम.ए. की परीक्षाएँ उत्तीर्ण कीं। 1955 में इन्होंने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से पी-एच.डी. की उपाधि प्राप्त की। कारयित्री एवं भावयित्री प्रतिभाओं के धनी डॉ० शास्त्री ने अनेक शोध एवं काव्य ग्रन्थों की रचना की, जिसमें तीन महाकाव्य, तीन खण्ड काव्य, एक प्रबन्ध काव्य, एक पत्र काव्य, और पाँच समीक्षात्मक ग्रन्थ है। जिसमें शास्त्री जी की महत्त्वपूर्ण रचनायें हैं।

रामकीर्ति महाकाव्य, बृहत्तरं भारतम्, श्रीबोधिसत्त्वचरितम्, शर्मण्य देशः सुतरां विभाति, Discovery of Sanskrit Treasures (सात खण्डों में) Human values, चरन् वै मधु विन्दति

Essays on Indology

The Ramayana : A Lingusitic Study

The Concept of Time and Space in Indian Thought

वैदिक व्याकरण (मैक्डॉनल कृत A Vedic Grammar for Students का हिन्दी अनुवाद)

षड्ऋतुवर्णनम् (खण्डकाव्य)

श्रीगुरुगोविन्दसिंहचरितम् (खण्डकाव्य)।

इसके अतिरिक्त डॉ० शास्त्री के 100 से अधिक शोध निबन्ध विविध शोध पत्रिकाओं में प्रकाशित हैं। डॉ० शास्त्री का उनके महनीय साहित्यिक योगदान के लिए 1968 में साहित्य अकादमी पुरस्कार भी मिल चुका है। डॉ० सत्यव्रत शास्त्री दिल्ली विश्वविद्यालय के संस्कृत

विभाग में कई वर्ष आचार्य एवं अध्यक्ष रहे हैं एवं एकाधिक विश्वविद्यालय के कुलपति भी रह चुके हैं।

प्रो० शास्त्री द्वारा रचित महाकाव्य 'श्रोबोधिसत्त्वचरितम्' में बोधिसत्त्व के उदात्त कर्मों की कथा को काव्य का रूप दिया गया है। बोधिसत्त्व-यह समस्त पद है, जिसमें बोधि और सत्त्व ये दो शब्द हैं। इसमें 'बोधि" का अर्थ है-बुद्धत्व या ज्ञान तथा "सत्त्व" का अर्थ है-प्राणी ! अर्थात् बुद्धत्व की प्राप्ति करने के लिए प्रयत्न करने वाला प्राणी। बौद्ध दर्शन की परिभाषिक शब्दावली में बुद्धत्व प्राप्ति के पूर्व जन्मों में दान, शील आदि पारमिताओं द्वारा बोधि-प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील प्राणी "बोधिसत्त्व" कहलाता है। जातक कथा में उसी "बोधिसत्त्व" के जीवन की किसी महत्वपूर्ण उपदेशप्रद घटना का आख्यान होता है। बुद्ध बनने से पूर्व भगवान् बुद्ध बोधि-प्राप्ति के लिए प्रयत्न करते रहे। अतः प्रयत्नावस्था में बोधिसत्त्व थे, परन्तु शाक्यमुनि के रूप में जब उन्हें बोधि प्राप्त हो गयी तो वे बोधिसत्त्व न रहकर 'बुद्ध' बन गये। इस प्रकार "बोधिसत्त्व" भगवान् सुगत की पूर्ण बोधि की प्राप्ति से पूर्व की अवस्था का नाम है। बौद्ध धर्म की मान्यता के अनुसार बुद्धत्व की प्राप्ति के पूर्व तक भगवान् सुगत अनेक योनियों में जन्म लेते रहे। क्रमशः अनेक जन्मों में सद्गुणों का विकास करते हुए पारमिताओं को उपार्जित करते हुए, जीवों का कल्याण करते हुए भगवान् ने अन्त में शाक्य मुनि के रूप में बोधि प्राप्त की। पालि में रचित जातक ग्रन्थों[1] एवं संस्कृत के कतिपय जातकों[2] में भगवान् बुद्ध की पूर्व जन्मों की घटनाओं, उनके तप, त्याग, दया, क्षमा आदि सद्गुणों, पारमिताओं तथा बौद्ध धर्म के अन्य सिद्धान्तों का कथा रूप में आख्यान मिलता है। श्रीबोधिसत्त्वचरितम् में भी लेखक ने बोधिसत्त्व के विविध अवदानों की कथाओं को परिष्कृत काव्य शैली में प्रस्तुत करने का सफल प्रयास किया है।

श्रीबोधिसत्त्वचरितम् के चौदह में से नौ सर्गों में विभिन्न रूपों में बोधिसत्त्व के अवदानों की कथा परिष्कृत काव्य शैली में उपन्यस्त किया गया है। बोधिसत्त्व के इन नौ रूपों में से चार रूपों में (द्वितीय से पंचम सर्गों में) बोधिसत्त्व को राजा के रूप में वर्णित किया गया है, दो रूपों में (प्रथम एवं अष्टम सर्ग में) उसे व्यापारी के रूप में प्रदर्शित किया गया है, और शेष तीन रूपों में उसे क्रमशः भिक्षु रूप में (छठे सर्ग में), कृषक रूप में (बारहवें सर्ग में) और शिक्षक रूप में (चौदहवें सर्ग में) वर्णित किया गया है।

प्राचीन लक्षण ग्रन्थों के अनुसार महाकाव्य एक सर्गबद्ध पद्य रचना है, जिसमें प्रख्यात या इतिहास प्रसिद्ध किसी एक नायक के सम्पूर्ण जीवन का अथवा एक ही वंश के अनेक नायकों के जीवन चरित का वर्णन होता है।[3] 'श्रीबोधिसत्त्वचरितम्' प्राचीन लक्षणकारों के इस महाकाव्य-लक्षण

---

1. पालि जातकों की संख्या 547 है।
2. आर्यसूर द्वारा लिखित 'जातकमाला' में 33 जातक हैं।
3. सा.द. 6. 315-325

की परिधि में नहीं आता क्योंकि इसके नायक एकाधिक व्यक्ति हैं और इसके विभिन्न सर्गों में वर्णित घटनाओं में ऐतिहासिक निरन्तरता भी नहीं है।

परन्तु इस काव्य में चित्रित विभिन्न चरित्रों को कवि ने एक अभिन्न आत्मा के रूप में कल्पित किया है, यह अभिन्न आत्मा भिन्न-भिन्न जन्मों में उपस्थित बोधिसत्त्व की आत्मा है। लेखक की इस कल्पना ने प्रस्तुत महाकाव्य की, कथा शिल्प की दृष्टि से परस्पर असंबद्ध घटनाओं में एकता ला दी है। कथावस्तु की यह विशेषता इस काव्य को जहाँ एक ओर महाकाव्य की श्रेणी में रखती है, वहीं दूसरी ओर यही विशेषता महाकाव्य के कथानक में पायी जाने वाली रोचकता एवं विविधता को क्षीण करती है और चरित्र चित्रण की सफलता एवं रसपरिपाक की संभावनाओं को भी कम कर देती है।

प्रस्तुत महाकाव्य कथानक की इन सीमाओं के बावजूद सफल चरित्र चित्रण, कतिपय रसों के प्रभावोत्पादक परिपाक, रसानुकूल अलंकार योजना, भावानुकूल पदविन्यास एवं छन्दोयोजना की दृष्टि से एक उत्कृष्ट रचना सिद्ध होता है।

इस काव्य में बोधिसत्त्व के चरित्र को साधारण चरित्र वाले अन्य पात्र के समक्ष रखकर और फिर गुण, विवेक, शौर्य, उदारता आदि गुणों में उससे ऊपर उठाकर चित्रित किया गया है। एक ओर साधारण या निम्न गुण वाले पात्र हैं तो दूसरी ओर उदात्त गुणवान् बोधिसत्त्व। इस प्रकार दो भिन्न-भिन्न चरित्र के अंकन से बोधिस्तव का चरित्र बड़ा प्रभावी बन पड़ा है। इस काव्य में अंकित कुछ विशिष्ट सशक्त पुरुष पात्र हैं-अरिष्टपुर का नरेश शिवि, युक्तमना कृषक, संघ और उसका कृतध्न मित्र पीलिय। नारी पात्रों में सुन्दरता की प्रतिमूर्ति उन्मदन्ती और संघ की सरल स्वभावा पत्नी मुख्य हैं। इन तथा कतिपय अन्य चरित्रों को उभारने में कवि सफल हुआ है। कुछ पात्रों में मानसिक अन्तर्द्वन्द्व दिखाकर बड़ा सफल चित्रण किया गया है। अरिष्टपुर के नरेश शिवि, जो पहले अपने सेनापति की सुन्दर पत्नी के प्रति पाप बुद्धि रखता है, और बाद में पश्चात्ताप की ज्वाला में तपकर कुन्दर के समान निर्मल चरित्र होता है। इसके चरित्र का मानसिक अन्तर्द्वन्द्व प्रभावी है। जब सेनापति अपनी पत्नी तक को शिवि को उपहार में देने को तत्पर होता है तो पश्चात्ताप की ज्वाला में दग्ध शिवि को यह उक्ति उसके पश्चात्ताप के बाद के निर्मल चरित्र को अत्यन्त सुन्दर ढंग से उभारती है-

प्रसारकात् कामविकारगर्तादुत्तारको मेऽस्यहिपारकस्त्वम्।
सखा हितैषी परमो मनीषी कथं तव स्यामहमन्यथैषी।।
कित्वब्धिवेलेव विलोकनीया धर्माः सतां सन्त्यविलङ्घनीयाः।
श्रेयोऽर्थिभिर्ये परिपालनीया मया सदा मित्र! निभालनीयाः।।[1]

इस महाकाव्य में धर्म, वीर एवं शृंगार रस के अनेक प्रभाव पूर्ण प्रसङ्ग हैं।

1. श्रीबोधिसत्त्वचरितम् 9. 29-30

धर्मवीर रस

बोधिसत्त्व के विविध रूपों के चित्रण में धर्मवीर का सफल परिपाक हुआ है। बोधिसत्त्व के विविध अवदानों की कथाएँ उसके उदात्त कार्यों, त्याग, दया, क्षमा, तप आदि से भरी पड़ी हैं जिनमें धर्मवीर रस की सफल अभिव्यक्ति हुई है। अपने विपन्न मित्र पीलिय के सहयोगार्थ अपनी आधी सम्पति देने वाले बोधिसत्त्व का चरित्र धर्मवीर का सुन्दर उदाहरण है-

च्युतधनमसहायं सूचितार्थाभिलाषं
कथमुपनतमेनं हन्त कुर्यां निराशम्।
इति झटिति वितीर्याशीतिकोट्यर्धमर्थं
मुदिमतहमकार्षं सभ्यमिभ्यं समर्थम्।।

न खलु वसु तदेवायच्छमस्मै स्वमर्धं
स्वमितरदपि सर्वं साम्यदामस्तगर्धम्।
मयि निहितमनस्को बान्धवो मा वृथा गात्
मतिरियमिदमर्थेवाऽऽत्मनीना मुदाऽभात्।।[1]

धनहीन, असहाय, धन की अभिलाषा को व्यक्त करने वाले, मेरे पास आये हुए मित्र को मैं कैसे निराश करता? अत: मैंने चालीस करोड़ मुद्रायें देकर इसे प्रसन्न, लोगों के मध्य आदरणीय, धनी एवं समर्थ बना दिया।

मैंने इसे केवल अपना आधा धन ही नहीं दिया अपितु लोभ छोड़कर अन्य सभी वस्तुओं का भी आधा भाग दे दिया। मुझ पर निर्भर मेरा मित्र खाली हाथ न लौट जाए, मेरे मन में इस प्रकार का आत्महित का विचार सानन्द उठता रहा।

श्रृंगार

काव्य के सातवें तथा आठवें सर्ग में उन्मदन्ती के सौन्दर्य तथा महाराज शिवि की उसके प्रति कामासक्ति में श्रृंगार रस की पुष्टि हुई है। उन्मदन्ती के प्रति शिवि की आसक्ति का एक चित्र प्रस्तुत है-

गण्डच्छविन्यक्कृतपुण्डरीका लाक्षोक्षिता चञ्चलचञ्चरीका।
लतेव सा कन्दलितोदबिन्दुस्तनी कदोपैष्यति निन्दितेन्दुः।।
कदा प्रियां प्राणसमां मनोज्ञामालिङ्ग्य दोर्भ्यां नवनीतमृद्वीम्।
कथाः प्रकुर्वन् रमणीयरूपास्तृप्तो भविष्याभ्यधरामृतेन।[2]

कपोलों भी शोभा से कमल का तिरस्कार करने वाली महावर लगाये, चंचल भौंरी के समान

1. तथैव, 13. 82.
2. तथैव, 8. 70-71

अपनी शोभा से इन्द्र कान्ति को विनिन्दित करने वाली, कन्दलाकार को प्राप्त जलबिन्दु स्तनों वाली, लता समान वह उन्मदन्ती कब मुझे प्राप्त होगी? कब मैं नवनीत के समान कोमलांगी, प्राण समान प्रिया उन्मदन्ती का भुजाओं में आलिंगन कर रोचक बातचीत करता हुआ उसके अधरामृत से तृप्ति प्राप्त करूँगा।।

यहाँ उन्मदन्ती महाराज शिवि की रति का आलम्बन विभाव है। सेनापति की पत्नी उन्मदन्ती के प्रति महाराज शिवि की यह रति शास्त्रीय दृष्टि से श्रृंगाराभास का उदाहरण है।

इसी प्रकार छठे सर्ग के प्रारम्भ में किसी रूपवती युवती को मोहित भिक्षु युवक के प्रसङ्ग में भी शृङ्गार का परिपाक हुआ है।

शिरोमणिं तां पुरसुन्दरीणां
चिराय रामां स्वमनोऽभिरामाम्।
गाढं परिष्वज्य रमेय भूय-
स्तदङ्गसंस्पर्शसुखं लभेय।।[1]

मैं नगर की सुन्दरियों में ललामभूता, मेरे मन को आकर्षित करने वाली उस रमणी के साथ देर तक गाढ़ आलिंगन करके रमण करूँ और उसके अङ्गस्पर्शजनित सुख का अनुभव करूँ।

प्रकृति के वर्णन में भी कवि-कौशल स्तुत्य है। नदी का यह वर्णन कितना सजीव है-

पवित्राम्भःपूर्णा सफलदलपुष्पैः परिवृता
द्रुमैः स्निग्धच्छायैर्व्रतततितिभिश्चाप्युपचिता।
तटप्रान्तैर्हृद्या विहगमधुरध्वानमुखरै-
स्तरङ्गैरुत्तुङ्गैररमयदमुं सा सरिदपि।।[2]

फल-पत्र-पुष्पों से युक्त घनी छाया वाले वृक्षों एवं झाड़ियों से घिरी पक्षियों के कलरव से मुखरित जलपूर्ण नदी का कितना सजीव वर्णन है। पेड़ों से घिरी दो पर्वतों के बीच वेग से बहती नदी का यह चित्र भी उतना ही प्रभावोत्पादक है-

पुरस्ताद दृश्या ते तरुपरिवृतेयं गिरिणदी,
स्थिता मध्ये शैलद्वयमविरलाम्भोरयवती।
तटिन्यामेतस्यामनुभवितुमानन्दमधिकं
कदाचिन्मद्भर्ता किल दयितयाऽऽयात् सह मया।।[3]

काव्य में उपदेशपूर्ण पद्यों का भी विस्तृत वर्णन है, जहाँ कवि मानव जीवन के उदात्त गुणों का

---

1. श्रीबोधिसत्त्वचरितम् 6.14
2. तथैव, 10.12
3. तथेव, 10, 27

व्याख्याता प्रतीत होता है। जन साधारण को मानवजीवन की क्षणभंगुरता एवं दुःखमयता का प्रभावी उपदेश देने के लिए बोधिसत्त्व से कहलवाया गया निम्न वचन प्रभावपूर्ण है–

ध्येयं समस्तजगतः क्षणभङ्गुरत्वं दुःखास्पदत्वमरसत्त्वमसुस्थिरत्वम्।
प्रेयो विहाय परमार्थरताः प्रकामं श्रेयस्करं कुरुत कर्म गुणाभिरामम्।।
लोकं विलोक्य सकलं क्षणदृष्टनष्टं वक्त्रे यमस्य निपतन्तमवाप्तकष्टम्।
धीराः प्रमादरहिता विषयाप्रसक्ताः शान्ताः स्थिरा विचरतेह भवे विरक्ताः।।[1]

काव्यशैली की दृष्टि से भी यह काव्य उत्कृष्ट कोटि का है। काव्य में अलंकृत कोमल पदावली के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। ये उदाहरण काव्य की अलङ्कार छटा को अभिव्यक्त करते हैं। काव्य में यत्र-तत्र प्रयुक्त उपमालङ्कार के उदाहरण कवि की परिष्कृत काव्य शैली के नमूने हैं। रमणी के सुन्दर अङ्गों को देखकर मुग्ध कामदेव द्वारा आहत बौद्ध भिक्षु की दशा की तुलना ऐसे मृग से की गई है जो मधुर संगीत से मुग्ध होकर शिकारी के वाणों से विद्ध हो जाता है।

विक्षिप्तचेताः स्वनिकेतनस्थः, कामातुरोऽसौ बुबुधे न किंचित्।
प्रमुग्धगीतध्वनिलुब्धशल्यप्रविद्धसारङ्ग इवावतस्थे।।[2]

अन्य अलङ्कारों में अर्थान्तरन्यास, अनुप्रास, यमक आदि के उदाहरण भी प्रभावोत्पादक हैं। छन्दों में अनुष्टुभ्, उपजाति, रथोद्धता, भुजंगप्रयात, शिखरिणी, वसन्ततिलका, मालिनी, द्रुतविलम्बित, तोटक, रुचिरा, मन्दाक्रान्ता, शार्दूलविक्रीडित आदि का सफल प्रयोग काव्य में हुआ है।

काव्य में दोषों को ढूँढ़ने चलें तो साहित्य में अप्रचलित / कम प्रचलित शब्दों का जैसे आभील (3.90), मङ्क्षु (3.51), वियाता (8.83), अय (12.7), निल्वयनी (12.48), अकपूय (13.98), तृष्णक (1.38), रथेष्ठा (1.46), तोक (12.35), अपचिति (13.87), सत्र (16. 97) आदि का प्रयोग थोड़ा अखरता है।

संक्षेप में डॉ० सत्यव्रत शास्त्री की यह रचना भारतीय संस्कृति और विशेषकर बौद्ध साहित्य को एक अमूल्य योगदान है। यह अकेली रचना कवि को संस्कृत-रचनाकारों की पंक्ति में महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करवाने में समर्थ है।

आज के हिंसापूर्ण समाज में, यह रचना कितनी प्रासङ्गिक है इसे बताने के लिए निम्नोक्त दो श्लोक पर्याप्त हैं–

'हिंसैव वर्धते बह्वी हिंसकं प्रति हिंसया।
सुखमात्यन्तिकं लब्धुमहिंसैव गरीयसी।।
शान्त्या प्रशमयेत् क्रोधी सलिलेनेव पावकम्।
चित्तं प्रसादयेद् धीमान् सर्वभूतानुकम्पया।।[3]

1. तथैव, 12. 13-14.
2. श्रीबोधिसत्त्वचरितम् 6.5.
3. तथैव, 3. 80-81.

15

डॉ० सत्यव्रतशास्त्रीकृत श्रीबोधिसत्त्वचरितम् की कथावस्तु का स्त्रोत

ऋतु बाला

महाकवि डॉ० सत्यव्रतशास्त्री रचित श्रीबोधिसत्त्वचरितम् महाकाव्य संस्कृत साहित्य का एकमात्र काव्य है जिसमें भगवान् बुद्ध के पूर्वजन्म से सम्बन्धित जातकों की कुछ एक प्रसिद्ध कथाओं से बोधिसत्त्व के जीवन सम्बन्धी घटनाओं को लेकर उनमें कहीं-कहीं कुछ परिवर्तन कर काव्यत्वरूप प्रदान किया गया है। इस काव्य में महाकवि ने बोधिसत्त्व के पूर्वजन्मों से सम्बन्धित विविध घटनाओं का वर्णन मार्मिक, भावपूर्ण तथा प्रसादमयी शैली में किया है। भगवान् बुद्ध के बोधिसत्त्व सम्बन्धी अनेक जन्मों से सम्बन्धित यह चरितकाव्य संस्कृति की अमूल्य धरोहर है। कवित्व और पाण्डित्य दोनों दृष्टियों से यह एक नवीन रचना है। इसमें जातकों से कतिपय बौद्धधर्म के नैतिक आदर्शों एवं भगवान् बुद्ध के विभिन्न जन्मों के उदात्त चरितों को लेकर बौद्धधर्म में मान्य पारमिताओं को ध्यान में रखकर काव्यत्व रूप प्रदान किया गया है। सभी सर्गों की कथावस्तु को एकसूत्र में पिरोए हुए मणियों के समान सर्वव्यापिनी बोधिसत्त्व की जीवनी को ही जीवन्तरूप में काव्य के माध्यम से दिखाया गया है। यह भी अवधान देने योग्य है कि कवि ने बोधिसत्त्व के जीवन सम्बन्धी उन्हीं कथाओं को इसकी कथावस्तु के लिए विशेषकर चुना है जिनमें केवलमात्र बौद्धधर्म में गृहीत पारमिताओं के पालन की प्रक्रिया विद्यमान थी।

वस्तुत: दर्शन एवं काव्य का ऐसा सुन्दर समन्वय कुछ ही काव्यों में पाया जाता है। इसमें जहां दार्शनिक भित्ति को दृढ़ करने के लिए कवि ने प्रकारान्तर से पात्रों के चरित्र को असाधारण रूप से वर्णित किया है, वहीं काव्य के आत्मभूततत्त्व रस का भी पूर्णरूप से निर्वाह करते हुए काव्य में कहीं पर भी नीरसता नहीं आने दी। कवि ने तत्कालीन सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक तथा सांस्कृतिक परिस्थितियों का भी संक्षिप्त शब्दों में यथार्थरूप से दिग्दर्शन कराया है।

इस काव्य की सबसे बड़ी विशेषता है, कथाशिल्प तथा वर्णनशैली। यद्यपि काव्य में अनेक कथाओं को कथावस्तु के रूप में चुना गया तथापि कतिपय सर्गों को छोड़कर प्रत्येक सर्ग की कथा भिन्न होने पर भी अबाध गति से आगे बढ़ती है। कहानी का कथाशिल्प कहीं भी पाठकों को न तो उलझन में डालता है और न जिज्ञासा में व्याघात ही पैदा करता है। घटनाओं को संवादात्मक

रूप प्रदान करने के लिए स्वाभाविक रूप से समुत्पन्न नाटकीय स्थिति भी वर्णित घटनाओं की संक्षिप्तता को सशक्त करती है। कवि की एक अन्य विशेषता है सौन्दर्यवर्णन। कवि किसी भी व्यक्ति के सूक्ष्म वर्णन में न अपना समय व्यतीत करता है और न पाठक का अपितु वह उसे व्यङ्ग्य ही रखता है। ऐसे वर्णन प्रायः ध्वन्यात्मक रूप में ही देखे गये हैं। एक स्थान पर तिरिटवत्स की पुत्री पीलिय की पत्नी का यद्यपि कवि रेखाचित्र मात्र खींचता है तथापि वह कवि के प्रयोग को पूर्णरूप प्रदान करने वाला एवं प्रभावशाली है। यथा–

रूपप्रकर्षेण समुज्ज्वलन्तीं सुवासिनीं चारुविलासिनीं ताम्।
अलोकसामान्यगुणाभिरामां क्षणं निरीक्ष्यैव समे व्यमुह्यन्।।[1]

एक अन्य चित्र भी उन्मदन्ती का खींचा गया है, जो इसकी अपेक्षा अधिक सम्पन्न रंगों तथा गहरी रेखाओं द्वारा खींचा गया है।[2] इस महाकाव्य के पारायण करने पर लिखा जा सकता है कि एक नूतनकाव्य परम्परा में सृजन की दृष्टि से श्रीबोधिसत्त्वचरितम् हस्तस्थित उस दीपक के समान है जिसके प्रकाश से प्रकाशित मार्ग पर चलते हुए नवीन कवि अपनी नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि के बल पर आगे बढ़ सकेंगें।

किसी भी कवि द्वारा महाकाव्य का नामकरण उसकी कथावस्तु या काव्य के नायक या अन्य किसी प्रबल आधार पर किया जाता है।[3] डॉ० सत्यव्रतशास्त्री कृत श्रीबोधिसत्त्वचरितम् महाकाव्य का नाम इस महाकाव्य के नायक बोधिसत्त्व के नाम के आधार पर किया गया है। इसका नायक बोधिसत्त्व है क्योंकि इसमें भगवान् बुद्ध (बोधिसत्त्व) के पूर्वजन्म के अवदानों को ही काव्यरूप दिया गया है।

महाकाव्य के प्रारम्भ में कवि ने स्वयं इसका संकेत दिया है।[4] बोधिसत्त्व बौद्धधर्म के महायान–सम्प्रदाय का एक महत्त्वपूर्ण पारिभाषिक शब्द है। महायान ग्रन्थों में पूर्णबुद्धत्व प्राप्ति के लिए जो यत्न करता है वही बोधिसत्त्व कहलाता है।[5] इसमें दो पद हैं– बोधि + सत्त्व। इसमें बोधि का अर्थ है ज्ञान तथा सत्त्व का अर्थ है प्राणी अर्थात् बोधिसत्त्व एक ऐसा प्राणी है जो सम्यक्–सम्बोधि की प्राप्ति का इच्छुक होता है।[6] महायान–महायानी बौद्ध–धर्म के अनुसार बोधिसत्त्व वही है

---

1. श्रीबोधिसत्त्वचरितम, 7.21
2. वही, 8.66–67
3. काव्यादर्श, 1.14–19
4. शास्तेति नाम्ना प्रथितो महात्मा
बुद्धः प्रबुद्धो जनताहिताय।
प्राग्जन्मवृतान्तकथास्तदीया
गीर्वाणवाण्या समुदीरयामि। –श्री.बो.स.च., 1.1
5. जातकविमर्श., डॉ० सुरेन्द्रपाल सिंह, पृ.74
6. निदानकथा, डॉ० महेशतिवारी, प्राक्कथन, पृ. 36

जिसके चित्त में करुणा का उदय हो चुका हो तथा करुणा के कारण केवल मात्र अपना ही नहीं अपितु प्राणीमात्र की दुःख निवृत्ति या उसके मोक्ष की कामना वह करता हो।[1] बौद्धधर्म में भगवान् बुद्ध की पूर्ण बुद्धत्व प्राप्ति से पहली अवस्था बोधिसत्त्व कहलाती है। जातक ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि शाक्यमुनि ने एक ही योनि में जन्म लेकर बुद्धत्व की प्राप्ति नहीं की थी अपितु अनेक योनियों में जन्म लेते हुए बौद्ध-धर्म में मान्य पारमिताओं का पालन करते हुए तथा श्रेष्ठ कर्म करते हुए पूर्ण बुद्धत्व को प्राप्त किया था। फलत: पालिजातकों तथा संस्कृत जातकों में भगवान् बुद्ध के अनेक जन्मों की कथाऐं विद्यमान हैं।[2] आज भगवान् बुद्ध के जन्म से सम्बन्धित 550 के लगभग कथाऐं जिन ग्रन्थों में प्राप्त हैं वे जातक हैं।[3] श्रीबोधिसत्त्वचरितम् महाकाव्य की कथावस्तु उन जातकों में से ही कतिपय जातकों से ली गई हैं।[4] जातकों से गृहीत इन सभी कथाओं का पात्र एक ही बोधिसत्त्व है।[5] बोधिसत्त्व ही कभी व्यापारी,[6] कभी राजा,[7] कभी शिक्षक,[8] कभी कृषक,[9] कभी श्रेष्ठी के रूप में दिखाई देता है।[10]

महाकवि सत्यव्रतशास्त्री ने इन्हीं विभिन्न जन्मों में बुद्धत्व प्राप्ति के लिए बौद्ध धर्म में गृहीत पारमिताओं का पालन करने वाले जातकों के प्रधान-पात्र बोधिसत्त्व को ही अपने काव्य की कथावस्तु का नायक चुना है। काव्यशास्त्र के नियमानुसार नायक के नाम पर ही इस महाकाव्य का नाम श्रीबोधिसत्त्वचरितम् रखा गया है।

प्रश्न है कि काव्यशास्त्र के आधार पर किसी भी काव्य का नायक आदि से अन्त तक एक ही व्यक्ति होता है[11] या एक वंशीय-राजाओं की परम्परा आदि से अन्त तक चलती है।[12] श्रीबोधिसत्त्वचरितम् काव्य में न तो किसी एक ही राजा का आदि से अन्त तक वर्णन है और न एक ही वंशीय राजाओं या व्यक्तियों का वर्णन है, ऐसी स्थिति में नायक के आधार पर इस काव्य का नाम 'श्रीबोधिसत्त्वचरितम्' कैसे उचित हो सकता है? इसका समाधान है कि यद्यपि इस महाकाव्य में वर्णित कथावस्तु में ऐतिहासिकता की निरन्तरता नहीं है तथापि इस महाकाव्य में

---

1. बौधधर्ममीमांसा., पृ.107-8
2. जातकमाला., आर्यसूर, 1.34 कथाएं, पृ.1-482
3. जा.वि. डॉ० सुरेन्द्रपाल सिंह, पृ.58
4. श्रीबोधिसत्त्वचरितम्- एक आलोचनात्मक अध्ययन, डॉ० धर्मेन्द्रकुमार गुप्त, पृ.(XIV)
5. श्री.बो.स.च, 1.1
6. वही, प्रथम एवं अष्टम-सर्ग
7. वही, तृतीय, चतुर्थ एवं नवम-सर्ग
8. वही, चतुर्दश-सर्ग
9. वही, द्वादश-सर्ग
10. वही, त्रयोदश-सर्ग
11. शिशुपालवधम् इत्यादि।
12. रघुवंश इत्यादि।

वर्णित विद्यमान एक ही बोधिसत्त्व की आत्मा विभिन्न व्यक्तियों के शरीर में अभिन्नरूप से विद्यमान है और यह अभिन्न आत्मा अनेक जन्मों में कर्मानुसार अनेक योनियों में जन्म लेकर पारमिताओं का पालन करती है। इस प्रकार कथावस्तु की भिन्नता में भी आत्मरूपेण एक ही बोधिसत्त्व की दृष्टि से नायकत्व की एकरूपता स्पष्ट है।[1] जातकों की भी यही मान्यता है कि बोधिसत्त्व ही जातकमालाओं के सभी जातकों के प्रधानपात्र हैं और वे ही अनेक रूपों में जन्म ग्रहण करते हैं। अतः जातकमाला के नायक बोधिसत्त्व हैं, वे अनेक होने पर भी एक-रूप में हैं क्योंकि उनके कर्म दिव्य तथा अद्भुत हैं। उनका जीवन साधारण न होकर असाधारण तथा लौकिक न होकर अलौकिक है।[2] वे ही बोधिसत्त्व इस महाकाव्य के भी नायक हैं। इस महाकाव्य के पढ़ने से स्पष्ट है कि इसके 14 सर्गों में से नौ सर्गों में एक मात्र बोधिसत्त्व के ही अवदानों का विभिन्न रूप से वर्णन किया गया है। उनमें से द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ तथा पंचम इन पांच सर्गों में वे एक राजा के रूप में हैं। प्रथम तथा अष्टम सर्ग में व्यापारी रूप में छठे, बारहवें तथा चौदहवें इन तीन सर्गों में वे शिक्षक के रूप में वर्णित हैं। दशम तथा एकादश सर्ग में भी उपदेश के माध्यम से बोधिसत्त्व के चरित की ही उदात्तता दिखाई गई है। इस प्रकार प्रथम सर्ग से चतुर्दश सर्ग तक विभिन्न रूपों में एक मात्र बोधिसत्त्व के जन्म की कथावस्तु होने से इस महाकाव्य का नाम श्रीबोधिसत्त्वचरितम् शास्त्रीय दृष्टि से उचित है।

महाकाव्य की कथावस्तु का स्रोत

किसी भी काव्य अथवा नाटक का कथानक या तो प्राचीन परम्परा अथवा किसी प्राचीन काव्य पर आधारित हुआ करता है अथवा कवि कल्पित।[3] कभी-कभी लोक प्रचलित कथाओं के आधार पर महाकवि अपने काव्य की कथावस्तु का चयन करते देखे गए हैं।[4] जो कवि अवर्णित प्रसंगों को कथावस्तु के रूप में पिरोते हैं, उनके काव्य भी कल्पित ही समझे जाते हैं किन्तु जो कवि पुराने कथनों को नवीन रूप में ढालने की शक्ति रखते हैं उनके काव्यगत कथावस्तु को काव्यशास्त्रीय आचार्यों द्वारा नवीन माना गया है। उनकी दृष्टि से नवीन कथावस्तु के वर्णन में ही कवि की मौलिक प्रतिभा नहीं देखी जाती अपितु प्राचीन कथावस्तु को नवीन रूप से प्रस्तुत करने में भी उसकी प्रतिभा कारण हुआ करती है।[5] इससे स्पष्ट है कि काव्य की कथावस्तु का कोई न कोई आधार अवश्य हुआ करता है। कवि उसी आधार को ग्रहण कर अपनी प्रतिभा के बल पर उसे अलङ्कार, गुण, रीति, रस इत्यादि से सजाकर समाज के समक्ष प्रस्तुत करता है।[6]

---

1. श्रीबोधिसत्त्वचरितम्- एक आलोचनात्मक अध्ययन, भूमिका, डॉ० धर्मेन्द्रकुमार गुप्त, पृ. (xviii)
2. जा.वि., डॉ० सुरेन्द्रपाल सिंह, पृ. 76-77
3. विष्णुधर्मोत्तरपुराण का काव्यशास्त्रीय भाग, पृ.28-29
4. वाल्मीकि रामायण, 1.18-19
5. आत्मनोऽन्यस्य सद्भावे पूर्वस्थित्यनुयाय्यपि।
   वस्तु भातितरां तन्व्याः शशिच्छायमिवाननम्। - ध्वन्यालोक 4.14
6. वही, 4.16

श्रीबोधिसत्त्वचरितम् महाकाव्य को पढ़ने के बाद इस की कथावस्तु को ढूँढने का अधिक प्रयास नहीं करना पड़ा अपितु कवि ने प्रसिद्ध जातक कथाओं को अपनी कथावस्तु का मुख्य आधार बनाया तथा अपनी प्रतिभा के बल पर उसी को अपनी कोमलकान्त पदावली के द्वारा सुचारु ढंग से सजा कर समाज के सम्मुख प्रस्तुत किया।[1] ये जातक बौद्धधर्म के मूल हैं। इनमें भगवान् बुद्ध के बुद्धत्व प्राप्ति से पूर्व के अनेक जन्मों की कथाएं हैं।[2] भगवान् बुद्ध के विषय में कहा गया है कि बौद्धधर्म के अनुसार पूर्णबुद्धत्व की प्राप्ति होने से पहले वे अनेक जन्म ग्रहण करते हुए बौद्ध-धर्म में स्वीकृत पारमिताओं का पालन करते हैं। ये पारमिताएं ही बुद्धत्व प्राप्त करने से पूर्व की वह निकषोत्पल हैं जिन पर पूर्णतया सटीक उतरने के बाद ही बोधिसत्त्व पूर्णबुद्धत्व को प्राप्त कर सकता है।[3] जातक ग्रन्थों में स्पष्टतया उल्लिखित है कि बुद्धत्व प्राप्ति से पूर्व भगवान् बुद्ध ने बोधिसत्त्व के रूप में लगभग 500 बार यत्र-तत्र जन्म ग्रहण कर पारमिताओं का पालन किया था।[4] बुद्ध के पूर्व जन्मों के वृतान्त ही इन जातकों में वर्णित होने से इनकी संख्या भी 500 के लगभग है। आजकल उपलब्ध जातकों की संख्या 547 के करीब है किन्तु इन में कुछ जातकों की कथाओं में पुनरावृत्ति होने से उनके हटाने पर इनकी संख्या कम हो जाती है। उन सभी जातकों में बोधिसत्त्व की महिमा का वर्णन करने के उद्देश्य से उनके चरितों का पूर्णत: वर्णन किया गया है, साथ ही बुद्ध के जीवन की घटना, उन घटनाओं से जुड़े हुए पूर्व जन्म के वृतान्त तथा गाथाओं का भी सम्बन्ध दिखाया गया है।[5] भगवान् बुद्ध की उन्हीं कथाओं में से कतिपय कथाओं को लेकर महाकवि डॉ० सत्यव्रतशास्त्री ने इस महाकाव्य की रचना की है। अत: इन जातकों की कतिपय कथाएं ही इस महाकाव्य की कथावस्तु के स्रोत हैं जिनका विवरण इस प्रकार दिया जा सकता है।

इस महाकाव्य में 14 सर्ग हैं। इन सभी सर्गों में एक ही कथा वर्णित न होकर एक मात्र बोधिसत्त्व के जीवन से सम्बन्धित पृथक्-पृथक् कथाएं कथावस्तु के रूप में गृहीत हैं। जो इस प्रकार से देखी जा सकती हैं।

श्रीबोधिसत्त्वचरितम् महाकाव्य के प्रथम सर्ग में वर्णित जो दो वैश्य व्यापारियों से सम्बन्धित कथावस्तु है वह मूलरूप से जातक प्रथमखण्ड में वर्णित **"अपणक जातक"** से ली गई है[6] द्वितीय सर्ग में वर्णित श्रीकुमार तथा कौशलेश मलिक की कथावस्तु जातक द्वितीय खण्ड में वर्णित **"रजोबाद जातक"** से ली गई है।[7] तृतीय तथा चतुर्थ सर्ग की कथावस्तु मूल जातक में वर्णित

1. श्री.बो.स.च., 1.1
2. जातक (प्र.ख), अनु. भदन्त आनन्द कौशल्यायन, पृ.15
3. जा.वि., डॉ० सुरेन्द्रपाल सिंह, पृ.97
4. जा. वि, पृ. 77
5. बौधधर्मदर्शन, नरेन्द्रदेव, पृ.180-182
6. जातक (प्र.खं.) अनु. भदन्त आनन्द कौसल्यायन, अपण्णक वर्ग, क.सं.1, पृ.176-184
7. वही द्वि.खं., दलह वर्ग, क.सं.151, पृ.165-166

"महाशीलव जातक" से ली गई है।[1] काव्य के पंचम सर्ग में चित्रित स्त्री के चरित्र का मूल स्रोत जातक में वर्णित **"उच्छगजातक"** है।[2]

काव्य के सप्तम, अष्टम तथा नवम इन तीन सर्गों में एक ही कथावस्तु अविच्छिन्न रूप से चलती है। यह सम्पूर्ण कथानक जातक के पञ्चम खण्ड से सम्बन्धित हैं। वहां यह **"उन्मदयन्ती"** कथा के नाम से वर्णित है।[3] यही कथा जातकमाला, आर्यशूरकृत में भी वर्णित है। जातक तथा आर्यशूर कृत जातक माला में वर्णित कथावस्तु में कोई अन्तर नहीं है। वे दोनों कथाएं ही इस सर्ग के कथानक का स्रोत है।[4]

दशम तथा एकादश इन दो सर्गों में वर्णित कथावस्तु किन्नरयुगल तथा राजा भल्लाटिय से सम्बन्धित है। यह कथावस्तु जातक प्रथम खण्ड में **"भल्लाटिय जातक"** के नाम से वर्णित है। वही इसका स्रोत है।[5]

द्वादश–सर्ग में वर्णित कृषक तथा उसके परिवार की कथा का मूल स्रोत जातक तृतीय खण्ड में विद्यमान **"उरग जातक"** के नाम से वर्णित है।[6] त्रयोदश सर्ग में अकृतज्ञ मित्र की कथा जातक द्वितीय खण्ड में **"असम्पदान जातक"** के नाम से वर्णित है।[7] चर्तुदश सर्ग में पापक नाम के शिष्य की कथावस्तु का मूल भी जातक प्रथम खण्ड में से लिया गया है तथा वहाँ यह कथा **"नामसिद्धि जातक"** के नाम से पाई जाती है।[8]

इस प्रकार श्रीबोधिसत्त्वचरितम् महाकाव्य के सभी सर्गों में गृहीत भिन्न-भिन्न पात्रों की कथा मूलतः जातकों में वर्णित होने से जातक कथाएं ही इस महाकाव्य के कथानक के मूल स्रोत माने जा सकते हैं।

कथावस्तु में परिवर्तन तथा परिवर्धन

श्रीबोधिसत्त्वचरितम् महाकाव्य की कथावस्तु का स्रोत जातक कथाऐं हैं। 14 सर्गों में गृहीत कथावस्तु किसी न किसी प्रकार बोधिसत्त्व से सम्बन्धित होने के कारण उन सभी सर्गों के कथानकों का मूल स्रोत भगवान् बुद्ध (बोधिसत्त्व) से सम्बन्धित जातक कथाऐं हैं। कवि ने जिस किसी जातक से कथा को ग्रहण किया उनमें कतिपय सर्गों के कथानकों को छोड़कर अन्य सभी

---

1. वही, प्र.ख., आसिंस वर्ग, क.सं. 51, पृ. 387–393
2. वही, इत्थि वर्ग, क.सं., 67, पृ. 443–444
3. वही, क.सं. 527, पृ. 291–312
4. जा.मा., आर्यशूर, क.स.13, पृ.173–187
5. जातक, पञ्चम खं., मणिकुण्डल वर्ग, क.सं. 354
6. वही, तृतीय खं., क.सं.354, पृ. 324–29
7. वही, असम्पदान वर्ग, क.सं.,131 पृ.सं. 566–568
8. वही प्र.खं., लित्त वर्ग, क.सं. 97, पृ. 367–573

सर्गों के कथानक को बिना किसी परिवर्तन एवं परिवर्धन के जातक कथाओं से ग्रहण किया है। केवल निम्नलिखित सर्गों के कथानक में मूलजातक कथा से तनिक परिवर्तन दिखाई देता है।

काव्य के प्रथम सर्ग में बोधिसत्त्व का जन्म किसी वैश्य के घर में दिखाया गया है[1] किन्तु जातक में बोधिसत्व का जन्म सत्यवाह नामक बंजारे के घर में बताया गया है। इसमें जिस दूसरे व्यापारी का वर्णन है उसे भी यहाँ वैश्य के रूप में लिया गया है[2] किन्तु मूलजातक कथा में, इसे भी बंजारा कहा गया है, साथ ही उसे मूर्ख भी कहा गया है[3] और कहा गया है कि बोधिसत्त्व ने अपनी बुद्धिमत्ता से अच्छा व्यापार किया तथा मूर्ख बंजारे ने अपनी मूर्खता से सब कुछ नष्ट किया।[4]

तृतीय-चतुर्थ सर्ग की कथावस्तु जातक प्रथम खण्ड में **'महासीलव'** नाम से वर्णित है जो कि श्रीबोधिसत्त्वचरितम् की कथावस्तु के ही सदृश है।[5] किन्तु यही कथा जातक (तृ. खं) में **'सेप्यजातक'** नाम से वर्णित है।[6]

यह कथा श्रीबोधिसत्त्वचरितम् के कथानक से कुछ भिन्न है। इसमें कोशल के राजा को चोर राजा कहकर पुकारा गया है साथ ही यह चोर राजा काशीनरेश के राज्य पर आधिपत्य कर उसे तथा उसके मन्त्रियों को श्मशान में नहीं गड़वाता अपितु कारागार में बन्द करवाता है। राजा शीलवान् कारागार में भी चोर राजा (कोशलेश) के प्रति मैत्रीभाव रखता है। फलतः कोशलराज के शरीर में भयंकर खुजली होती है और उसे स्वप्न आता है कि तुमने एक सदाचारी निर्दोष राजा को कैद किया हुआ है उसका ही यह परिणाम है, उसे छोड़ दो। कोशलेश काशी नरेश को छोड़ देता है, उससे क्षमा याचना करता है और उसका राज्य उसे सौंपकर चला जाता है।

• • •

1. श्रीबोधिसत्त्वो भगवान् महात्मा वैश्यस्य कस्यापि गृहे प्रजज्ञे। - श्री.बो.स.च,1.5
2. तदैव कश्चिद् वणिगात्मजोऽन्यो
   यानैः शतैः पञ्चभिरेतुमैच्छत्, - वही,1.10
3. जातक, प्र.खं. क.सं.1, पृ.176-184
4. वही, पृ.176
5. वही, प्र.खं. क.सं.51, पृ.387-931
6. वही, तृतीय खं., अब्भन्तर वग्ग, क.सं. 282

16

संस्कृत वाङ्मय की प्रथम डायरी

दिने दिने याति मदीयजीवितम् : एक रम्य और उपादेय सृष्टि

ओम् प्रकाश पाण्डेय

अत्यन्त प्रौढ़ महाकवि, श्रेष्ठ मनीषी, नव-नवोद्भावनाओं के चिन्तक, अजातशत्रु, उदारहृदय मानव तथा देश-विदेश में संस्कृत-वाङ्मय के प्रचार-प्रसार के लिए निरन्तर सन्नद्ध और परिपक्व गवेषक प्रो० डॉ० सत्यव्रत शास्त्री सतत सारस्वत-साधना के ऐसे शिखर प्रतीक-पुरुष हैं, जिनकी लेखिनी अद्यावधि अविराम गति से देववाणी के भण्डार को समृद्ध करने में संलग्न है। उनकी सद्य: (सन् 2011 में) प्रकाशित कृति है - दिने दिने याति मदीयजीवितम्, जो दैनन्दिनी-लेखन की संस्कृत में प्रथम, परन्तु उत्कृष्टतम उपलब्धि है।

संस्कृतेतर अन्य भाषाओं में डायरी-लेखन और प्रकाशन की सुदीर्घ परम्परा है। डॉ० शास्त्री की इसी कृति (पृ० 171 से विदित होता है कि पाश्चात्य देशों में Diary of Ann Frank, Diary of Pepys प्रभृति विशाल डायरी-साहित्य उपलब्ध है। अरबी-फारसी भाषाओं में भी प्रचुर डायरी-लेखन है। मुगल बादशाहों ने अपनी आत्मकथाएँ प्राय: दैनिक घटनाओं के विवरणों के माध्यम से ही लिखीं - जैसे - बाबरनामा, आइने अकबरी तथा तुजुके जहाँगीरी इत्यादि। हिन्दी प्रभृति भाषाओं में भी बहुसंख्यक डायरियाँ प्रकाशित हुई हैं, लेकिन संस्कृत में डायरी-लेखन प्राय: अनुपलब्ध है। शास्त्री जी को यह टीस बहुत समय से अनुभव हो रही थी, इसीलिए उन्होंने स्वयं ही इस अभाव को दूर करने का सङ्कल्प किया, जिसका प्रतिफल हमारे सम्मुख है।

अन्य भाषाओं में डायरी के लिए प्रचलित अनेक नाम थे, यथा हिन्दी में 'दैनन्दिनी', बँगला में दिनपञ्जी, गुजराती में 'वासरी' इत्यादि। लेकिन शास्त्री जी के मन में डायरी-लेखन की जो परिकल्पना थी, उसके अनुरूप उन्हें प्रचलित नामों में से एक भी नहीं रुचा, और उन्होंने 'दिने दिने याति मदीयजीवितम्' जैसे काव्यात्मक एवं यथार्थ नामकरण को स्वीकार किया।

प्रचलित मान्यता के अनुरूप डायरी-लेखन प्रतिदिन होना चाहिए, लेकिन शास्त्री जी के सदृश सारस्वत-अनुष्ठानों में अतिव्यस्त व्यक्ति के लिए यह सम्भव नहीं था। निकट और दूर की यात्राएँ भी इसमें बाधक थीं। इस कारण लेखन में कभी-कभार अन्तराल स्वाभाविक था, जिसका

स्पष्टीकरण भी उन्होंने 'पुरोवाक्' तथा भीतर के पृष्ठ 173 पर दिया है – 'डायरी मम प्रतिदिनं वृत्तस्य वृत्तस्य वर्णनं भवेत्।....कदाचित् तथा कार्यान्तरातिपातो भवति यथा यस्मिन् दिने वृत्तानि वृत्तानि तेषां तस्मिन्नेव दिने लिपिबन्धो न सम्भवति तदाऽहं दिनद्वयानन्तरं दिनत्रयानन्तरं ततोऽप्यधिकदिनानन्तरं लिपिबन्धं करोमि। तत्स्मृत्याधारेणैव।'

डायरी-लेखन के प्राणभूत तत्व हैं – प्रामाणिकता, निश्छल वैयक्तिकता, लोकोपयोगिता तथा पाठक को बाँधे रखने की अकूत क्षमता, जो दिने दिने याति मदीयजीवितम्' में भरपूर हैं। यह संस्कृत-डायरी, जिसका आरम्भ 14 जनवरी 2006 से होता है, जो सङ्क्रान्ति-पर्व था, और समापन 19 जून 2007 के विवरण से होता है। डेढ़ वर्ष की इस कालावधि में घटित लेखक के वैयक्तिक और सार्वजनिक क्रिया-कलापों, सारस्वत अनुष्ठानों तथा मानस-पटल पर प्रतिबिम्बित बहुविध प्रिय-अप्रिय अनुभूतियों का विवरण तो यह डायरी यथातथ्य प्रस्तुत करती ही है, साथ ही सांस्कृतिक और साहित्यिक दृष्टि से उपादेय बहुसंख्यक ऐसे तथ्यों का उद्घाटन भी करती है, जो अन्यथा अचर्चित और अज्ञात ही रह जाते। भाषा की दृष्टि से भी यह कृति अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अनेक नये शाब्दिक प्रयोग शास्त्री जी की विशिष्ट वैयाकरणिक अभिज्ञता के द्योतक तो हैं ही-पाठकों के लिए भी अभिव्यक्ति के नये क्षितिज आविष्कृत करते हैं। वाक्य-रचना की संश्लिष्टता और नये-नये पदबन्धों (मुहावरों) के प्रयोग संस्कृत-भाषा की अपार शक्तिमत्ता का बोध कराते हैं। भाषा जब दैनन्दिन जीवन के घटना-क्रम से एकरूप होती है, तो उसकी अभिव्यक्ति की भङ्गिमाएँ कितनी विविधता और रमणीयता से अलंकृत हो उठती हैं, इसका अनुभव पाठक को प्रतिपद इस डायरी के अध्ययन और आस्वाद में होता है।

शास्त्री जी प्रकृत्या सारस्वत-साधना के लिए समर्पित हैं – एक क्षण भी अन्य कार्यों में नष्ट करना उनके लिए असह्य है, इसकी झलक कृति में पौनः पुन्येन मिलती है। उनकी तद्विषयक कतिपय प्रतिश्रुतियाँ इस प्रकार हैं–

'आत्मन्येवात्मना तुष्टोऽहं साहित्य-साधनायां कालं व्यत्ययापयम्। न क्षणमपि वृथाऽहं करोमि। तादृशी मे प्रकृतिः। एतदर्थं धर्मपत्नी मह्यं भृशं कुप्यति। न स्वास्थ्येऽवदधति श्रीमन्त इति मामधिक्षिपति। परन्तु सारस्वतमाराधनमेव मह्यं रोचते। नान्यत्र मे प्रवृत्तिः। कि करवाणि। नाहं स्वां प्रकृतिमतिक्रान्तु प्रभवामि।' (पृष्ठ 19)

यात्रा में, विमान अथवा रेलयान के लेट हो जाने पर भी, वे किस प्रकार लेखन कर लेते हैं, इसका विवरण उन्होंने स्वयं ही पृष्ठ 37 पर अंकित किया है– 'यात्रार्थं यत्र कुत्रापि प्रस्थितोऽहं लेखन-सामग्रीं लेखनीं, पत्राणि, काष्ठफलकं च यत्र पत्राणि स्थापयित्वा लेखनं सुशकम्-सहैव नयामि। वस्त्रादिभिरन्यैरुपकरणैः सह मञ्जूषिकायां तामपि स्थापयामि। अतो गन्त्रीविरामस्थानं वा भवतु, व्योमपत्तनं वा, तां मञ्जूषिकातो निष्कास्य लेखनकर्मण्यात्मानं व्यापारयामि। तेन कालस्य सदुपयोगोऽपि भवति, साहित्यसाधनाऽपि यैव मम विनोदः। अस्मादेव महान्तं ग्रन्थराशिं निर्मातुमहमभूवं शक्तो यो जनान् विस्मापयति। ......नाहं क्षणमपि व्यर्थं करोमि, शास्त्राभ्यसनं मे

व्यसनम्, क्षणशः कणशश्चैव विद्यामर्थं च चिन्तयेदिति पुरातनोक्तिमनुसर्तुं सर्वात्मना यते' (पृ० 37-38)।

उपर्युक्त अंश प्रत्येक साहित्य-साधक के लिए प्रेरणा के अप्रतिम स्रोत हैं।

अतिसंयत और शालीन होने पर भी, मनीषी भी अन्ततः मानव ही है। यदा-कदाचित् दुर्व्यवहार के आघातों का उसके अन्तःकरण पर भी प्रभाव पड़ता ही है। डायरी-लेखक के रूप में ऐसे प्रसंगों का उल्लेख न करना शास्त्री जी को भी अनुचित लगा – इसलिए 'दिने दिने याति मदीयजीवितम्' में उल्लिखित ऐसे कतिपय स्थल किसी भी सहृदय की संवेदना को झकझोर जाते हैं।

प्रतिष्ठित व्यक्तियों के द्वारा विद्वानों की उपेक्षा लेखक को अत्यन्त अप्रिय प्रतीत हुई – जिसका आभास इन पंक्तियों से होता है – 'कथं मादृशोऽपि जन एवं तिरस्क्रियते प्रतिष्ठितम्मन्येन जनेन मे मानसीं रुजं जनयति। एवं धर्मकञ्चुकप्रवेशिन एतादृशा वाक्कौशलेन जनान्मोहयन्तोऽनार्यं व्यवहरन्ति सरस्वतीसमुपासनामात्ररुचिषु शास्त्रैकचक्षुष्केषु सांसारिक-विषय पराङ्मुखवृत्तिषु विद्वत्सु' (पृ० 24)। साहित्यिक चेतना के जागरण में सामान्यतः रुचि न लेने वाले धनी-मानी व्यक्तियों और धर्मोपदेशकों की खबर लेखक ने एक अन्य स्थल पर भी ली है – 'न चाद्यजना अद्यत्व एतादृशेषु कार्येषु रुचिं दधति।..... ये चास्माकं धर्माचार्या धर्मोपदेशका वा तेऽपि स्वार्थानुसन्धानपरा एव। न लोकं धार्मिकेषु कृत्येषु प्रेरयन्ति। एतत्प्रभाववशादेव साहितीमर्मविद्वांसो विद्वांस उपेक्षाभाजनं भवन्ति (पृ० 48)'।

शास्त्री जी ने, सरकारी विभागों के द्वारा भी जनता के साथ कितना पीड़ाप्रद व्यवहार किया जाता है, इसका स्वोपज्ञ विवरण डायरी में सँजोया है। विद्युत् विभाग ने बिजली के बिल में मनमानी रकम जमा करने का जो निर्देश दिया और उसे ठीक करने में कितनी अड़चनें लगाई, इसका लेखा-जोखा डायरी में विस्तार से है (पृ० 229)।

अकृतज्ञता की बढ़ती हुई दुष्प्रवृत्ति से भी शास्त्री जी का क्षोभ डायरी में प्रकट हुआ है – 'अद्यत्वे कृतकार्या उपकारिणं न स्मरन्ति, न केवलमिदमेव, तद्दर्शनमपि परिहरन्ति' (पृ० 46)। वृद्धावस्था में एक सद्गृहस्थ की धर्मपत्नी के अपस्वास्थ्य के सन्दर्भ में भूयसी चिन्ता स्वाभाविक है, क्योंकि उम्र के इस पड़ाव पर, दम्पती में वासनारहित निष्कलुष और निःस्वार्थ प्रेम ही अवशिष्ट रहता है। दि० 25 अप्रैल 2006 के दैनन्दिनी-लेखन में डायरीकार पत्नी के गिरते हुए स्वास्थ्य से इतना आहत है कि उसके सम्मुख किङ्कर्तव्यविमूढ़ता की स्थिति दिखलाई देती है – 'कथमत्र प्रवर्तितव्यमिति चिन्तयन्नपि न किञ्चिदवधारयामि।... यदि तस्या महाप्रयाणवेला समुपस्थितैव, यथा साऽऽह, कथमहमेकाकी जीवितशेषं यापयिष्यामि (पृ० 54)'। लेकिन तीन दिन बाद ही, 27 अप्रैल की दैनन्दिनी के आलेख में पत्नी के मानसिक असन्तुलन और प्रलाप से, जो लेखक के अनुसार 'थायराइड' संज्ञक ग्रन्थि के न्यूनाधिक प्रभाववशात् थी, वह इतनी अशान्ति अनुभव करते हैं कि घर में नहीं रह पा रहे हैं –'तस्या अनेन व्यवहारेण मनसि महान् मे

क्लेशोऽजनिष्ट।..... धर्मपत्न्या वाग्बाणैर्विद्धोऽशान्तमना गृहे स्थातुं नैच्छम्' (पृ० 62)। 14 दिस० 2006 के आलेख में भूले-बिसरे, बाल्यकाल के साथी के पुनर्मिलन और मधुरालाप का सुस्निग्ध विवरण है।

मानसिक अशान्ति दूर करने के लिए भी शास्त्री जी का विचित्र नुस्खा है। वह है मन को एकाग्र कर उसे रचनात्मक कार्य में लगा देना – पूर्वेद्युर्गृहे किञ्चित्तादृशं संवृत्तं येन मे मनो नितान्तं तान्तमभवत्। विचित्रा में प्रकृतिः। यदाऽहं मनसाऽशान्तो भवामि तदाऽधिकतरं श्राम्यामि व्यवसायात्मिकामेकां बुद्धिं समाश्रित्य निबन्धादिनिबन्धन आत्मानं व्यापारयामि' (पृ० 107)।

डायरीकार के वैयक्तिक जीवन के कुछ अन्य पक्ष भी अत्यन्त प्रेरक हैं। उनमें से एक है, नौकरों के साथ सद्व्यवहार का आग्रह। अपनी शिष्या उज्ज्वला के द्वारा परिचारिका के निमित्त लाये गये और समर्पित शाल के प्रसंग का उल्लेख करते हुए शास्त्री जी ने सम्राट् अशोक के अभिलेखांश को उद्धृत करते हुए जो मन्तव्य प्रकट किया है, वह आत्यन्तिक मानवीयता का द्योतक है – 'दासभतकम्हि सम्पटिपती-दासभृतकान् प्रति सम्प्रतिपत्तिः = सम्यग् व्यवहारः कर्तव्यः। तदतीवावश्यकम्। वेतनभोगिन एते जठरपिठरीपूरणाय श्राम्यन्ति। तेषां श्रमो यदि प्रशस्यते तर्हि तत्तेषु महान्तं सन्तोषं जनयति द्विगुणितेनोत्साहेन च ते सेवाकर्मण्यात्मानं व्यापारयन्ति। सेवाधर्मः परमगहनः। येऽत्र व्यापृताः सर्वभावेन तेऽस्मत्कृतज्ञताभरभरार्हाः। तान् ये निराद्रियन्तेऽवरकोटिका इति वाऽधमा इति वा तेऽसम्यग्दर्शनाः' (पृ० 190)।

संस्कृत-विद्वानों के पुत्र-पौत्र प्रायः संस्कृत नहीं पढ़ते। इसलिए विद्वज्जनों को बहुधा यह चिन्ता त्रस्त करती रहती है कि उनके अपूर्ण ग्रन्थों, उनकी पाण्डुलिपियों तथा सतत प्रयत्न से संचित ग्रन्थराशि का भविष्य क्या होगा? शास्त्री जी भी इस सन्दर्भ में अपवाद नहीं हैं। उनकी ये पङ्क्तियाँ प्रत्येक संस्कृतज्ञ के लिए मार्गदर्शिका हैं कि न्यूनतम एक पुत्र को तो उन्हें संस्कृतज्ञ बनाना ही चाहिए – 'न मत्सुतः पौत्रश्च विशेषेण संस्कृताऽधीतिनौ। पाण्डुलिपिरूपेण स्थितोऽपूर्णो मे ग्रन्थो वा ग्रन्थौघो वाकिञ्चित्करस्तत्कृते स्यात्।'

देश-देशान्तर में संस्कृत के अध्यापन, शोध-सङ्गोष्ठियों और सम्मेलनों में भाग-ग्रहण-हेतु शास्त्री जी ने उन्मुक्त रूप से विश्वभर में बहुधा भ्रमण किया है। थाईलैण्ड में तो वे चिरकाल तक मात्र आचार्य ही नहीं रहे, अपितु वहाँ की सम्मान्य राजकुमारी जी के भी परम आदरणीय गुरु बने। रामकथा के बृहत्तर भारत में विद्यमान विविध रूपों तथा स्वरूपों का आकलन कर 'रामकीर्तिकाव्यम्' – सदृश बृहत्काय महाकाव्य का प्रणयन थाई-रामकथा के आधार पर किया, इसलिए थाईलैण्ड के भारतस्थ दूतावास के अधिकारियों की अनन्त श्रद्धा के वे आस्पद रहे हैं – इसका विवरण भी डायरी में अत्यन्त प्रिय शब्दों में संचित है। हंगरी के दूतावास के अधिकारियों के साथ भी उनके आत्मीय सम्बन्धों का परिचय इस डायरी से मिलता है। हंगरी के यशोधर संस्कृतज्ञ 'अलेक्जेण्डर चोमा करश' की भारतभक्ति एवं संस्कृत-सेवा का वृत्त भी डायरी की विशिष्ट निधि है। हंगरी के ही अन्य श्रेष्ठ संस्कृतज्ञ 'जोजेफ वेकेर्दी' का विवरण भी श्लाघ्य है (पृ० 244)। शास्त्री जी ने

इसी क्रम में पाश्चात्य विद्वानों के अनुकरणीय और अभिनन्दनीय विद्या-व्यसन का भी सादर उल्लेख किया है (पृ० 245), क्योंकि 'नहि कृतमुपकारं साधवो विस्मरन्ति।'

वैयक्तिक सन्दर्भों के अतिरिक्त यह महनीय कृति अनेक ऐसे नवीन साहित्यिक तथ्यों की भी प्रस्ताविका है, जो विद्वानों की दृष्टि से भी प्रायेण अगोचर रहे हैं। नृपति शिङ्गभूपाल के संगीतविषयक ग्रन्थ 'सङ्गीतसुधाकर' तथा अलङ्कारशास्त्रीय ग्रन्थ 'रसार्णवसुधाकर' के नाम प्रायः बहुश्रुत हैं, लेकिन शिङ्गभूपाल शूद्र कुलज थे, इसकी जानकारी स्वल्प लोगों को ही होगी। यही स्थिति राजा मातंगदिवाकर तथा दाक्षिणात्य नृपति प्रोलय की भी है। शास्त्री जी ने इस तथ्य का उल्लेख कर सामाजिक सद्भाव के संवर्धन की ही चेष्टा की है (पृ० 21)। संस्कृत और अरबी भाषाओं में विद्यमान पारस्परिक साम्य का उद्घाटन भी इसी क्रम में अत्यन्त उपादेय है (पृ० 26)। महाकवि कालिदास के 'रघुवंश' और 'कुमारसम्भव' सदृश बृहत्कलेवरसम्पन्न महाकाव्यों की गणना बृहत्त्रयी में न की जाकर लघुत्रयी में क्यों की जाती है, यह जिज्ञासा भी लेखक के मस्तिष्क को निरन्तर आन्दोलित करती रही है। 'अहिंसा परमो धर्मः' – यह सूक्ति मूलतः किस ग्रन्थ की है – इसकी पड़ताल करने पर सामान्यतः हमारा जैन-बौद्ध साहित्य की ओर ध्यान जाता है, लेकिन शास्त्री जी ने इस सन्दर्भ में यह उल्लेख कर अतिव्याप्त भ्रम का अपनयन कर दिया है कि इसका वास्तविक स्रोत महाभारत है। 'काव्यशास्त्रविनोदेन कालो गच्छति धीमताम्' – यह उक्ति चिरपरिचित है, लेकिन यह विनोद किस प्रकार का होता है, इसे जानने की यदि आपकी इच्छा हो, तो डायरी के पृष्ठ 192 का अवलोकन कीजिए, जहाँ लेखक ने 'द्यूत', 'स्त्रीप्रसङ्ग' और 'चौरप्रसङ्ग' शब्दों के बिल्कुल नये और भिन्न अर्थ दिये हैं, जिन्हें जानकर इन शब्दों के प्रति आपका वैरस्य अत्यन्त रुचिकर कुतूहल में परिणत हो जाता है। आभाणक है –

'प्रातर्द्यूतप्रसङ्गेन मध्याह्ने स्त्रीप्रसङ्गतः।
'रात्रौ चौरप्रसङ्गेन कालो गच्छति धीमताम्।।'

इसके अनुसार प्रभातकाल द्यूत-प्रसंग से, दोपहर स्त्रीप्रसङ्ग से और रात चौर-प्रसंग से बुद्धिमान् बिताते हैं, लेकिन यह भी कोई बात हुई कि सवेरे-सवेरे जुआँ खेलें, दोपहर को स्त्रीप्रसंग करें (जबकि शास्त्रों में दिवामैथुन निषिद्ध है), और रात में चौर प्रसंग करें! फिर भी बुद्धिमान् माने जायें! शास्त्री जी ने हमारे धर्मसंकट का निवारण यह कहकर कर दिया है कि यहाँ 'द्यूतप्रसङ्ग' से महाभारत के पाठ, स्त्री-प्रसङ्ग से रामायण के पाठ और चौर-प्रसंङ्ग से भागवत के पाठ का अर्थ ग्राह्य है। हुई न बिल्कुल नई बात? मध्य एशिया में प्रचलित शब्द 'खलीलह दमनह्' की वास्तविकता को जानने के लिए भी आपको इस डायरी से रूबरू होना पड़ेगा, जिसमें शास्त्री जी ने लिख दिया है कि यह नामकरण है फारसी भाषा-भाषी देशों में 'पञ्चतन्त्र' का जो 'पञ्चतन्त्र के करटक और दमनक नामवाले दो शृगालपात्रों पर आधृत है (पृ० 200)। 'रघुवंश की पुरानी व्याख्याओं का आलोडन करके शास्त्री जी ने 'मन्दः कवियशः' की भी प्रचलित व्याख्या को चुनौती दी है। तदनुसार 'मन्दः' शब्द शनि और 'कवि' शुक्र के लिए यहाँ व्यवहृत हैं – एक

व्याख्याकार के अनुसार (पृ० 203)। विभिन्न भाषाओं की काकटेल या खिचड़ी से बनी मणिप्रवाल शैली की जानकारी भी रोचक है (पृ० 205)। 'रघुवंश' के ही चतुर्थ अङ्कगत सामान्य-प्रतिपत्तिपूर्वकमियं दारेषु दृश्या त्वया' – पंक्ति के 'सामान्य पद के भी चार अर्थ प्राचीन व्याख्याओं का मन्थन करके शास्त्री जी निकाल लाये हैं (पृ० 204)। उत्सुकता के शमन के लिए स्वयं ही 'दिने दिने याति मदीय जीवितम्' का अवलोकन कीजिए। शास्त्र-विचार की पारम्परिक शैली के 'उक्त', 'अनुक्त' और 'दुरुक्त' – जैसे अतिप्रचलित पदों से भी यह डायरी हमारा परिचय करा देती है (पृ० 218)।

संस्कृत-वाङ्मय की इस प्रथम डायरी का लेखन अत्यन्त प्रौढ़ संस्कृत भाषा में सम्पन्न हुआ है। लेखक के भीतर का वैयाकरण उन्हें निरन्तर नये प्रयोगों की दिशा में उत्प्रेरित करता रहा है। भाषा जब नई अनुभूतियों, नवीन विचारों और आधुनिक जीवन में प्रचलित नये उपकरणों से रूबरू होती है तो शब्दों के नये-नये प्रयोग स्वयमेव आवश्यक हो उठते हैं। दैनन्दिनी दैनिक जीवन से साक्षात् सम्बद्ध होती है, इसलिए वह सीमाओं को तोड़कर अरूप को रूपायित करने एवं कोशग्रन्थों में विद्यमान अप्रचलित, लेकिन सार्थक शब्दों को अपनी अभिव्यक्ति में पिरोने के लिए विवश हो जाती है। ऐसे नये शाब्दिक प्रयोग भी इस डायरी-लेखन की महत्त्वपूर्ण उपलब्धि हैं। ऐसे कतिपय शब्द इस प्रकार हैं –

वैयाकुली (व्याकुलता, पृ० 13), दूरश्रुतिदण्डक (टेलीफोन का चोगा, पृ० 24) आधारप्रकोष्ठ (बेसमेंट, पृ० 27) आमन्त्रण (विदाई लेना-शाकुन्तल में प्रयुक्त, लेकिन बाद में इस अर्थ में प्रायेण अप्रयुक्त, पृ० 36) भूमिक (फ्लोर-मंजिल, पृ० 38), सर्वरात्र (पूरी रात, पृ० 41) प्रतिरूपक (Copy-प्रति, पृ० 47), उपाजेकृत्य (बल का संचार करके) घनघनायिता (घन-घनाने का नामधातुकप्रयोग), गमिकर्मी (जाना, पृ० 27), सामान्य (सामान के अर्थ में, पृ० 75), ध्वनिमुद्रिका (C.D. पृ० 97), सग्धि-सपीति (खाना-पीना, पृ० 112), धनाया (धनलोलुपता, पृ० 176), कण्वचिकीर्षा (पाप करने की इच्छा, पृ० 125) न्यक्ष (विस्तार, पृ० 126), उत्क्रुत (भर्त्सित, पृ० 137) भाषणव्रज (भाषणसमूह, पृ० 167) अवलोकक (द्रष्टा, पृ० 176), घृतचेल (घटिया घी, पृ० 176), सांराविण (सर्वत्र शोर, पृ० 179), व्यतिहार (विनिमय, पृ० 180), प्राभृतीकृत (उपहृत, पृ० 183) समाशन (सहभोजन, पृ० 187), कणेहत्य (श्रद्धापूर्वक, रुचि ले-लेकर, पृ० 185), प्रारिप्समाना (प्रारम्भ करने की इच्छुक, पृ० 221), वैद्य (विद्वान् के नये अर्थ में, पृ० 223), उल्लाघ (नीरोग, पृ० 248) इत्यादि।

इस डायरी-लेखन में अनेक नये पदबन्धों का भी हृद्य प्रयोग आकर्षित करता है, यथा–'हृदयानि सीव्यन्ताम्' (दिलों को जोड़ना चाहिए, पृ० 77) तथा 'वंशस्तम्बाल्लट्वानुकर्षणम्' (बाँस के गुच्छे से बालों को निकालना, पृ० 105) इत्यादि।

शास्त्री जी ने क्रियापदों के प्रयोग के विषय में भूमिका में ही उल्लेख कर दिया है कि यह

डायरी–लेखन प्राय: लुङ्लकार (सामान्यभूत) में सम्पन्न हुआ है। 'लिट्प्रिय: कालिदास:' के अनुकरणपूर्वक कहा जा सकता है कि 'लुङ्प्रिय: श्रीशास्त्रिवर्य:'।

डायरी के ही पृष्ठ 65 पर यह प्रसिद्ध अँग्रेजी उक्ति उल्लिखित है – youth is beautiful, old age is useful – अर्थात् यौवन सुन्दर है और वृद्धावस्था उपादेय। लेकिन 'दिने दिने याति मदीयजीवितम्' में यौवन और वार्धक्य दोनों का ही अतिमनोरम संयोग परिलक्षित होता है। निष्कर्ष यह कि प्रस्तुत कृति रमणीय तो है ही, अत्यन्त उपादेय भी है।

• • •

17
आचार्य-सत्यव्रतशास्त्रिणां वैदेशिकं संस्कृत-साहित्यम्

हरिदत्त शर्मा

आधुनिकं संस्कृत-साहित्यं विविधाभिर्विधाभिः नवीनाभिः प्रवृत्तिभिश्च पुष्पितं पल्लवितं च जातम्। आसां प्रवृत्तीनामन्यतमाऽस्ति वैदेशिकवृत्तविषयिण्याः काव्यसर्जनायाः प्रवृत्तिः। इयं विधा विंशेसवीयशताब्द्या उत्तरार्धस्योत्तरार्धाद् बलवती बभूव। प्रतिभासम्पन्नाः संस्कृतविद्वांसो यदा शैक्षणिक-सांस्कृतिक-यात्राप्रसंगेषु दूरदेशान् जग्मुस्तदा तैः स्वानुभवाः पद्यबद्ध-कवितारूपेण लिखिताः। संस्कृतकवितायां वैदेशिकरूपाणि साकाराणि बभूवुः, वैदेशिकवृत्तविषयिणी अभिनवा काव्यविधा च प्रादुर्बभूव।

अस्या वैदेशिकयात्रावृत्तविषयिण्याः काव्यधारायाः प्रवर्तकाः सूत्रधाराः सन्ति मूर्धन्या विद्वांसः ज्ञानपीठ-सम्मान-सम्मानिताः पद्मभूषणालङ्कृताः सत्यव्रतशास्त्रिमहाभागाः, यैः स्वकीयं योरोप-दक्षिणपूर्वैशिया-यात्रायुगलम् अमरवाणी-काव्यधारायां मग्नीकृत्य अमरं कृतम्। प्रथमतः प्रो० शास्त्रिण एकोनविंशतिशतपञ्चसप्ततितमे (1975) वर्षे जर्मनीदेशस्य सांस्कृतिकीं यात्रां यदा कृतवन्तः, तदा 'शर्मण्यदेशः सुतरां विभाति' इति काव्यसर्जनं जातम्। पुनर्यदा ते एकोन-विंशतिशतसप्तसप्ततितमे (1977) वर्षे संस्कृतस्य अभ्यागताचार्य-रूपेण थाइलैण्डदेशं प्रस्थितवन्तः, तदा 'थाइदेशविलासम्' इति काव्यं प्रादुर्भूतम्। थाइ-रामायणस्य रामकियेनस्य कथामाश्रित्य लिखितं 'श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यं' विरच्य ते संस्कृत-साहित्य-संसारे सनातनरूपेण अमराः सञ्जाताः।

भारतमतिरिच्य संस्कृताध्ययनदिशायां सर्वाधिक अग्रगण्यो देशो जर्मनीदेश एव। तमेव शर्मण्यदेशाभिधानेन बोधितवन्तः शास्त्रिणः शतकद्वारा तद्देशीयाननुभवान् सहृदयसमाज-समक्षं प्रास्तुवन्। जर्मनीदेशो यूरोपद्वीपस्य मध्ये स्थितः। अयं समृद्धो धनधान्यसम्पन्नो नदीजलप्रपातरम्यो देशः सुतरां संशोभते-

योरूपभूमण्डलमध्यवर्ती
पारं समृद्धेः परमभ्युपेतः।
नाना-नदी-प्रस्रवणैः सुरम्यः
शर्मण्यदेशः सुतरां विभाति।।[1]

---

1. शर्मण्यदेशः ....पद्यम्-1

एकत: कविवरा अस्य देशस्य प्राकृतिकसौन्दर्ये मुग्धा:, अतस्तद् वर्णयन्ति, अपरतोऽत्रत्यानां देशवासिनां स्वभावस्य शरीरसौष्ठवस्य च चर्चां कुर्वन्ति। पुन: कदाचिदत्रत्यां समृद्धिं वैभवं च दृष्ट्वा विस्मयचकिता भवन्ति। जर्मन्यां सर्वत्र अभ्रंलिहाग्रा बहुभूमिका अट्टालिका भवनमालाश्च सन्ति। ग्रामाणां सुव्यवस्थां विकासविशेषतां चालोक्य कवेर्मनसि सन्देहो जायते यदिमे ग्रामा नगराणि वा।

प्रकृतिसौन्दर्यस्य ग्रामसौन्दर्यस्य च वर्णनमध्ये कविवर्यशास्त्रिणां शैक्षणिकं यात्रावृत्तं समानान्तररूपेण प्रचलति। जर्मनराष्ट्रं संस्कृतविद्याया: प्रमुखं केन्द्रं वर्तते। संस्कृतसंस्थानानां संस्कृतमनीषिणां च वर्णने कवय: परमां रुचिं दधति। मार्बुर्गनगरे फिलिप्स-विश्वविद्यालये स्थितमेकं भारतीयविद्याध्ययन-संस्थानम्, यत्र प्राप्य, संस्कृतविद्वद्भि: सह सम्मिल्य, तै: शास्त्रीयविषयेषु चर्चां विधाय परमानन्दं प्राप्तवन्त: सत्यव्रता:। शर्मण्यदेशस्य अन्यद् महत्त्वपूर्णं संस्कृतकेन्द्रं गौटिंगननगरे वर्तते, यत्र प्राप्य बौद्धदर्शनविदुषा गुस्ताव-रॉथेन सह मेलनम्, अन्यैर्विद्वद्भि: सह परिचयं कृत्वा, व्याख्यानं च दत्वा शास्त्रिणां मनसि अति प्रसन्नता जाता। इतोऽप्यधिकं हर्षो तन्मानसेऽजायत यदा तैर्दृष्टं यत् संस्थाया गृहद्वारे अथर्ववेदस्यैक: मन्त्र: अशोकशिलालेखस्य काश्चित् पंक्तयश्च टंकिता: सन्ति। इदं जर्मनीयानां भारतं संस्कृतं च प्रति रुचिं दर्शयति। तत्रैव च प्रो० वाल्दश्मिदेन स्वगुरो: सम्मानने रचिता: पद्यपंक्तयोऽपि उत्कीर्णा:, यासां माधुर्येण लालित्येन च कविवर्या: प्रभाविता अभवन्।

शर्मण्यदेशे भवान् स्वाननुभवान् प्रकाशयद्भि: शास्त्रिवर्यै: तद्देशीयाया राजधान्या बॉननगर्या यात्रावृत्तान्तो वर्णित:। तत्र तेषां 'इण्डोलोजिशैस सेमिनार' इत्याख्यस्य विश्वविद्यालयीय-विभागस्य प्रतिष्ठितानामाचार्याणां माइकेल-हानमहोदयानां च साक्षात्कार: सञ्जात:, येषां सौम्येन स्वभावेन तीक्ष्णया मेधया च ते अतिप्रभाविता जाता:। बॉननगरस्य चतुर्दिक् सौन्दर्येण कवेर्हृदयं सुतरां सम्मोहितं जातम्। बॉननगरं नवसेतुसमाच्छादिताया राईननद्या उभयोस्तटयोरवस्थितम्। तन्निकटवर्तिन: पर्वता: तच्छोभाम् अधिकतरं वर्धयन्ति। हरिततृणभरिताभिरधित्यकाभि:, हरीतिमभृतैरुद्यानै:, द्वीपै:, पुष्पभारयुतैर्गृहैश्च शोभते बॉननगरम्, यथाहु: कवय:-

कूलद्वये तस्य नदस्य तावद्
बॉनाख्यमास्ते नगरं निविष्टम्।
यस्योपकण्ठे वलया गिरीणां
सौन्दर्यमत्यद्भुतमर्पयन्ति ।।[1]

अत्रत्या: कृषका: द्राक्षाया: कृषिं कुर्वन्ति, अनेकानुद्योगांश्च सम्पादयन्ति। बॉननगरे द्वात्रिंशत्तलयुक्तमेकं गगनचुम्बि भवनं वर्तते, यत्र जर्मनसंसद: कार्यालया: स्थिता:, यदालोक्य कविवर्या नैका: कल्पना: कल्पन्ते। बॉनपुरशोभाधायिकायां राईननद्यां नौकाविहारानन्दम् उपभुञ्जत:

1. तदेव.....पद्यम्-42

कवेर्दृष्टिपथे पञ्चानां पशुपक्षिणां विशाला: प्रतिमा: आयान्ति, या: पञ्चद्वीपानां प्रतिनिधित्वं कुर्वन्ति। व्याघ्र एशियामहाद्वीपस्य, कङ्गारु: आस्ट्रेलियाया:, हस्ती अफ्रीकाया:, वृष अमेरिकाया: तथा श्येनो योरोपद्वीपस्य प्रातिनिध्यं विदधति। इमां यात्रां अग्रेसारयन्त: कवय: प्रथमं श्तुतगार्तनगरं पुनश्च हाइडिलबर्गनगरं प्राप्तवन्त:। हाइडिलबर्गे स्थितं भारतीयाध्ययनसंस्थानं प्राप्य तत्र संस्कृतपण्डितै: समं मेलनं, आधुनिक-संस्कृत-साहित्यमधिकृत्य व्याख्यानं प्रमुखं कार्यं जातम्। अस्मिन्नेव क्रमे कविवरा: ट्यूबिंगननाम्नो नगरस्य यात्रां कृतवन्त:। तत्र पालथीमेसदृशैर्विद्वद्भि: सह तेषां समागमो जात:। तदतिरिक्तं श्ताइतेनक्रोनेन बर्गरेण च विदुषा तेषां संगमोऽभूत्। 'संस्कृत-वाङ्मये प्रयुक्तानां पर्यायशब्दानामर्थभेद:' इति विषयमवलम्ब्य भाषणं दत्वा ते राजप्रासादं ददृशु:। श्तुतगर्तनगरं पुनरागत्य ते अत्रत्येषु श्यामवनेषु विचेरु:। नानाविधैर्द्रुमैर्लताभिश्च वेष्टितं, विविधविधाभि: नदीभि:, जलप्रपातै:, अन्त:सौन्दर्यस्य बाह्यसौन्दर्यस्य च वर्णनं, तदीयानां संस्कृतनिष्ठावर्णनं उभयराष्ट्रजनानां कृते सुखवर्धनमभूत्।

वैदेशिकवृत्तविषयक-संस्कृतकाव्यपरम्परायां प्रो० शास्त्रिणां द्वितीयं योगदानं तदाऽभवद् यदा ते एकोनविंशतिशत-सप्तसप्ततितमे (1977) वर्षे थाइलैण्डदेशं प्रतस्थिरे, तथा थाइदेशराजधान्यां बैंकाकनगरे चूलालौङ्कौर्न-विश्वविद्यालये अभ्यागताचार्या: बभूवु:। तदनन्तरं तेषां थाइदेशप्रवासो दीर्घकालिक: पौन: पुन्येन च सञ्जात:। अस्मिन्नेव प्रवासकाले तै: थाइदेशस्यानुभवान् विषयीकृत्य 'थाइदेशविलासम्' इति काव्यं रचितम्। थाइलैण्डस्य आत्मनि प्रविश्य कविभि: तत्रत्या संस्कृति: संस्कृत-कवितारूपेण साक्षात् उपस्थापिता। ग्रन्थारम्भे थाइदेशस्य भौगोलिकीं स्थितिं वर्णयन्त: कवय: कथयन्ति-

अस्त्येशियानामनि सुप्रसिद्धे
द्वीपे विशालेऽतिविशालकीर्ति:।
आग्नेयदिङ्मण्डलमौलिभूतो
देशोऽतिरम्यो भुवि थाइलैण्ड:।।[1]

अस्य देशस्य पुरातनं नाम वर्तते स्याम इति। थाईजातिजनानां निवासाधिष्ठानत्वात् अयं थाइलैण्ड इति कथ्यते। अयं बौद्धधर्मावलम्बी देश:। अत्र बुद्धवचनप्रमाण:, प्रजारञ्जनपरायण:, अतुल्यतेज:पदवीं दधानो भूमिबलनामा राजा प्रशास्ति। अयं पुरातन-नूतनयो: समन्वयात्मको देश:। पाश्चात्त्य- प्रभाव-प्रभावितत्वेऽपि अत्र जनानां धर्मं प्रति गहना आस्था विद्यते। अत्र परस्सहस्रसंख्याका बौद्धभिक्षव: सन्ति ये विहारभूमिषु उषित्वा बुद्धवचनान्येव अङ्गीकुर्वन्ति, कथयन्ति, शृण्वन्ति च। एकतोऽयं बौद्धधर्मस्य देश:, अपरतश्च अत्र जनेषु रामायणं प्रति प्रगाढा रुचिर्दृश्यते। रामायणमाश्रित्य नैके नाट्यप्रयोगा जायन्ते। राज्ञां नामानि रामनामाश्रित्य उच्यन्ते। राजा रामवद् व्यवहरति, रामवद् प्रशास्ति। थाइदेशे सर्वत्र बौद्धमन्दिराणां प्रबलं बाहुल्यं दृश्यते, परमनेकत्र चतुर्मुखस्य ब्रह्मणोऽपि मन्दिराणि अवलोक्यन्ते, ब्रह्मण: पूजा विधिवद् भवति।

1. थाइदेश......पद्यम्-1

अस्य देशस्य राजधानी बैंकाकनगरी वर्तते, या भोगेश्वर्य-विलाससम्पन्ना विद्यते। अस्यां विद्यमाना आपणाः सदा स्वर्णाभूषणैर्मणिभिश्च भरिताः सन्ति। ते कौशेयवस्त्रैरपि समृद्धाः। बैंकाकनगरे विद्यमानानां सांस्कृतिकनिधीनां चर्चां कुर्वन्तः शास्त्रिणः तत्रत्यस्य सकलविश्वपर्यटकानाम् आकर्षणकेन्द्रस्य भव्यराजप्रासादस्य मरकतमणिमय-बौद्धालयस्य च चर्चां विदधति। मारकतप्रतिमामयस्य बुद्धस्य अतीव मान्यताऽस्ति। अस्य मन्दिरस्य भित्तिषु रामायण-कथाश्रितानि परश्शतानि विचित्रवर्णानि चित्राणि चित्रितानि, यानि सर्वे जना विस्मयेन कुतूहलेन च पश्यन्ति। अत्रैवैकः पुरातनो राजप्रासादः, यः प्राचीननृपाणां निवासस्थलमासीत्। उत्कृष्टवास्तुकलायाः केन्द्रत्वात् अयं सर्वेषामाकर्षणकेन्द्रमस्ति। बैकाके एकोऽद्भुतो रोचकः थाइग्रामोऽस्ति, यत्र परिधान-प्रदर्शनं, मुष्टियुद्धं, हस्तिकलादर्शनं च प्रदर्श्यन्ते। बैंकाकपुरं परितः चायोफयानाम्नी नदी प्रवहति, याऽस्य पुरस्य शोभामधिकं परिपुष्णाति।

अद्यापि थाइलैण्डः राजतन्त्रात्मक-सत्तायाः देशः, यत्र राजा सर्वोपरि मन्यते। अद्यापि तत्र चक्रीतिनाम्नो राजवंशस्य राजा राज्यारूढः, यस्य वंशस्य संस्थापकेन नृपेण बैंकॉकनगरं राजधानीरूपेण सम्मतम्। स राजा लोके मूलरूपेण रामनाम्ना विख्यातो बभूव। अनेनैव रामभक्तियुक्तेन सता थाइभाषायां रामस्य दिव्यचरितं गीतम्। सहस्रपद्येषु निबद्धमिदं 'रामकीर्ति' नामकम् अद्वितीयं रामायणकाव्यं रचितम्। अस्य रामप्रथमस्य पुत्रो रामद्वितीयो बभूव, येन संक्षिप्तरूपेण स्वकीयैः शब्दैः रामस्य गाथा वर्णिता। अस्मिन् वंशे रामष्षष्ठो मंकुटनामा राजा बभूव, येन रामगाथेयं भूयो वर्णिता। मूलतः कथानकस्य रम्यांशस्तेन वाल्मीकिरामायणादेव गृहीतः, अस्मै च नाट्यरूपं प्रदत्तम्। अस्मिन्नेव चक्रीवंशे परमविद्वान् प्रतापशाली चूलालौङ्कौर्ननामकः श्रेष्ठो राजा बभूव। तस्यैव वंशस्य रामनवमो 'भूमिबोल' नामको बहुगुणगणसम्पन्नो राजा एव अधुना राज्यं करोति। तस्यैव राज्ञः सुता सिरिन्धौर्ननाम्नी राजकुमारी, या संस्कृत-वाङ्मयस्याध्ययने परमां रुचिं दधाति। तस्या गुणैः परितुष्टेन प्रभावितेन च राज्ञा भूमिबलेन सा महाचक्रीत्युपाधिना सम्मानिता। थाइलैण्डस्य धर्मपरायणतां संस्कृतिनिष्ठतां चालोक्य कविशास्त्रिभिः थाइलैण्डस्य स्वरूपमित्थं वर्णितम्-

धर्मो राष्ट्रं च राजा च चतुर्थी संस्कृतिस्तथा।
एतच्चतुष्टयं प्राहुः थाइदेशस्य लक्षणम्।।[1]

थाइदेशविलासे कविना थाइलैण्डस्य राजनैतिक इतिहासोऽपि निबद्धः। चायोफयासरितस्तटे थौनबुरीनाम्नी एका नगरी अस्ति, या पुरा थाइलैण्डस्य राजधानी बभूव। इतः पूर्वं सप्तदशाधिकचतुःशतवर्षाणि (417) यावत् अयोध्याऽऽस्य देशस्य राजधान्यासीत्। अयोध्यायां बुद्धस्य विशालतमा कांस्यप्रतिमा विद्यते। अयोध्यायाः अनतिदूरं सुखोथाईनामकं नगरं वर्तते। एषां सर्वेषां स्थानानामितिहासः कविना संक्षेपेण प्रकाशितः। अस्मिन्नेव क्रमे कविना सागरस्य विशालैरुत्तुंगैस्तरंगैः तरंगितस्य पतायानामकस्य स्थानस्य चर्चा कृता, यत् पर्यटकानां सागरविहारस्य

---
1. तदेव.........पद्यम्1/37

केन्द्रमस्ति। थाइलैण्डस्य प्रसिद्धेषु सागरतटेषु फुकैटनामकं सागरतटमपि अस्ति। च्याङ्माईनगरमपि पर्वतशृंखलाभिः परिवारितम् एकं विख्यातं नगरम्।

कविवर्याणां सत्यव्रतशास्त्रिणां विदेशविषयसाहित्यसर्जनाया एको विराट् स्तम्भस्तदा स्थापितः, यदा तैः थाइलैण्ड-प्रवासकाले थाइभाषाबद्धस्य 'रामकियेन' नाम्नो रामायणस्य अनुशीलनं कृतम्, तथा थाइरामकथामाश्रितं 'श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम्' इति अभिनव-संस्कृतमहाकाव्यं रचितम्। पञ्चविंशतिसर्गात्मकमिदं महाकाव्यं एकोनविंशतिशतनवतितमे (1990) वर्षे बैङ्कॉकनगरादेव प्रकाशितम्। इदं वैदशिकरामायणीयां रामकथामाश्रित्य संस्कृतकाव्यसंरचनं नाम नवं किञ्चित् प्रवर्तनम् यथा स्वयं कथयन्ति कवयः काव्यभूमिकायाम्-

'रामकीर्तिमहाकाव्यं नामाग्नेयैशियारामायणानां संस्कृतेनोपन्यासे प्रथमः प्रयासः।'[1]

अस्मिन् महाकाव्ये रामस्य मूलकथा तथैव वर्तते, तत्र किमपि परिवर्तनं नास्ति, परन्तु रामकथया सह यानि अनेकानि उपाख्यानानि वर्णितानि, नैकानि कथानकानि संयोजितानि, तैर्नवताधारणत्वात् अस्य महाकाव्यस्य स्वरूपं परिवर्तितमिव, यथाहुः कवयः:-

आत्मीयभावेन हृदि स्थितेन
तेनैव नानाऽत्र कथानकानि।
संयोजितानि प्रथयन्ति किञ्चिद्
रामायणस्यान्यदिव स्वरूपम्।।[2]

रामकथायाः थाइदेशीयत्वात् अस्य महाकाव्यस्य विविधपात्राणां नामानि थाइभाषासम्बद्धानि सन्ति, अथवा संस्कृतभाषायाः थाइरूपान्तराणि वर्तन्ते। रामायणे आश्रितमपि थाइसंस्कृतिप्रभाववशाद् इदमद्भुतं वैदेशिककाव्यं जातम्। बैङ्कॉकस्थिते भव्यराजप्रासादे उत्कीर्णानां विविधवर्णानां चित्रकलाया मनोरमरूपाणां चित्राणां प्रतिच्छवीनामस्मिन् काव्येऽपि निबन्धनात् काव्यस्यास्य बाह्यरूपमपि परमाकर्षकं सौन्दर्यमयं जातम्। सत्यम्, रामकीर्तिं विरच्य अमरां कीर्तिं लभमानाः शास्त्रिवर्याः साहित्यक्षेत्रे महनीयाम् अमरतां प्राप्तवन्तः।

• • •

1. श्रीरामकीर्ति........आत्म० पृ०-13
2. तदेव.......... 1/37

18
थाईलैण्ड की रामकथा परंपरा का महाकाव्य–रामकीर्तिमहाकाव्यम्

मधुसूदन म० व्यास

महाकाव्य को श्राव्य-काव्य की विधाओं में सबसे प्रमुख माना गया है। महाकाव्य शब्द महत् और काव्य दोनों शब्दों को मिलाकर बना है। महत् का अर्थ महान् या बड़ा है। इस विशेषण से ही प्रस्तुत काव्य प्रकार की प्रधानता प्रकट होती है 'महाकाव्य' इस संज्ञा का प्रयोग वाल्मिकि रामायण में मिलता है। यहां उसी वाल्मिकि रामायण को महत् काव्य कहा गया है। उसी की परंपरा में से या यूं कहो कि रामकथा के ग्रंथ न केवल भारतभूमि में अपितु विश्व के देशों में प्रत्येक सदी में लिखे गए हैं। बीसवीं शताब्दी में रचित थाईदेश की रामकथा महाकाव्य– 'रामकीर्ति' अपनी अनेक विशेषताओं से मंडित है जिसकी चर्चा आगे की जाएगी।

किन्तु महाकाव्य शब्द के बारे में विचार करें तो प्रस्तुत शब्द का अन्य नाम मिलता है 'सर्गबन्ध'। यह भी वाल्मिकि रामायण के प्रभाव से प्रचलन में आया हुआ प्रतीत होता है क्योंकि वाल्मिकि रामायण पहला काव्य है जिसका विभाजन कांडों के अंतर्गत सर्गों में हुआ है। संस्कृत महाकवियों में महाकवि माघ ने सर्वप्रथम महाकाव्य का विशिष्ट काव्य प्रकार के अर्थ में उल्लेख किया है।

विषमं सर्वतो भद्रचक्रगोमूत्रिकादिभिः।
श्लोकैरिव महाकाव्यं व्यूहैस्तद्भवद् बलम्।।

शिशुपालवधम् 19/41।।

किन्तु महाकाव्य या आदिकाव्य का विचार करते समय हमारी दृष्टि में आदिकवि वाल्मिकि प्रणीत 'रामायणम्' का विचार तुरंत आता है चूंकि रामायण ही ऐसा महाकाव्य है जिसने दूरवर्ती अनेक कवियों–महाकवियों को स्वकीय सृजन की प्रेरणा दी है। थाईदेश के 'रामकीर्तिमहाकाव्यम्' के आलेखन में भी रामायण की ही प्रेरणा का स्रोत है। किन्तु रामायण पर अपने विचार डॉ० केशव मुसळगाँवकरजी ने इस प्रकार रखा है जो कि आदिरामकाव्य के माहात्म्य को बखूबी प्रकट करता है।

"वाल्मिकीय रामायण एक विकसनशील महाप्रबन्ध काव्य है। और इसके मूलरूप में प्रधानता वीररस की ही है। किन्तु अपने स्वरूप के अनुसार यह संप्रति दूसरे ही रूप में प्रतिष्ठित है। इसलिए इस का प्रधान उद्देश्य युगानुरूप संयमित वीरता के साथ–साथ भारतीय आदर्श गार्हस्थ्यजीवन को अभिव्यक्त करना ही है। इस प्रकार रामायण प्राचीन राष्ट्रीय इतिहास एवं संस्कृति का कलात्मक प्रतीक है।"[1]

इस प्रकार रामायण का प्रभाव देखकर हम आगे बढ़ते हैं तो कालिदास और रघुवंश अथवा रामकथा हमारे समक्ष आते हैं। क्योंकि परंपरा की दृष्टि से देखें तो जैसे रामकथा की परंपरा के आद्यस्थापक आदिकवि वाल्मिकि का स्मरण करते हैं वैसे ही उसी परंपरा के प्रोज्वल नक्षत्र स्वरूप कालिदास को भी भूल नहीं सकते क्योंकि इन्होंने रघुवंशमहाकाव्य में अनूठे ढंग से रामकथा को अभिव्यक्त किया है। इस सफल महाकाव्य की अनेक रंगछटाएँ साहित्य आकाश में फैली दिखती है। किन्तु महाकाव्यकार ने जिन मानवीय भावों का आलेखन विविध प्रसंग पर किया है उसका आश्रय किन किन छंदों को लेकर किया है इस की सुंदर संशोधनात्मक आलोचना डॉ० केशव मुसळगाँवकर ने दी है। रघुवंश के ग्यारह छंदो को दृष्टांत के रूप में दिखाकर प्रत्येक में कौन सी अभिव्यक्ति है वह उन्होंने क्रमशः दिया है किन्तु इस का निष्कर्ष चँद शब्दों में इस प्रकार लिखा है। "इस प्रकार सफलता के लिए प्रस्थान या प्राप्ति में अन्वर्थनाम पुष्पिताग्रा निराशा के साथ निवृत्ति में तोटक, कृतकृत्यता में शालिनी तथा वीरता प्रदर्शन में औपच्छन्दसिक, क्रीडा के वर्णन में रथोद्धता, संयोग से स्वयंप्रायः विपत्ति या संपत्ति में स्वागता, घबराहट में मत्तमयूर प्रपंचों के परित्याग में नाराच तथा वीरता आदि के वर्णन में शार्दूलविक्रीडित का प्रयोग किया है।" विविध भावों में किन–किन छन्दों का प्रयोग करके डॉ० सत्यव्रतशास्त्रीने रामकीर्तिमहाकाव्यम् में आलेखन किया है यह भी इस संदर्भ में देखा जा सकता है किन्तु डॉ० सत्यव्रतशास्त्री ने प्राचीन या पंचमहाकाव्यों की भाँति अपने महाकाव्य में भी करीब बीस छन्दों का प्रयोग किया है।

डॉ० केशव मुसळगाँवकर ने प्रथम से बारहवीं शताब्दी तक के संस्कृतमहाकाव्यों का आमूलचूल अध्ययन किया है उसी परंपरा में जितने रामकथाश्रित महाकाव्यों का आलेखन विविध शताब्दियों में हुआ है इसका यथार्थ चित्र देखने को मिलता है। रामायण का वाल्मिकि महाकाव्यम् के अनुवर्ती समय को देखें तो चौथी से बारहवीं शताब्दियों के रामकाव्यों की सूची इस प्रकार है जिसमें अलग सदी में हुए दो महाकवियों ने अपने महाकाव्यों का नाम 'रामचरितम्' रखा है, यह अनूठी बात है।

समय	कृतिनाम	कविनाम
1. चौथी शताब्दी	रघुवंशम्	कालिदास
2. सातवीं शताब्दी (पूर्वार्ध)	भट्टि	भट्टिकाव्यम्

1. पृष्ठ –169, 'संस्कृत महाकाव्यकी परंपरा', लेखक – डॉ० केशवराव मुसळगांवकर, प्रकाशक – चौखम्भा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी – प्रकाशन वर्ष 1969

समय	कृतिनाम	कविनाम
3. आठवीं शताब्दी	जानकीहरणम्	कुमारदास
4. दसवीं शताब्दी (मध्यभाग)	रामचरितम्	अभिनंद
5. ग्यारहवीं शताब्दी (पूर्वार्ध)	रामचरितम्	संध्याकर नंदी
6. बारहवीं शताब्दी	राघवपांडवीयम्	धनंजय

इसके उपरांत जैनियों का रामायण पर आधारित ग्रंथो या महाकाव्यों का क्या प्रदान है वह देखें तो आठवी शताब्दी के विमलसूरि के 'पउमचरिउ' और हेमचंद्राचार्य का 'त्रिषष्टिशलाकापुरुष' नामक कृति में रामकथा को अपने ढंग से आलेखित किया गया है। तदुपरांत सत्रहवीं शताब्दी में राजचूड़ामणि दीक्षित ने भी रामकथा पर महाकाव्य लिखा था जो कि रामायण महाकाव्यम् के नाम से हस्तलिखितरूप में प्राप्त होता है। अठारहवीं शताब्दी में केरल के मलबार प्रांत के रामपाणिपाद ऐसे महाकवि थे जिन्होंने राघवीयम् एवं विष्णुविलास नामक दो महाकाव्यों का आलेखन किया था। इस में राघवीयम् नामक कृति में बीस सर्गों में 1572 श्लोको में अपनी प्रतिभा का प्रकाश फैलाया है। ततः उन्नीसवीं शताब्दी के रामाधारित संस्कृतमहाकाव्यों को देखें तो नव्य चंडीदास नामक हरियाणा निवासी महाकवि का नाम पाया जाता है इन्होंने 'रघुनाथगुणोदय' नामक महाकाव्य में तेरहवें सर्ग में उत्कृष्ट महाकाव्य लिखा है।[1] इस सूची में कुछ महत्वपूर्ण महाकाव्यों के नाम शायद नहीं होंगे जिसके लिए लेखक क्षमाप्रार्थी है। संस्कृत महाकाव्यों के बारे में जब यहां आलेखन करते है तब यह अविस्मरणीय बात है कि भले ही हम केवल रामकथाश्रित महाकाव्यों की सूची प्रस्तुत करें किन्तु जैसा कि डॉ० राधावल्लभ त्रिपाठी अपने संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास नामक ग्रंथ में लिखते हैं कि बीसवीं शताब्दी में संस्कृत में तीन सौ (300) महाकाव्य लिखे गए हैं। तब महाकाव्यों की बाढ़ आ गई हो ऐसा प्रतीत होता है। इन्होंने प्रस्तुत मुद्दे को संक्षिप्त कर निम्नलिखित रूप से समापन किया है। इस शताब्दी के उल्लेखनीय महाकाव्य है– "पंडिता क्षमाराव की 'सत्याग्रहगीता', 'उत्तरसत्याग्रहगीता' तथा 'स्वराज्यविजयम्', वेंकटराघवन् का मुत्तुस्वामीदीक्षित चरितम् 'बसंतत्र्यंबक', शेवडे का 'शुम्भवधम्' तथा 'विन्ध्यवासिनीविजयम्', श्रीधरभास्कर वर्णेकर का 'शिवरावज्योदेयम्', उमाशंकर त्रिपाठी का 'क्षत्रपतिचरितम्', परमानंद शास्त्री का 'जनविजयम्' तथा चीरहरणम्, प्रभुदास शास्त्री का 'गणपतिसम्भवम्', पद्मशास्त्रीका 'लेलिनामृतम्', स्वामि भगवदाचार्य का 'भारतपारिजातम्' (यह महात्मा गाँधी पर महाकाव्य है), रेवाप्रसाद द्विवेदी का 'सीताचरितम्', तथा 'स्वातंत्र्यसंभवम्', रसिकबिहारी जोशी का 'मोहभङ्गम्', अभिराजराजेन्द्रमिश्र का 'जानकीजीवनम्', तथा 'वामनावतरणम्', सत्यव्रतशास्त्री का 'रामकीर्तिमहाकाव्यम्', तथा 'बोधिसत्वचरितम्' आदि।।"[2]

1. पृष्ठ – 357, संस्कृतमहाकाव्य की परंपरा – तत्रैव, प्रकाशक – चौखम्भा संस्कृत सीरीझ, वाराणसी, संस्करण – 4, प्रकाशन वर्ष – 1998
2. पृष्ठ – 511, संस्कृत साहित्य का अभिनव इतिहास, ले० – डॉ० राधावल्लभ त्रिपाठी, प्रकाशक – विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, प्रकाशन वर्ष – 2007

इस प्रकार बीसवीं शताब्दी के संस्कृत महाकाव्यों का नाम स्मरण हमने किया जिसमें कि कई विद्यमान संस्कृत साक्षरों के महाकाव्य भी शामिल है। एवमेव रामकीर्तिमहाकाव्य का नाम स्मरण भी उसमें है।

रामकीर्तिमहाकाव्य के बारे में कुछ आकलन हो इससे पूर्व यह बताना चाहिए कि वाल्मिकीरामायणोपरांत संस्कृत महाकाव्यों में रघुवंश से लेकर रामकीर्तिमहाकाव्यम् तक जो रामकथा के महाकाव्यों की परंपरा रही उसमें प्राय: प्रत्येक शताब्दियों में राम के ऊपर कम से कम एक रामकथाश्रित महाकाव्य अधिक प्रसिद्ध बना है।

'रामकीर्तिमहाकाव्यम्' में कवि ने पच्चीस सर्गों में कुल मिलाकर बारह सौ इक्यानवे (1291) श्लोकों में स्वकीय प्रतिभा से रामचरित का आलेखन बडे ही अनूठे ढंग से किया है। चूंकि जब यह महाकाव्य लिखा गया तत्पश्चात् विविध दैनिकपत्रों मे एवं संस्कृत पत्रिकाओं में इसकी प्रशंसा सामान्य पाठकों से लेकर विदग्ध विद्वज्जनों ने की है। ततः इसका अनुवाद विभिन्न भारतीय भाषाओं में होने लगा। प्रस्तुत महाकाव्य की विशेषताओं का आगे चित्रण करेंगे। सम्प्रति इसके कथासूत्र का कवि ने किस ढंग से रखा है उसी का अक्षरशः निदर्शन अभीष्ट है।

(1) भूमिका - थाईदेश वर्णन (2) अनोमतन्नुपाख्यान
(3) रामजन्मोपाख्यान (4) नंदकोपाख्यान
(5) रामवनवासोपाख्यान (6) सीताहरणोपाख्यान - जटायुवधोपाख्यान
(7) हनुमत्संपर्कोपाख्यान (8) दरभ्युपाख्यान-वालिवधोपाख्यान तथा लङ्कादहन
(9) रावणस्वप्नोपाख्यान (10) बेंजकयी-उपाख्यान
(11) नील-हनुमद्विग्रह-उपाख्यान (12) सुवर्णमत्स्योपाख्यान
(13) मैयराबोपाख्यान (14) मैयराबोपाख्यान-पूर्ववृत्त
(15) कुम्भकर्णवधोपाख्यान (16) मलिवग्गब्रह्मोपाख्यान।
(17) रावण-आत्म-उपाख्यान (18) महीपालदेवासुरोपाख्यान
(19) लङ्का-उपद्रवोपाख्यान (20) सीतानिर्वासनोपाख्यान
(21) लवजन्मोपाख्यान (22) लवमंकुटरामसमागमोपाख्यान
(23) सीतापातालप्रवेशोपाख्यान (24) सीतापातालप्रवेशोपाख्यान पूर्वानुवृत्त
(25) सीतारामसमागमोपाख्यान

इस प्रकाश रामकीर्तिमहाकाव्य की परिसमाप्ति पंचविंशति सर्गों में हुई है जैसे कि सर्ग के शीर्षक में ही बताया है कि सीतासे रामका समागम इस अंतिम सर्ग में प्रस्तुत महाकाव्य में होता है अतः यह कथा सुखद है एवं अनेक गुणों से मंडित है।

प्रायः इस महाकाव्य का गुम्फन उपेन्द्रवज्रा — इन्द्रवज्रा या उपजाति छंदों में हुआ है। तथापि

विविध जगह पर अनुष्टुप् एवं अन्य सुप्रसिद्ध छंदों के माध्यम से कवि ने कथा को आगे बढ़ाया है। इन छंदों में शिखरिणी, मंदाक्रान्ता, वसंततिलका, तोटक, द्रुतविलंबित, भुजङ्गप्रयात, मालिनी, वियोगिनी, स्वागता इत्यादि प्रमुख हैं। कुछ स्थानों पर कवि ने महाकाव्यों के लक्षणानुसार सर्गान्त में छंद परिवर्तन भी किया है तथापि उसी छंद का आश्रय लेकर कथाप्रवाह को आगे बढ़ाना उन्हें उचित नहीं लगता। कुल मिलाकर करीब पन्द्रह छंदो का आश्रय कवि ने लिया है। कवि की भाषा सरल एवं हृद्य है। जैसे कि बेंकोकदेश को ही थाईलैण्ड कहते हैं ऐसा उन्होंने इस प्रकार अभिव्यक्त किया है।

बैंकाकेति समाख्यास्या यद्यपि प्रथिता पुरः।
तथाऽपि थाईदेशीया नैनयैतां प्रचक्षते।। सर्ग–1/श्लोक 6।।[1]

इस महाकाव्य में कुछ श्लोक संस्कृत सुभाषितों की याद कराने वाले मिलते हैं। जैसे कि सुप्रसिद्ध श्रलोक –

असंभवं हेममृगस्य जन्म तथापि रामो लुलुभे मृगाय।
प्रायः समापन्नविपत्तिकाले धियोऽपि पुंसां मलिनीभवन्ति।।

इस श्लोक को षष्ठ सर्ग के इक्कीसवे श्लोक में इस प्रकार व्यक्त किया है –

असम्भवं हेममृगस्य जन्म तथाऽपि सीता लुलुभे मृगाय।
प्रायः समासन्नपराभवाणां धियो विपर्यस्ततरा भवन्ति।।6/21।।[2]

प्रस्तुत महाकाव्य की भूमिका में पाया जाता है कि यह कथन सर्वथा सत्य है कि यदि एशिया की कोई एक कथा है तो वह रामकथा ही है। इस महाद्वीप के हर देश में इस ने अपना योगदान दिया है। थाईलेण्ड में यह रामकियन् (संस्कृत रूप रामकीर्ति) के रूप में पाई जाती है। यद्यपि आधारभूत कथा सभी एशियाई देशों में एक सी ही है तो भी थाई रामकथा अन्य देशों की रामकथा से पर्याप्त भिन्न है। इसके अनेकानेक आख्यान और उपाख्यान अन्यत्र उपलब्ध न होने के कारण इसकी अपनी विशेषता है। प्रस्तुत महाकाव्य थाईदेश में उपलब्ध रामकथा को वर्णित करता है। इतना ही नहीं श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम् भारत के बाहर की रामकथा पर लिखा जानेवाला प्रथम महाकाव्य है। इस कृति के ऊपर अब तक विविध राज्यों के दशविध पुरस्कार मिल चुके हैं।

कवि डॉ० सत्यव्रतशास्त्रीजी ने यहाँ पर विविध भावों को लेकर अपने महाकाव्य में वर्णन का आश्रय विविध छंदों में लिया है। जैसे कि बीसवें सर्ग में सीतानिर्वासन प्रसंग है तो वहाँ उन्होंने वियोगिनी छंद का विनियोग किया है जो कि विरह या दुःख के मनोभावों को प्रायः व्यक्त करता है देखिए–

---

1. पृष्ठ –5, रामकीर्तिमहाकाव्यम्, ले०– डॉ० सत्यव्रतशास्त्री, अनु०– मिथिलेशकुमारी मिश्र, प्रकाशन – ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, प्रकाशन वर्ष – 1998
2. पृष्ठ –70, रामकीर्तिमहाकाव्यम्, ले०– डॉ० सत्यव्रतशास्त्री, अनु०– मिथिलेशकुमारी मिश्र, प्रकाशन – ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, प्रकाशन वर्ष – 1998

प्रमदा जगति प्रमादिनीरवलोक्यैव बुधा न्यरूपयन्।

न हि प्रत्ययमासु कर्हिचित् तनुयात् कोऽपि पुमान् विवेकवान्।। 20/39।।[1]

इस प्रकार थाईदेश की रामायण को अपने महाकाव्य रामकीर्ति में डॉ॰ सत्यव्रतशास्त्री जी ने पूर्णरूपेण सम्मिलित कर अपनी कविप्रतिभा का अनूठा परिचय दिया है। ओस्मानिया यूनिवर्सिटी, हैदराबाद के संस्कृत अकादमी वोल्युम-13 सन्-1991 में प्रस्तुत महाकाव्य की स्तुति इस शब्दों में की गई है। "It is a work no student of Sanskrit literature and Indian culture would afford to miss."

इस के उपरांत श्री सिंघवी साहब लंडन में रहकर प्रस्तुत महाकाव्य की प्रशंसा इस प्रकार करते हैं। "Sri Ramkirtimahakavyam occupies a pride of phase in the India House Library"—L.M.Singhvi (London) तो गौहत्ती में रहने वाले विश्वनारायण शास्त्री भी लिखते हैं कि- "It is a monumental work."

आखिर में एक अवतरण जरूर देना चाहिए जो कि नई दिल्ली में 1991 में 19 अक्तूबर को हिंदुस्तान टाईम्स में इस कृति के बारे में मुद्रित हुआ था। "This is the first attempt of its kind to present a Sanskrit Version in the traditional elegant Mahākāvya Style of the Thai Ramakien (aptly translated Ramakirti–glory of Rama)."

It would be quite interesting to undertake a project like "Innovations in Rāmkathā as found in Thai and other South East Asian Traditions". And this fascinating and Superb Sanskrit presentation by Satya Vrat would certainly go a long way towards facilitating such studies and providing thereby effective ties of cordial understanding and goodwill as well as cultural and educational closeness among most of the great countries of Asian Continent.

• • •

---

1. पृष्ठ -326, रामकीर्तिमहाकाव्यम्, ले॰- डॉ॰ सत्यव्रतशास्त्री, अनु॰- मिथिलेशकुमारी मिश्र, प्रकाशन - ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली, प्रकाशन वर्ष - 1998

19

वाल्मीकिरामायण तथा श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य के प्रमुख कथानकों की तुलनात्मक समीक्षा

बिमलेश कुमार मौर्य

वाल्मीकिरामायण का सामान्य परिचय

संस्कृत साहित्य में आदिकवि महर्षि वाल्मीकि-कृत रामायण 'आदिकाव्य' माना जाता है। कथा प्रसिद्ध है कि जब व्याध के बाण से विंधे हुए क्रौञ्च के लिए विलाप करने वाली क्रौञ्ची का करुण शब्द कवि ने सुना तो उनके मुख से अकस्मात् यह श्लोक निकल पड़ा-

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्।।[1]

महर्षि वाल्मीकि की कल्याणमयी वाणी सुनकर स्वयं ब्रह्मा उपस्थित हुए और उन्होंने महर्षि से श्रीराम के चरित का चित्रण करने के लिए कहा। रामायण की रचना इसी प्रेरणा का फल है। आदिकवि महर्षि वाल्मीकि अनुष्टुप् छन्द के आविष्कारक माने जाते हैं। वाल्मीकिरामायण में बालकाण्ड, अयोध्याकाण्ड, अरण्यकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड, सुन्दरकाण्ड, युद्धकाण्ड और उत्तरकाण्ड हैं। इस प्रकार कुल सात काण्ड अर्थात् सात भाग हैं। बहुत से विद्वान् बालकाण्ड एवं उत्तरकाण्ड के कतिपय अंशों को प्रक्षिप्त मानते हैं। उनका तर्क है कि बालकाण्ड के प्रथमसर्ग व तृतीयसर्ग में सम्पूर्ण कथा की जो विषय सूची दी गयी है उसमें उत्तरकाण्ड का निर्देश नहीं है। जर्मन विद्वान् याकोबी मूलरामायण में अयोध्याकाण्ड से लेकर युद्धकाण्ड तक पाँच ही काण्ड मानते हैं। लङ्काकाण्ड के अन्त में ग्रन्थ के अन्त होने की सूचना-सी प्रतीत होती है। इसलिए उत्तरकाण्ड को पीछे से जोड़ा गया माना जाता हैं।[2]

वाल्मीकिरामायण के वर्तमान रूप का भी हमें ठीक-ठीक परिचय मिल सके, तब भी उस महाग्रन्थ के अस्तित्व पर कोई आँच नहीं आ पाती। वाल्मीकिरामायण के वर्तमान रूप का पता लगाने के लिए देश-विदेश के विद्वानों ने बहुत श्रम किया है, किन्तु इन विद्वानों ने वर्षों के

1. वा. रा. 1.2.14।
2. आचार्य बलदेव उपाध्याय- संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. 24।

अनुसंधान पर जो निष्कर्ष निकाले हैं, वे इतने विरोधी एवं असङ्गत है कि उससे पाठक का समाधान होने की बजाय और बढ़ ही जाता है। बौद्धों का एक प्रसिद्ध जातक ग्रन्थ 'दशरथ जातक' है। जिसमें रामायण का वर्णन सङ्केत रूप में प्राप्त होता है। इसमें पालिभाषा में स्थानान्तरित उत्तरकाण्ड का एक श्लोक ज्यों का त्यों मिलता है। इस जातक का समय विक्रमपूर्व तृतीय शतक माना जाता है। अतः यह मानना पड़ेगा कि उत्तरकाण्ड की रचना उपर्युक्त समय के पहले हो चुकी थी।[1]

वाल्मीकिरामायण की आधिकारिक कथावस्तु रामजन्म से लेकर रामराज्याभिषेक तक ही है। महर्षि वाल्मीकि ने ग्रन्थारम्भ के साथ ही उसका आरम्भ करके बालकाण्ड के 18 वें सर्ग से आरम्भ की है और राम राज्यारोहण के युद्धकाण्ड तक समाप्त भी कर दिया है। इसलिए अधिकांश विद्वान् उत्तरकाण्ड को प्रक्षिप्त मानते हैं। इस प्रकार वाल्मीकिरामायण में आयोजित बालकाण्ड का पूर्वार्ध उसके भूमिका के रूप में और कथा के पश्चात् आयोजित उत्तरकाण्ड का उत्तरार्ध उसके उपसंहार के रूप में माना जा सकता है। वाल्मीकिरामायण की भूमिका में वाल्मीकि-नारद संवाद[2], क्रौञ्चवध[3], रामायण का निर्माण एवं उसका राम की सभा में कुश-लव द्वारा गायन[4] को प्रस्तुत किया गया है।

वाल्मीकिरामायण के उपसंहार की योजना में उत्तरकाण्ड के उत्तरार्ध में अनेक संवाद योजनाओं के अतिरिक्त इसमें कुछ शाप, वरदान एवं लोकापवाद की कथायें भी हैं। यथा- वैश्रवण कुमार की वर प्राप्ति[5], रावणादि की तपस्या और वर प्राप्ति[6], ब्रह्मर्षि कन्या वेदमती का शाप[7], इन्द्रादि देवताओं द्वारा मयूरादि पक्षियों को वरदान[8], नलकूबर का रावण को शाप[9], राम द्वारा सीता को वन में छोड़ देने का लक्ष्मण को आदेश[10], राजा निमि और वसिष्ठ का एक दूसरे के शाप से शरीर त्याग[11], ययाति को शुक्राचार्य का शाप[12], श्रीराम के यज्ञ में महर्षि वाल्मीकि द्वारा सीता की

---

1. आचार्य बलदेव उपाध्याय- संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. 25।
2. वा. रा. 1.1.1-79।
3. वा. रा. 1.2.14।
4. वा. रा. 1.4.27।
5. वा. रा. 7.3.15।
6. वा. रा. 7.10.1-49।
7. वा. रा. 7.17.26-27।
8. वा. रा. 7.18.29-33।
9. वा. रा. 7.26.44।
10. वा. रा. 7.45.15।
11. पं. शिवरामशर्मा वासिष्ठः- श्रीमद्वाल्मीकीयं रामायणम्, 7.57.1-21।
12. पं. शिवरामशर्मा वासिष्ठः- श्रीमद्वाल्मीकीयं रामायणम्, 7.58.23।

शुद्धता का समर्थन[1], सीता का शपथ ग्रहण और रसातल में प्रवेश[2], लव-कुश का राज्याभिषेक[3], राम का विष्णु रूप में प्रवेश[4] आदि कथायें वर्णित हैं।

वाल्मीकिरामायण को 'चतुर्विंशतिसाहस्री संहिता' भी कहते हैं। इसमें 24 हजार श्लोक हैं अर्थात् ठीक उतने ही हजार श्लोक जितने 'गायत्रीमंत्र' के अक्षर हैं। विद्वानों का मानना है कि प्रत्येक हजार श्लोक का पहला अक्षर गायत्रीमंत्र के ही अक्षर से क्रमशः आरम्भ होता है। वर्तमान में उपलब्ध संस्करणों की श्लोक संख्या के आधार पर वाल्मीकिरामायण के सम्पूर्ण श्लोकों की संख्या 24 हजार न होने पर भी प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों के समान कहीं-कहीं आधे श्लोक को भी पूरा श्लोक माना गया है। इस दृष्टि से वाल्मीकिरामायण की 24 हजार संख्या होने में किसी प्रकार की कठिनाई नहीं है। साथ ही उपलब्ध 'गायत्री रामायण' के आधार पर भी ग्रन्थ की 24 हजार श्लोक संख्या सुनिश्चित होती है-

चतुर्विंशत्सहस्राणि श्लोकानामुक्तवानृषिः।
तथा सर्गशतान्पञ्च षट् काण्डानि तथोत्तरम्।।[5]

वाल्मीकिरामायण की संक्षिप्त कथावस्तु

अयोध्या नरेश दशरथ की कथा, श्रीराम आदि चारों भाईयों का जन्म, राम-लक्ष्मण का विश्वामित्र के साथ रक्षणार्थ वनगमन, राक्षसादि वधरूप अनेक लीलाएँ, अद्भुत घटनाएँ, राम द्वारा मिथिला में धनुर्भङ्ग, राम, लक्ष्मण आदि का विवाह, श्रीराम-परशुराम संवाद।

श्रीराम राज्याभिषेक में कैकेयी की दुष्टता के कारण विघ्न, श्रीराम वनवास, प्रजाओं का विषाद, निषादराज गुह से राम का मिलन, दशरथ का निधन, चित्रकूट में राम-भरत मिलन, श्रीराम का दण्डकारण्य गमन।

विराध वध, शरभङ्ग मुनि का दर्शन, सुतीक्ष्ण के साथ मिलन, सीता-अनुसूया संवाद, श्रीरामादि के द्वारा अगस्त मुनि का दर्शन, उनके द्वारा दिया गया वैष्णव धनुष का ग्रहण, शूर्पणखा का संवाद, उसका विरूपीकरण, श्रीराम द्वारा खर-दूषण और त्रिशिरा का वध, शूर्पणखा के उत्तेजित करने पर रावण द्वारा सीता-हरण, राम द्वारा मारीच वध, रावण द्वारा सीता के रक्षक जटायु का वध, राम द्वारा कबन्ध वध, श्रमणा शबरी से मिलन।

श्रीराम का पम्पासरोवर के निकट हनुमान् से मिलन, सुग्रीव से मित्रता, वालि-वध, सुग्रीव को राज्य समर्पण, राम का प्रस्रवण गिरि पर निवास, सुग्रीव द्वारा वानरों को पृथ्वी के सभी द्वीपों का

---

1. वा. रा. 7.87.1-20।
2. वा. रा. 7.88.10-16।
3. वा. रा. 7.97.17-18।
4. वा. रा. 7.100.6।
5. पं. शिवरामशर्मा वासिष्ठः- श्रीमद्वाल्मीकीयं रामायणम्, 1.4.2।

परिचय दे सीता की खोज के लिए भेजना, श्रीराम द्वारा हनुमान् को सीता के विश्वास के लिए अपनी अङ्गूठी देना, वानरों का स्वयंप्रभा से मिलन, सम्पाति से उनकी भेंट और बातचीत, हनुमान् का समुद्र को लाँघना।

मैनाक का दर्शन करना, छाया ग्राहिणी सिंही का दर्शन व वध, लङ्का के आधारभूत त्रिकूट पर्वत का दर्शन, रात्रि के समय लङ्का में प्रवेश, विविध विचार कर रावण के मद्यपान स्थल में जाना, उसके अन्तःपुर की स्त्रियों को देखना, पुष्पकविमान का निरीक्षण करना, अशोक वाटिका में जाना और सीताजी के दर्शन करना, पहचान के लिए सीताजी को अङ्गूठी देना, उनसे वार्तालाप करना, राक्षसियों द्वारा सीता को भय दिखाना, त्रिजटा का स्वप्न दर्शन, जानकी द्वारा हनुमान् को चूड़ामणि प्रदान करना, हनुमान् द्वारा अशोक वाटिका के वृक्षों को भग्न करना, राक्षसियों का भागना, रावण के सेवकों का हनुमान् द्वारा संहार करना, हनुमान् का बन्दी बनकर रावण के दरबार में जाना, उनका भयङ्कर गर्जन और लङ्का दहन कर पुनः समुद्र लाँघ कर वानरों से मिलना, वानरों का मधुवन में आकर मधुपान करना, हनुमान् द्वारा राम को आश्वासन दे चूड़ामणि प्रदान करना।

सेना सहित सुग्रीव के साथ श्रीराम की लङ्का यात्रा, समुद्र से भेंट, नल का समुद्र पर सेतु बाँधना, सेतु द्वारा वानरों का सागर पार करना, रात्रि में ही वानरों द्वारा लङ्का को चारों ओर से घेरना, विभीषण के साथ श्रीराम की मित्रता, कुम्भकर्ण का वध, मेघनाद का वध, विभीषण का श्रीराम को रावण वध का उपाय बताना, रावण का विनाश, सीता की प्राप्ति, लङ्का में विभीषण का राज्याभिषेक, पुष्पकविमान के द्वारा दल-बल सहित श्रीराम का अयोध्या के लिए प्रस्थान, भारद्वाज से मिलना, श्रीराम का हनुमान् को दूत बनाकर भरत के पास भेजना तथा अयोध्या आकर भरत से मिलना, श्रीराम का राज्याभिषेक एवं उनके द्वारा सभी वानरों को सम्मानित कर विदा करना।

श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य का सामान्य परिचय

आचार्य सत्यव्रत शास्त्री विरचित 'श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम्' थाईदेश की रामकथा 'रामकिएन' का आधार स्वरूप है। थाईभाषा में रचित मूल रामकथा रामकिएन के अन्वेषक राजा 'बुद्ध योद् फा' राम प्रथम माने जाते हैं।[1] थाईभाषा में 'फा' का अर्थ सम्मानार्थक 'जी' होता है। इसके रचनाकार राजा 'बुद्ध नाइ लर्त् ला' राम द्वितीय हैं[2], एवं इसके गायक राजा 'फ्र मङ्कुट' राम चतुर्थ हैं।[3] थाईभाषा में 'फ्र' का अर्थ सम्मानार्थक 'श्री' होता है। थाईलैण्ड के वर्तमान राजा अतुलतेज राम

1. बुद्ध योद् फेति नामाऽऽसीत्तस्य विद्वन्महामणेः।
रामगाथां स्ववाचा यो जगौ कविधुरन्धरः।। श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य (श्रीराम.) 1.13।
2. बुद्ध नाइ लर्त् लेत्याख्यस्तत्परो नृपतिर्वरः।
प्रास्तौषीन्नाट्यरूपेण रामगाथां मनोहराम्।। श्रीराम. 1.18।
3. मङ्कुटाख्यस्तत्परोऽभून्मान्यो भूपालसत्तमः।
स्वबुद्ध्या रामगाथां यो व्याख्यत् ख्यातो मनीषिषु।। श्रीराम. 1.24।

नवम हैं।[1] यहाँ के सभी राजाओं ने अपने आप को राम के नाम से कहने में प्रसिद्धि मानते हैं। थाईभाषा में रचित रामकिएन केवल पद्यात्मक है। पद्यों में रचित मूल ग्रन्थ में कुल 52086 पद्य हैं। रामकिएन का समय 1797 ई. माना जाता है[2], परन्तु इसका प्रकाशन 1828 ई. में हुआ है। रामकिएन की मूल कथा का उत्स वाल्मीकिरामायण ही है।[3] प्रकृत महाकाव्य की कथावस्तु थाईलैण्ड में मौखिक, नाटकीय तथा यत्र-तत्र चित्रकारों द्वारा चित्रित साहित्यिक रूप से प्रचलित रामकथा पर आश्रित है। इस महाकाव्य में कुल 25 सर्ग तथा 1209 श्लोक हैं। यह कृति अंग्रेजी तथा थाईभाषा के अतिरिक्त कन्नड़, असमियाँ, हिन्दी (पद्यानुवाद), तेलुगु, तमिल, गुजराती, बाङ्ला इत्यादि सात भारतीय भाषाओं में भी अनूदित हो चुकी है। यह महाकाव्य पौराणिक कथा पर आधारित भारतीय रामकथा से कतिपय अंशों में भिन्न है। आचार्यप्रवर इस कथावस्तु का आधार एक ओर थाईदेश पर शासन करने वाले चक्रिकुल के राजवंशीय राम प्रथम 'बुद्ध योद् फा' नामक विद्वान् द्वारा लिखित रामकथा को मानते हैं और दूसरी ओर उस समय में प्रचलित लोक कथाओं को भी मानते हैं।

वाल्मीकिरामायण तथा श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य के प्रमुख कथानकों की तुलनात्मक समीक्षा

वाल्मीकिरामायण एवं श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य दोनों रामकथाश्रित महाकाव्य हैं। एक ओर वाल्मीकिरामायण भारतवर्ष के रामचरित का गुणगान करता है तो दूसरी ओर श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य थाईलैण्ड के रामचरित का गुणगान करता है। जहाँ वाल्मीकिरामायण की मूल रचना वाल्मीकि द्वारा युग-युगान्तर पूर्व त्रेतायुग की मानी जाती है, वहीं श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य अर्थात् रामकिएन की मूल रचना थाईभाषा में थाईलैण्ड के राजा बुद्ध नाइ लर्त् ला राम द्वितीय द्वारा कलियुग के 1797ई. के बाद की मानी जाती है। दोनों महाकाव्यों के इतिवृत्त में प्रधान चरित राम के स्वरूप के विषय में पृथक् दृष्टिकोण दिखलाई पड़ता है। इसके अतिरिक्त दोनों कथाओं में परम्परागत मान्यताओं की पृष्ठभूमि भिन्न होने के कारण चरित में भिन्नता आना स्वाभाविक है। यहाँ वाल्मीकिरामायण एवं श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य दोनों रामकथाश्रित महाकाव्यों में प्रतिपादित प्रधान इतिवृत्तों में साम्यता की दृष्टि से प्रतिपादन किया गया है।

1. दशरथ-वंशावली

वाल्मीकिरामायण एवं श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य दोनों ग्रन्थों में दशरथ की वंशावली का लगभग समान वर्णन मिलता है। वाल्मीकिरामायण में बालकाण्ड के 69वें सर्ग में दशरथ की वंशावली का

---

1. राजा प्रजारञ्जनमादधानः सर्वात्मना बुद्धवचःप्रमाणः।
   अतुल्यतेजःपदवीं दधानः प्रशास्ति यं भूमिबलाभिधानः।। श्रीराम. 1.3।
2. आग्नेय एशिया में रामकथा, पृ. 128।
3. श्रीराम. 1.29।

वर्णन प्राप्त होता है। धनुर्भङ्ग के अनन्तर रामादि विवाह के अवसर पर राजा दशरथ के अनुरोध पर वसिष्ठजी सूर्यवंश का परिचय देते हैं। इसमें ब्रह्मा, मरीचि आदि से लेकर श्रीराम लक्ष्मण तक सभी पूर्वज राजाओं का क्रमशः परिचय देते हैं।[1] श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य के द्वितीय सर्ग में केवल दशरथ के पिता अनोमतन् से लेकर श्रीराम आदि तक ही राजा दशरथ की वंशावली का वर्णन किया गया है-

सम्प्राप्तो जननमनोमतन्नृपस्य सत्पुत्रो दशरथ इत्युदारसत्त्वः।
तस्याभूदखिलजगन्नमस्यभूतः श्रीरामो गुणगणमण्डितस्तनूजः॥[2]

वाल्मीकिरामायण में दशरथ की तीन रानियों का वर्णन मिलता है जो कि ह्री, श्री, और कीर्ति देवियों के समान हैं-

तस्य भार्यासु तिसृषु ह्रीश्रीकीर्त्युपमासु च।
विष्णो पुत्रत्वमागच्छ कृत्वात्मानं चतुर्विधम्॥[3]

उसी प्रकार श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य में भी राजा दशरथ की तीन रानियों कौशल्या, सुमित्रा और कैकेयी का वर्णन किया गया है-

कौसल्या च सुमित्रा च कैकेयीत्यभिधानिकाः।
तिस्रो दशरथस्यासन् महिष्यो भुवि विश्रुताः॥[4]

2. पुत्रेष्टियज्ञ

वाल्मीकिरामायण एवं श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य दोनों ग्रन्थों में पुत्रेष्टि यज्ञ का वर्णन प्राप्त होता है। वाल्मीकिरामायण में बालकाण्ड के 14वें सर्ग में पुत्र प्राप्ति के लिए राजा दशरथ पुत्रेष्टि यज्ञ करवाते हैं। यहाँ ऋष्यशृङ्ग द्वारा पुत्रेष्टि यज्ञ करने का विधान किया गया है। ऋष्यशृङ्ग कहते हैं कि महाराज मैं आपको पुत्र प्राप्ति कराने के लिए अथर्ववेद के मंत्रों से पुत्रेष्टि नामक यज्ञ करूँगा। वेदोक्त विधि के अनुसार अनुष्ठान करने पर वह यज्ञ अवश्य सफल होगा।[5] यह कहकर उस तेजस्वी ऋषि ने पुत्र प्राप्ति के उद्देश्य से पुत्रेष्टि नामक यज्ञ प्रारम्भ किया और श्रौतविधि के अनुसार अग्नि में आहुति डालना आरम्भ किया-

ततः प्राक्रमदिष्टिं तां पुत्रीयां पुत्रकारणात्।
जुहाव चाग्नौ तेजस्वी मन्त्रदृष्टेन कर्मणा॥[6]

---

1. वा. रा. 1.69.17-30।
2. श्रीराम. 2.18।
3. वा. रा. 1.14.18।
4. श्रीराम. 3.1।
5. वा. रा. 1.14.2।
6. वा. रा. 1.14.3

श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य के तीसरे सर्ग में पुत्रेष्टि यज्ञ का वर्णन मिलता है। यहाँ राजा दशरथ पुत्रेष्टि यज्ञ के लिए भगवान् शिव से परामर्श करते हैं। तदुपरान्त मृगरूप मुनिश्वर कलैकोटि की सहायता से पुत्रेष्टि यज्ञ करवाते हैं-

कलैकोटिसमाख्यस्य साहाय्येन ऋषेरसौ।
यज्ञं पुत्रेष्टिनामानमचिकीर्षन्मृगाकृतेः॥[1]

3. दशरथ-पुत्रजन्म

वाल्मीकिरामायण एवं श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य दोनों ग्रन्थों में दशरथ के पुत्रों के जन्म का वर्णन एक समान मिलता है। वाल्मीकिरामायण में राजा के पुत्रेष्टि यज्ञ के अग्निकुण्ड से प्राजापत्य पुरुष प्रकट होकर खीर का अर्पण करते हैं। देवताओं द्वारा बनायी हुई उस खीर को पाकर राजा दशरथ बहुत प्रसन्न हुए। राजा वह खीर लेकर अन्तःपुर में गये। उस खीर का आधा भाग महारानी कौसल्या को दिया।[2] फिर बचा हुआ आधा भाग रानी सुमित्रा को अर्पण किया। उन दोनों के देने के बाद जितनी खीर बच गयी, उसका आधा भाग तो उन्होंने पुत्र प्राप्ति के उद्देश्य से कैकेयी को दिया।[3] तत्पश्चात् उस खीर का जो अवशिष्ट आधा भाग था, उस अमृतोपमय भाग को बुद्धिमान् राजा ने कुछ सोच-विचार कर पुनः सुमित्रा को अर्पित कर दिया।[4] यज्ञ समाप्ति के पश्चात् छः ऋतुएँ बीत जाने पर बारहवें मास में चैत्र के शुक्ल पक्ष की नवमी तिथि को पुनर्वसु नक्षत्र एवं कर्क लग्न में कौसल्या ने दिव्य लक्षणों से युक्त सर्वलोक वन्दित जगदीश्वर श्रीराम को जन्म दिया-

कौसल्याजनयद् रामं दिव्यलक्षणसंयुतम्।
विष्णोरर्धं महाभागं पुत्रमिक्ष्वाकुनन्दनम्॥[5]

तदनन्तर कैकेयी ने सत्यपराक्रमी भरत को जन्म दिया, जो साक्षात् भगवान् विष्णु के पायस स्वरूप चतुर्थांश से भी न्यून भाग से प्रकट हुए।[6] इसके बाद रानी सुमित्रा ने लक्ष्मण और शत्रुघ्न को जन्म दिया। ये दोनों वीर साक्षात् भगवान् विष्णु के अर्धभाग से सम्पन्न और सब प्रकार के अस्त्रों की विद्या में कुशल थे-

अथ लक्ष्मणशत्रुघ्नौ सुमित्राजनयत्सुतौ।
वीरौ सर्वास्त्रकुशलौ विष्णोरर्धसमन्वितौ॥[7]

---

1. श्रीराम. 3.3।
2. वा. रा. 1.15.25।
3. वा. रा. 1.15.26।
4. वा. रा. 1.15.27।
5. वा. रा. 1.17.6।
6. वा. रा. 1.17.8।
7. वा. रा. 1.17.9।

उसी प्रकार श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य के तृतीय सर्ग में भी दशरथ के पुत्रों के जन्म का वर्णन किया गया है। यहाँ खीर से नहीं, अपितु अर्धान्नपिण्ड से रामादि की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है।[1] पुत्रेष्टि यज्ञ की अग्नि से एक दिव्य पुरुष प्रकट हुआ। उसके हाथों में अन्नपिण्ड था उस अर्धान्नपिण्ड के खाते ही रानियों को गर्भ हो गया।[2] कुछ समय बाद तीनों रानियों के चार पुत्र उत्पन्न हुए।[3] कौसल्या से नारायण भगवान् स्वयं श्रीराम उत्पन्न हुए, जो कवियों के वाणी स्वरूप हरितवर्ण के थे-

कौसल्यातः प्रजातोऽभूत्स्वयं नारायणः प्रभुः।
रामरूपेण हरितवर्णो वर्ण्यो विपश्चिताम्।।[4]

कैकेयी के गर्भ से भरत उत्पन्न हुए, जो अपने भ्राता श्रीराम के अरुण चरण स्वरूप रक्तवर्ण के थे। सुमित्रा के गर्भ से लक्ष्मण और शत्रुघ्न उत्पन्न हुए, जो क्रमशः पीतवर्ण एवं अरुणवर्ण के थे-

चक्रं भरतरूपेण कैकेय्या गर्भतोऽभवत्।
रक्तवर्णो भृशं रक्तः स्वभ्रातुः पादपङ्कजे।।
नागशंखे उभे जाते सुमित्रागर्भतस्तदा।
सम्भूयैव पीतवर्णलक्ष्मणाकृतिधारिणी।।
गदा शत्रुघ्नरूपेण जाता पुत्रोऽरुणाकृतिः।
तस्या एव सुमित्राया गर्भतो भ्रातृवत्सलः।।[5]

4. सीताजन्म

वाल्मीकिरामायण एवं श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य दोनों ग्रन्थों में सीताजन्म से सन्दर्भित इतिवृत्तों में कुछ भिन्नता होते हुए भी प्रधान कथावस्तु समान ही दृष्टिगोचर होती है। वाल्मीकिरामायण में बालकाण्ड के 65वें सर्ग में सीता के जन्म का वर्णन प्राप्त होता है। राजा जनक विश्वामित्र और रामलक्ष्मण का सत्कार करके उन्हें अपने यहाँ रखे हुए धनुष का परिचय देते हैं। इसी सन्दर्भ में राजा जनक कहते हैं कि "एक दिन मैं यज्ञ के लिए भूमिशोधन करते समय खेत में हल चला रहा था। उसी समय हल के अग्र भाग से जोती गयी भूमि से एक कन्या प्रकट हुई।" हल द्वारा खींची गयी रेखा से उत्पन्न होने के कारण उसका नाम सीता रखा गया-

---

1. श्रीराम. 3.16।
2. श्रीराम. 3.17।
3. श्रीराम. 3.18।
4. श्रीराम. 3.20।
5. श्रीराम. 3.21-23।

अथ मे कृषतः क्षेत्रं लाङ्गलादुत्थिता मम।
क्षेत्रं शोधयता लब्धा नाम्ना सीतेति विश्रुता॥[1]

वाल्मीकिरामायण में सीता के अलौकिक उत्पत्ति का वर्णन दो बार कुछ विस्तार पूर्वक किया गया है। कतिपय अन्य स्थलों पर भी इसके संकेत मिलते हैं। यहाँ सीता स्वयं अत्रि की पत्नि अनुसूया से अपनी जन्म की कथा बताती हैं। एक दिन जब राजा जनक यज्ञ-भूमि तैयार करने के लिए हल चला रहे थे, उसी समय एक छोटी सी कन्या मिट्टी से निकली। उन्होंने उसे पुत्री स्वरूप ग्रहण किया तथा उसका नाम सीता रखा। सीता जन्म का यह वृत्तान्त अधिकांश रामकथाओं में मिलता है-

तस्य लाङ्गलहस्तस्य कर्षतः क्षेत्रमण्डलम्।
अहं किलोत्थिता भित्त्वा जगतीं नृपतेः सुता॥[2]

प्रारम्भिक रामकथाओं में सीता के कुल परम्परा सम्बन्धी तथ्यों के अभाव के कारण अनेक प्रकार की एक दूसरी सार्थक भिन्न कथाएँ प्रचलित हो गई हैं। जनक, रावण और दशरथ तीनों सीता के पिता माने गए हैं। अतः रामकथा के विकास में सीताजन्म के वैभिन्न्य की एक अलग समस्या प्रतीत होती है। इसे सुलझाने के लिए उन भिन्न-भिन्न रूपों की प्राचीनता और सापेक्षिक महत्त्व को ध्यान में न रखने के कारण अनेक विद्वानों ने बहुत चिन्त्य प्रस्ताव किये हैं। उसके अनुसार सीता पहले दशरथ की पुत्री और राम की सहोदरी बहन मानी जाती थी। इसके बाद वह रावण की पुत्री बनाई गई है और अन्त में अयोनिजा सीता (जनक की दत्तक पुत्री) की कल्पना कर ली गई है।[3]

वाल्मीकिरामायण के गौडीय तथा पश्चिमोत्तरीय पाठों में भूमिजा सीता की जन्म कथा का परिवर्धन किया गया है। इस पाठ में यह वर्णन अधिक विस्तार से है। 'राजा जनक को कोई संतान नहीं थी। एक दिन जब वह यज्ञ की भूमि में हल चला रहे थे उन्होंने आकाश में लावण्यमयी अप्सरा मेनका को देखा और मन में सन्तानार्थ उसके साहचर्य की अभिलाषा की। उसी समय आकाशवाणी सुनाई दी जिसने उन्हें विश्वास दिलाया गया कि मेनका के द्वारा उन्हें एक पुत्री प्राप्त होगी जो सौन्दर्य में अपनी माता मेनका के समान होगी। आगे बढ़कर जनक ने भूमि से निकली हुई सीता को देखा। पुनः यह आकाशवाणी सुनाई दी- **मेनकायाः समुत्पन्ना कन्येयं मानसी तव**। अर्थात् मेनका से उत्पन्न यह कन्या तुम्हारी मानस पुत्री है।[4]

इसी प्रकार श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य के चतुर्थ सर्ग में सीताजन्म का विस्तृत वर्णन मिलता है। यहाँ भी सीता को रावण की पुत्री के रूप में भी वर्णित किया गया है। एक बार सुगन्धित पिण्डों को

---

1. वा. रा. 1.65.14।
2. वा. रा. 2.110.27
3. रामकथा उत्पत्ति और विकास, पृ. 289।
4. रामकथा उत्पत्ति और विकास, पृ. 293।

खाकर मन्दोदरी ने एक पुत्री को जन्म दिया।[1] ज्योतिषियों ने बताया कि यह कन्या रावण के मृत्यु का कारण होगी। यह सुनकर रावण कन्या को घड़े में रखकर नदी में बहवा दिया। घड़ा तैरते हुए मिथिला पहुँचा, वहीं राजा जनक योगी सदृश तपस्या कर रहे थे।[2] वे घड़े में एक सुन्दर कन्या देखकर बहुत प्रसन्न हुए। घर ले जाने की इच्छा हुई, परन्तु भयवश उन्होंने घड़े को एक वृक्ष के नीचे गाड़कर पुनः तपस्या करने लगे। सोलह वर्ष बाद तपस्या समाप्त होने पर जनक ने घड़े को खोजा, परन्तु नहीं मिला।[3] फलतः राज्य के सैनिकों के द्वारा भूमि को हल से खोदवाने पर घड़े से सोलह वर्ष की कन्या प्रकट हुई। हल के कर्षण से प्रकट होने के कारण उस दिव्य स्वरूपा कन्या का नाम सीता रखा गया-

तत्कालमेव प्रकटो घटोऽभूत् तन्मध्य आसीच्च विलोभनीया।
अध्यासती पङ्कजपत्रपङ्क्तिं दिव्यस्वरूपा खलु कन्यकैका॥
यतोऽभवल्लाङ्गलकृष्टसीतासमुद्भवोऽस्या अत एव नाम।
सीतेति तस्या अभवत्प्रितेति ख्यातश्च पृथ्व्यां जनको बभूव॥[4]

सीता जन्म-सम्बन्धी कथाएँ जो वाल्मीकिरामायण से भिन्न हैं और विशेष रूप से वे कथाएँ जिनमें रावण सीता का पिता माना गया है इन सभी कथाओं का आधार वाल्मीकिरामायण का वेदवती वृत्तान्त ही है। अतः विद्वानों का यह मत जिसके अनुसार प्रथम दशरथ की पुत्री, बाद में रावण की पुत्री और अन्त में अयोनिजा मानी गयी है सर्वथा निर्मूल है।[5]

5. सीता-स्वयंवर

वाल्मीकिरामायण एवं श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य दोनों ग्रन्थों में सीता के स्वयंवर की कथा एक समान वर्णित की गयी है। वाल्मीकिरामायण में राजा जनक अपनी अयोनिजा पुत्री के विवाह के लिए स्वयंवर का आयोजन करते हैं। और शर्त रखते है कि पृथ्वी से प्रकट हुई मेरी कन्या विवाह योग्य हो गयी है। अपनी इस 'अयोनिजा' कन्या के विषय में मैंने निश्चय किया है कि जो अपने पराक्रम से इस धनुष की प्रत्यञ्चा को चढ़ा देगा, मैं उसी के साथ इसका विवाह करूगाँ।[6] उस अवसर पर देश-देशान्तर के बहुत से राजा सीता के स्वयंवर में आमन्त्रित किये गये थे, किन्तु किसी ने धनुष की प्रत्यञ्चा चढ़ाना तो दूर धनुष को हिला भी न सके-

---

1. तानशित्वा बभूवान्तर्वत्नी मन्दोदरी तदा।
क्रमेण सुषुवे चापि कन्यामेकां विलक्षणाम्। श्रीराम. 4.27।
2. श्रीराम. 4.35।
3. श्रीराम. 4.44।
4. श्रीराम. 4.50,52।
5. रामकथा उत्पत्ति और विकास, पृ. 302।
6. भूतलादुत्थिता सा तु व्यवर्धत ममात्मजा।
वीर्यशुल्केति मे कन्या स्थापितेयमयोनिजा।। वा. रा. 1.65.15।

नैतत्सुरगणाः सर्वे नासुरा न च राक्षसाः।
गन्धर्वयक्षप्रवराः सकिन्नरमहोरगाः॥
क्व गतिर्मानुषाणां च धनुषोऽस्य प्रपूरणे।
आरोपणे समायोगे वेपने तोलनेऽपि वा॥[1]

उसी प्रकार श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य के चतुर्थ सर्ग में सीता के स्वयंवर का उल्लेख किया गया है। राजा जनक ने परिणय के योग्य कन्या को देखकर सहर्ष नगर में स्वयंवर का आयोजन कर दिया।[2] यह सुनकर देश-देशान्तर के राजा मिथिलाधिपति की अनिन्द्य सौन्दर्यमयी कन्या के साथ विवाह करने मिथिला यथाशीघ्र आ गये।[3] जनक ने शर्त रखी कि जो शिव के धनुष की प्रत्यञ्चा चढ़ा देगा उसी के साथ सीता का विवाह होगा।[4] शिव के धनुष की प्रत्यञ्चा चढ़ाने की बात कौन कहे, किसी ने धनुष को उठा भी न सके-

ज्यारोपणस्यात्र तु का कथाऽऽसीन्नैकोऽपि राजन्यजनेषु शक्तः।
आसीत्समुत्थापयितुं महेशशार्ङ्गं गरीयस्त्ववशादमुष्य॥[5]

6. राम-सीता-विवाह

वाल्मीकिरामायण एवं श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य दोनों काव्यों में राम-सीता के विवाह का वर्णन एक सदृश ही प्रतीत होता है। वाल्मीकिरामायण में धनुर्भङ्ग के अनन्तर दशरथ को बुलाया जाता है और वह वसिष्ठ, वामदेव, जाबालि, कश्यप, मार्कण्डेय, तथा अपनी चतुरङ्गिणी सेना के साथ मिथिला आते हैं। वहाँ सीता के अतिरिक्त अन्य तीन भाईयों के विवाह भी सम्पन्न किये जाते हैं। लक्ष्मण का विवाह सीता की बहन उर्मिला से तथा भरत-शत्रुघ्न का विवाह क्रमशः जनक के भाई कुशध्वज की पुत्रियों माण्डवी-श्रुतकीर्ति से होता है।[6] विवाह के अवसर पर धर्मात्मा जनक कहते हैं कि तुम चारों भाई शान्त स्वभाव वाले हो। तुम सभी ने उत्तम व्रत का भलीभाँति आचरण किया है। ककुस्थकुलभूषण तुम चारों भाई पत्नी से संयुक्त हो जाओ-

सर्वे भवन्तः सौम्याश्च सर्वे सुचरितव्रताः।
पत्नीभिः सन्तु काकुत्स्था मा भूत्कालस्य पर्ययः॥[7]

---

1. वा. रा. 1.66.9-10।
2. तया समं संन्यवृतत्तपस्वी स्वां राजधानीं जनको नृपेन्द्रः।
   विवाहयोग्यामवलोक्य तां च स्वयंवरं संरचयाम्बभूव॥ श्रीराम. 4.53।
3. श्रीराम. 4.54।
4. स्वयंवरे शार्वमसौ न्यधत्त शार्ङ्गं तदर्थं च विधिं व्यधत्त।
   आरोपितज्यं य इदं विदध्यात् स मे तनूजां परिणेतुमर्हः॥ श्रीराम. 4.55।
5. श्रीराम. 4.56।
6. वा. रा. 1.72.1-27।
7. वा. रा. 1.72.21।

उसी प्रकार श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य में भी राम-सीता के विवाह का वर्णन मिलता है। वाल्मीकिरामायण में चारों भाईयों का एक साथ विवाह का वर्णन है, परन्तु श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य में केवल धनुर्भङ्ग के उपरान्त श्रीराम-सीता के विवाह का वर्णन किया गया है-

विदेहजां काञ्चनदेहयष्टिं शास्त्रोक्तरीत्या परिणीय रामः।
पुरीं स्वकीयां न्यवृतत्सुखेन प्रजाजनौघैरभिनन्द्यमानः।।[1]

विवाह के समय राम तथा सीता की अवस्था का उल्लेख वाल्मीकिरामायण में प्राप्त होता है। वाल्मीकिरामायण के बालकाण्ड में दशरथ विश्वामित्र से कहते हैं कि राम की आयु 16वर्ष से कम है।[2] अयोध्याकाण्ड के अन्त में सीता-अनसूया संवाद के अन्तर्गत विवाह के समय सीता की अवस्था का उल्लेख किया गया है।[3] बालकाण्ड के अन्त में कहा गया है कि विवाह तथा वनवास के बीच में बहुत समय बीत गया। अरण्यकाण्ड में रावण-सीता संवाद के एक प्रक्षिप्त अंश के अनुसार सीता विवाह के पश्चात् 12वर्ष तक अयोध्या में रहीं थीं।[4]

7. राम-वनवास

वाल्मीकिरामायण एवं श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य दोनों काव्यों में रामवनवास का इतिवृत्त एक समान परिलक्षित होता है। वाल्मीकिरामायण में अयोध्याकाण्ड की प्रधान घटना राम का वनगमन ही है। दशरथ ने राम के राज्याभिषेक के सम्बन्ध में पहले अपने मंत्रियों के साथ परामर्श किया[5] और बाद में राजपरिषद् की अनुमति ली। यहाँ जनता की स्वीकृति का भी उल्लेख किया गया है-

स्निग्धोऽनुनादः संजज्ञे ततो हर्षसमीरितः।
जनौघोद्घुष्टसंनादो मेदिनीं कम्पयन्निव।।[6]

वाल्मीकिरामायण के अनुसार कैकेयी ने अपने दो वरों के बल पर भरत के लिए राज्य तथा राम के लिए चौदह वर्ष का वनवास दशरथ से माँग लिया था। अतः राम के वनवास का यह कारण सबसे प्राचीन और बाद में सबसे प्रामाणिक माना गया है। सीता राम के साथ वन जाने के लिए अनुरोध करते हुए आत्महत्या की धमकी देतीं हैं और यह भी कहती हैं कि 'यदि आप इस प्रकार दुःख में पड़ी हुई मुझ सेविका को अपने साथ वन में ले जाना नहीं चाहते तो मैं मृत्यु के लिए विष खा लूँगी, आग में कूद पड़ूगी अथवा जल में डूब जाऊँगी'-

---

1. श्रीराम. 4.59।
2. ऊनषोडशवर्षो मे रामो राजीवलोचनः।
   न युद्धयोग्यतामस्य पश्यामि सह राक्षसैः।। वा. रा. 1.19.2।
3. वा. रा. 1.110.33।
4. पं. शिवरामशर्मा वासिष्ठः- श्रीमद्वाल्मीकीयं रामायणम्, 3.47.4।
5. वा. रा. 2.1.34।
6. पं. शिवरामशर्मा वासिष्ठः- श्रीमद्वाल्मीकीयं रामायणम्, 2.2.18।

यदि मां दुःखितामेवं वनं नेतुं न चेच्छसि।
विषमग्निं जलं वाहमास्थास्ये मृत्युकारणात्॥[1]

श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य में भी कैकेयी कुब्जा (मंथरा) की बात सुनकर राजा दशरथ के पास जाकर दोनों वरों को माँगा। दोनों वरों को सुनते ही राजा दशरथ की अकस्मात् मृत्यु हो जाती है। श्रीराम पिता की आज्ञा पालन करने के लिए सीता और लक्ष्मण के साथ वन में चले गये-

वराविमौ वज्रनिपाततुल्यौ प्राणान्नृपस्याहरतां क्रमेण।
रामोऽपि सम्पूरयितुं प्रतिज्ञां पितुः प्रयातो विपिनं ससीतः॥[2]

प्रकृत महाकाव्य में सर्वप्रथम महाराज दशरथ की मृत्यु होती है तदनन्तर सीता-लक्ष्मण सहित राम वन जाते हैं, परन्तु वाल्मीकिरामायण में पहले सीता-लक्ष्मण सहित राम वन जाते हैं। तदनन्तर श्रीराम की अनुपस्थिति में पिता दशरथ की मृत्यु होती है। जो कि वाल्मीकिरामायण से प्रकृत महाकाव्य का इतिवृत्त कतिपय अंशों में भिन्न है।

८. खर-दूषणवध

वाल्मीकिरामायण एवं श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य इन दोनों ग्रन्थों में खर-दूषण-वध रामकथा कतिपय परिवर्तन से लगभग समान वर्णित है। वाल्मीकिरामायण में लक्ष्मण के द्वारा कुरूप की गयी शूर्पणखा राम कुटीर से भागकर राक्षससमूह से घिरे हुए भयङ्कर तेजवाले जनस्थाननिवासी भ्राता खर के पास जाती है तथा वन में सीता और लक्ष्मण के साथ श्रीरामचन्द्रजी के आने और अपने कुरूप किये जाने का सारा वृत्तान्त सुनाती है। खर राम-लक्ष्मण का वध करने के लिए शूर्पणखा के साथ 14 राक्षसों को भेज देता है।[3] राम सबको मार डालते हैं तथा शूर्पणखा पुनः खर के पास लौटती है। खर अब अपने सेनापति दूषण को 14 हजार राक्षसों को एकत्र करने का आदेश देकर उन सभी के साथ राम के पास जाता है-

चतुर्दश सहस्राणि मम चित्तानुवर्तिनाम्।
रक्षसां भीमवेगानां समरेष्वनिवर्तिनाम्॥[4]

राक्षसों की सेना आते देखकर राम आदेश देते हैं कि सीता तथा लक्ष्मण पहाड़ की किसी गुफा में छिप जाएँ।[5] तदनन्तर राम अकेले ही राक्षसों का सामना करते हैं। दूषण तथा त्रिशिरा एवं उसकी

---

1. वा. रा. 2.26.19।
2. श्रीराम. 5.17
3. इति तस्यां ब्रुवाणायां चतुदर्श महाबलान्।
   व्यादिदेश खरः कुद्धो राक्षसानन्तकोपमान्॥ वा. रा. 3.18.17।
4. वा. रा. 3.21.8।
5. तस्माद्गृहीत्वा वैदेहीं शरपाणिर्धनुर्धरः।
   गुहामाश्रय शैलस्य दुर्गां पादपसंकुलाम्॥ वा. रा. 3.23.11

सेना को मार देते हैं[1] तत्पश्चात् खर और श्रीराम में भयङ्कर युद्ध होता है। खर के धनुष से छूटे हुए बाणों से श्रीराम लहूलुहान हो जाते हैं। इसके बाद धनुर्धरों में श्रेष्ठ श्रीराम खर को बाणो से यमलोक पहुँचा देते हैं-

स पतात खरो भूमौ दह्यमानः शराग्निना।
रुद्रेणेव विनिर्दग्धः श्वेतारण्ये यथान्धकः।।
स वृत्र इव वज्रेण फेनेन नमुचिर्यथा।
बलो वेन्द्राशनिहतो निपपात हतः खरः।।[2]

उसी प्रकार श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य में भी खर-दूषण युद्ध का वर्णन प्राप्त होता है। शूर्पणखा पति जिह्व के मृत्यूपरान्त वन में विचरण करने जाती है, वहाँ राम लक्ष्मण को देख कामासक्त होकर सीता को मारने दौड़ती है, तभी लक्ष्मण उसका नाक और कान काट देते हैं। इस घटना के बाद वह भ्राता खर-दूषण के पास जाती है और उन्हें राम-लक्ष्मण से युद्ध करने के लिए प्रेरित करती है। शस्त्रास्त्र व सेना के साथ युद्ध करते हैं इसके पश्चात् दोनों राम-लक्ष्मण के हाथों मारे जाते हैं-

वैरूप्यमेवं प्रतिपादिता सोपैद् भ्रातरौ द्वौ खरदूषणाख्यौ।
उपेत्य वृत्तं निजगाद चापि तौ चापि योद्धुं समुपेयतुर्द्राक्।।
सलक्ष्मणं दाशरथिं वनान्ते सैन्येन साकं महता निजेन।
सहायहीनोऽपि सलक्ष्मणस् तौ सम्प्रापयत्प्रेतपुरीं स वीरः।।[3]

वाल्मीकिरामायण में खर-दूषण के साथ त्रिशिरा भी युद्ध में मारी जाती है, परन्तु श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य में केवल खर-दूषण के युद्ध में वध का वर्णन मिलता है। वाल्मीकिरामायण में केवल राम के साथ सभी का युद्ध एवं वध होता है, परन्तु श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य में राम-लक्ष्मण दोनों के हाथों खर-दूषण का वध होता है।

9. कनक-मृग रूपी मारीचवध

वाल्मीकिरामायण एवं श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य दोनों महाकाव्यों में कनक मृग रूपी मारीच की कथा एक समान दृष्टिगोचर होती है। वाल्मीकिरामायण में विरूपित शूर्पणखा से खर-दूषण वध का समाचार तथा सीता के सौन्दर्य की प्रशंसा सुनकर रावण मारीच के पास जाता है। तथा उससे निवेदन करता है कि वह कनक-मृग का रूप धारण कर सीताहरण में सहायक बने।[4] मारीच इस प्रस्ताव को राम के पराक्रम के कारण ही अस्वीकार करता है। वह इस पराक्रम के विषय में दो

---

1. वा. रा. 3.26.16।
2. वा. रा. 3.29.27-28।
3. श्रीराम. 6.12-13।
4. तस्य भार्यां जनस्थानात्सीतां सुरसुतोपमाम्।
   आनयिष्यामि विक्रम्य सहायस्तत्र मे भव।। वा. रा. 3.34.13।

घटनाओं का वर्णन भी करता है। मारीच रावण को स्पष्ट शब्दों में चेतावनी देता है कि यदि वह अपने सङ्कल्प में दृढ़ रहा तो लङ्का का सर्वनाश हो जाएगा। रावण उसका सत्य परामर्श ठुकराकर मारीच को पुरस्कार स्वरूप अपना आधा राज्य प्रदान करने की प्रतिज्ञा करता है[1] और अन्त में यह धमकी भी देता है कि यदि तुम स्वीकार नहीं करते, तो मैं तुम्हारा वध कर दूँगा। इस पर मारीच जानकर कि मैं किसी भी प्रकार नहीं बच सकता, शत्रु के हाथ से विरोचित मरण चुन लेता है-

मां निहत्य तु रामोऽसौ नचिरात्त्वां वधिष्यति।
अनेन कृतकृत्योऽस्मि म्रिये यदरिणा हतः॥[2]

मारीच की स्वीकृति के तुरन्त बाद रावण उसे अपने रथ पर बैङ्गाकर जनस्थान की ओर प्रस्थान करता है। वहाँ पहुँचकर मारीच कनक-मृग का रूप धारण कर लेता है तथा सीता का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट करता है।[3] राम और लक्ष्मण को बुलाकर सीता कनक-मृग को दिखाती हैं तथा उसे पाने के लिए अनुरोध करती हैं। इस पर राम सीता को लक्ष्मण की रक्षा में छोड़कर कनक-मृग का शिकार करने जाते हैं।[4] मारीच राम को दूर ले जाता है तथा अन्त में राम के बाण से आहत होकर अपना रूप धारण कर लेता है तथा पूर्व निश्चित योजना के अनुसार राम की वाणी का अनुकरण करते हुए चिल्लाता है- "हा सीते, हा लक्ष्मण"[5] राम मायावी राक्षस को मृत छोड़कर आशङ्का करते हुए शीघ्रता से वापस लौटते हैं-

निहत्य पृषतं चान्यं मांसमादाय राघवः।
त्वरमाणो जनस्थानं ससाराभिमुखस्तदा॥[6]

श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य में भी उपर्युक्त घटनायें समान रूप से दृष्टिगोचर होती हैं। शूर्पणखा विरूपीकरण के बाद वह लङ्का आकर अपने अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए रावण से सीता के सौन्दर्य का वर्णन करती है और सीता के हरण करने के लिए रावण को परामर्श देती है। जिसे सुनकर रावण काममोहित हो जाता है।[7] रावण कुल के प्रमुख दैत्य मारीच को बुलवाकर कनक-मृग बनकर राम कुटीर के पास जाने का आदेश देता है-

---

1. वा. रा. 3.38.18।
2. वा. रा. 3.39.17।
3. कदलीगृहकं गत्वा कर्णिकारानितस्ततः।
   समाश्रयन्मन्दगतिः सीतासंदर्शनं तदा।। वा. रा. 3.40.20।
4. वा. रा. 3.42.45-46।
5. सम्प्राप्तकालमाज्ञाय चकार च ततः स्वरम्।
   सदृशं राघवस्यैव हा सीते लक्ष्मणेति च।। वा. रा. 3.42.14।
6. वा. रा. 3.42.21।
7. श्रुत्वा स सौन्दर्यकथाममुष्याः स्वसुर्मुखात् कामशरानुविद्धः।
   सीतां निजाङ्कानुगतां विधातुमुपायसञ्चिन्तनतत्परोऽभूत्।। श्रीराम. 6.18।

आहूय मारीचमुवाच कश्चित् स राक्षसं राक्षसजातिमुख्यः।
मारीच हे! हेममृगो भव त्वं प्रयाहि रामस्य कुटीरकं च॥[1]

उस कनक-मृग को देखकर वैदेही उसे प्राप्त करने का अनुरोध करती हैं, परन्तु राम मायावी मृग बताकर मना करते हैं। सीता के बार-बार हठ के कारण उसे पकड़ने के लिए चले जाते हैं।[2] मायावी मृग का पीछा करते हुए वन में बहुत दूर चले जाते हैं और अन्त में प्राणान्तक बाण छोड़ते ही मायावी मृग आर्तनाद करता हुआ हा जानकी चिल्लाता है और बाद में मर जाता है।[3] आर्तनाद सुनकर सीता लक्ष्मण को भाई की सहायता के लिए भेजती हैं।

10. सीता-हरण

वाल्मीकिरामायण एवं श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य दोनों महाकाव्यों में सीता-हरण का इतिवृत्त का निदर्शन एक समान प्राप्त होता है। वाल्मीकिरामायण में शूर्पणखा के विरूपण को सीताहरण का मूल कारण माना जाता है। विरूपित शूर्पणखा खर-सेना की पराजय देखकर लङ्का के लिए प्रस्थान करती है और रावण को जनस्थान के विनाश तथा सेना सहित खर-दूषण के वध का समाचार सुनाती है। तदनन्तर वह राम की वीरता तथा सीता के सौन्दर्य का वर्णन करके कहती है कि सीता आप के योग्य है, उसको आपकी भार्या बनाने के लिए आपके पास ले आने के प्रयत्न में मुझे विरूपित किया गया।[4] अन्त में वह रावण को सीता का हरण करने का सुझाव देती है।

कनक-मृग रूपी मारीच-वध के अनन्तर सीता मारीच की पुकार सुनकर तथा राम को संकट में समझकर लक्ष्मण से अनुरोध करने लगती हैं कि वह अपने भाई की सहायता के लिए जाएँ। लक्ष्मण पहले अस्वीकार करते हैं, किन्तु सीता के कटु शब्द तथा आत्महत्या की धमकी सुनकर वह चले जाते हैं।[5] अब रावण परिव्राजक के रूप में सीता के पास पहुँचकर उससे आतिथ्य-सत्कार ग्रहण करने के पश्चात् अपना परिचय देता है तथा सीता के सामने लङ्का की महारानी बनाने का प्रस्ताव रखता है-

बह्वीनामुत्तमस्त्रीणामाहृतानामितस्ततः ।
सर्वासामेव भद्रं ते ममाग्रमहिषी भव॥[6]

---

1. श्रीराम. 6.19।
2. श्रीराम. 6.23।
3. वनान्तरं दूरतरं गते स तस्मिञ्शरं प्राणहरं मुमोच।
येन प्रविद्धो मृग आर्त्तनादं हा जानकीति प्रविनद्य नष्टः॥ श्रीराम. 6.24।
4. तां तु विस्तीर्णजघनां पीनोत्तुङ्गपयोधराम्।
भायार्थे तु तवानेतुमुद्यताहं वराननाम्॥ वा. रा. 3.32.18।
5. वा. रा. 3.43.33-35।
6. वा. रा. 3.45.24।

इस पर सीता का कटु उत्तर सुनकर वह अपने राक्षस रूप में प्रकट हो जाता है और जोर-जोर से कठोर वचनों में गर्जना करते हुए सीता को अपने गोंद में उठाकर रथ पर बैठाकर लङ्का की ओर प्रस्थान करता है।[1]

उसी प्रकार श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य में भी उपर्युक्त सीता-हरण से सम्बन्धित वर्णन प्राप्त होता है। प्रकृत महाकाव्य में सीता लक्ष्मण पर किसी प्रकार का दोषारोपण नहीं करतीं, मारीच का आर्तनाद सुनकर भाई की सहायता के लिए लक्ष्मण को भेजतीं हैं[2] इसी बीच अवसर पाकर रावण साधुवेष में शीघ्रातिशीघ्र राम की कुटिया के समीप आता है और असहाय सीता को अकेली देख हरण कर लङ्कापुरी ले जाता है-

अत्रान्तरे तत्र समापतद् द्राक् लङ्केश्वरः सन्धृतसाधुवेषः।
सहायहीनां च जहार सीतां लङ्कापुरीं तामनयच्च भीताम्।।[3]

11. राम-सुग्रीव-मित्रता

वाल्मीकिरामायण एवं श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य दोनों ग्रन्थों में राम और सुग्रीव की मित्रता की प्रधान कथा प्रायः एक समान प्राप्त होती है। वाल्मीकिरामायण के अनुसार सुग्रीव राम-लक्ष्मण को देखकर तथा उनको बालि का गुप्तचर समझकर भयभीत हुए[4] और उन्होंने पता लगाने के लिए हनुमान् को भेजा-

तौ त्वया प्राकृतेनैव गत्वा ज्ञेयौ प्लवङ्गम।
शङ्कितानां प्रकारैश्च रूपव्याभाषणेन च।।[5]

हनुमान् भिक्षु का रूप धारण कर राम-लक्ष्मण के पास आते हैं और अपना परिचय देकर कहते हैं कि सुग्रीव आपकी मित्रता चाहते हैं। राम सुग्रीव की सहायता करने की प्रतिज्ञा करते हैं। तदनन्तर हनुमान् ने लक्ष्मण से सीता हरण का प्रसङ्ग सुनकर सुग्रीव की सहायता करने का आश्वासन देते हैं[6] और अपने वानर रूप में प्रकट होते हैं। इसके बाद राम-लक्ष्मण को अपने कन्धे पर बैठाकर दोनों को ऋष्यमूक पर्वत पर सुग्रीव के पास ले जाते हैं-

---

1. ततस्तां परुषैर्वाक्यैरभितर्ज्य महास्वनः।।
   अङ्केनादाय वैदेहीं रथमारोपयत्तदा।। वा. रा. 3.47.19।
2. श्रुत्वा तु तप्तायससन्निभं तं सीता समुद्वेगमपारमाप।
   सम्प्रेषयामास च लक्ष्मणं सा शीघ्रं तदीयाग्रजरक्षणाय।। श्रीराम. 6.25।
3. श्रीराम. 6.26।
4. तावृश्यमूकं सहितौ प्रयातौ सुग्रीवशाखामृगसेवितं तम्।
   त्रस्तांस्तु दृष्ट्वा हरयो बभूवुर्महौजसौ राघवलक्ष्मणौ तौ।। वा. रा. 4.1.49।
5. वा. रा. 4.2.23।
6. वा. रा. 4.4.20।

ततः स तु महाप्राज्ञो हनुमान्मारुतात्मजः।
जगामादाय तौ वीरौ हरिराजाय राघवौ।।[1]

परस्पर सम्पूर्ण घटना जानकर सुग्रीव कहते हैं कि 'यदि मेरी मैत्री आपको पसन्द है तो हाथ में सङ्कल्प लें जिससे मित्रता का बन्धन अटूट हो जाय।'[2] सुग्रीव का वचन सुनकर राम का चित्त प्रसन्न हो गया। इसके बाद सुग्रीव और राम ने प्रज्वलित अग्नि की प्रदक्षिणा की और एक दूसरे के मित्र बन गये-

ततोऽग्निं दीप्यमानं तौ चक्रतुश्च प्रदक्षिणम्।
सुग्रीवो राघवश्चैव वयस्यत्वमुपागतौ।।[3]

श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य में सीतान्वेषण के समय राम और लक्ष्मण आराम कर रहे थे उसी समय वृक्ष की शाखा पर हनुमान् से भेंट होती है। हनुमान् सहसा श्रीराम को नारायण रूप में पहचान लेते हैं।[4] परस्पर उनमें परिचय होता है। तत्पश्चात् श्रीराम सीताहरण का वृत्तान्त बताते हैं और सहायता के लिए कहते हैं तब हनुमान् कहते हैं कि 'ऐसा ही होगा'। तदनन्तर उन्हें सुग्रीव के पास ले जाते हैं। और दोनों में परस्पर बातचीत के द्वारा ही विशेष मित्रता हो जाती है। तथा कालान्तर में और प्रगाढ़ हो जाती है-

ओमित्युवाचाथ कविप्रवीरः सुग्रीवपार्श्वे प्रणिनाय तं च।
मित्रत्वमापद्यत येन तस्य समं निवासेन वनेऽत्र पूर्वम्।।
सम्बन्ध आभाषणपूर्वकोऽभूद् रामस्य सुग्रीवकपेश्च तत्र।
मैत्री च सम्बन्धवशात्प्रजाता प्रगाढतां या क्रमशः प्रयाता।।[5]

12. वालिवध

वाल्मीकिरामायण एवं श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य दोनों ग्रन्थों में वालि-वध की मुख्य कथा प्रायः एक समान मिलती है। वाल्मीकिरामायण के अनुसार राम ने वालि के विरुद्ध सुग्रीव की सहायता करने की प्रतिज्ञा की और सुग्रीव ने सीता द्वारा फेंके हुए आभरण को दिखाकर[6] सीता की खोज करवाने के लिए वचन देता है। इसके बाद सुग्रीव वालि के पराक्रम के दो उदाहरण का वर्णन करता है। तदनन्तर सुग्रीव दुन्दुभि का 'अस्थिनिचय' दिखलाता है[7] और उन सात शाल वृक्षों की ओर निर्देश करता है, जिसको बालि एक ही समय में पत्ररहित करने में समर्थ था-

---

1. वा. रा. 4.4.25
2. रोचते यदि वा सख्यं बाहुरेष प्रसारितः।
   गृह्यतां पाणिना पाणिर्मर्यादा बध्यतां ध्रुवा।। वा. रा. 4.5.12।
3. वा. रा. 4.5.16।
4. श्रीराम. 7.11।
5. श्रीराम. 7.15-16।
6. वा. रा. 4.6.9।
7. वा. रा. 4.11.46।

इमे च विपुलाः सालाः सप्त शाखावलम्बिनः।
यत्रैकं घटते वाली निष्पत्रयितुमोजसा॥[1]

इस पर राम ने सुग्रीव के दोनों परीक्षण कर बालि को युद्ध के लिए ललकारने को कहा। प्रथम युद्ध में राम दोनों भाईयों को पहचानने में असमर्थ हो गये।[2] फलस्वरूप बालि ने सुग्रीव को घायल कर भगा दिया। पुनः द्वितीय युद्ध में सुग्रीव को गजपुष्प की माला पहनायी गयी।[3] सुग्रीव का आह्वान सुनकर वालि अपनी पत्नी तारा का अनुरोध न मानकर पुनः महल से निकला, सुग्रीव से द्वन्द्व युद्ध करते समय राम ने बालि के छाती में बाण मारा और वह मूर्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा-

ततो धनुषि संधाय शरमाशीविषोपमम्।
राघवेण महाबाणो वालिवक्षसि पातितः॥[4]

श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य में भी मुख्य कथा का मूल रूप इसी प्रकार है वालि द्वारा राज्य से निकाल देने के बाद सुग्रीव हनुमान् आदि के साथ ऋष्यमूक पर्वत पर रहते हैं। वह सारी घटना राम से बताते हैं राम बालि का वध करने की प्रतिज्ञा करते हैं और कहते हैं कि तुम बालि को युद्ध के लिए ललकारो। सुग्रीव ने वैसा ही किया।[5] सुग्रीव और बालि को परस्पर द्वन्द्व युद्ध करते समय ही राम ने बालि के ऊपर प्राणान्तकारी बाण छोड़ा। फलस्वरूप राम के हाथों बालि मारा गया। तदनन्तर राम ने सुग्रीव का राज्याभिषेक किया-

वृत्ते नियुद्धे च ककुत्स्थवंश्यः शरेण वृक्षान्तरितो जघान।
सुग्रीवराजाग्रजमुग्रबुद्धिं राज्ये च सुग्रीवमथाभ्यषिञ्चत्॥[6]

13. लङ्कादहन

वाल्मीकिरामायण एवं श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य दोनों ग्रन्थों में लङ्कादहन की मुख्य कथा प्रायः एक समान मिलती है। वाल्मीकिरामायण में अशोक वन विध्वन्स तथा लङ्कादहन की विस्तृत कथा मिलती है। राक्षसों की बल-परीक्षा करने तथा रावण का मन जानने के उद्देश्य से हनुमान् ने अशोकवन को नष्ट किया।[7] तदुपरान्त उन्होंने रावण के भेजे हुए 8हजार योद्धाओं, जम्बुमाली,[8] सात मंत्रि-पुत्रों[9], पाँच सेनापतियों[10] तथा रावण-पुत्र अक्षय का वध किया-

1. वा. रा. 4.11.47।
2. यत्रावगच्छत्सुग्रीवं वालिनं वापि राघवः।
   ततो न कृतवान्बुद्धिं मोक्तुमन्तकरं शरम्।। वा. रा. 4.12.20।
3. वा. रा. 4.12.36।
4. वा. रा. 4.16.25।
5. श्रीराम. 8.29।
6. श्रीराम. 8.30।
7. वा. रा. 5.39.14।
8. वा. रा. 5.42.15।
9. वा. रा. 5.43.14।
10. वा. रा. 5.44.36।

ततः स तु महाप्राज्ञो हनुमान्मारुतात्मजः।
जगामादाय तौ वीरौ हरिराजाय राघवौ।।[1]

परस्पर सम्पूर्ण घटना जानकर सुग्रीव कहते है कि 'यदि मेरी मैत्री आपको पसन्द है तो हाथ में सङ्कल्प लें जिससे मित्रता का बन्धन अटूट हो जाय।'[2] सुग्रीव का वचन सुनकर राम का चित्त प्रसन्न हो गया। इसके बाद सुग्रीव और राम ने प्रज्वलित अग्नि की प्रदक्षिणा की और एक दूसरे के मित्र बन गये-

ततोऽग्निं दीप्यमानं तौ चक्रतुश्च प्रदक्षिणम्।
सुग्रीवो राघवश्चैव वयस्यत्वमुपागतौ।।[3]

श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य में सीतान्वेषण के समय राम और लक्ष्मण आराम कर रहे थे उसी समय वृक्ष की शाखा पर हनुमान् से भेंट होती है। हनुमान् सहसा श्रीराम को नारायण रूप में पहचान लेते हैं।[4] परस्पर उनमें परिचय होता है। तत्पश्चात् श्रीराम सीताहरण का वृत्तान्त बताते हैं और सहायता के लिए कहते हैं तब हनुमान् कहते हैं कि 'ऐसा ही होगा'। तदनन्तर उन्हें सुग्रीव के पास ले जाते हैं। और दोनों में परस्पर बातचीत के द्वारा ही विशेष मित्रता हो जाती है। तथा कालान्तर में और प्रगाढ़ हो जाती है-

ओमित्युवाचाथ कविप्रवीरः सुग्रीवपार्श्वे प्रणिनाय तं च।
मित्रत्वमापद्यत येन तस्य समं निवासेन वनेऽत्र पूर्वम्।।
सम्बन्ध आभाषणपूर्वकोऽभूद् रामस्य सुग्रीवकपेश्च तत्र।
मैत्री च सम्बन्धवशात्प्रजाता प्रगाढतां या क्रमशः प्रयाता।।[5]

12. वालिवध

वाल्मीकिरामायण एवं श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य दोनों ग्रन्थों में वालि-वध की मुख्य कथा प्रायः एक समान मिलती है। वाल्मीकिरामायण के अनुसार राम ने वालि के विरुद्ध सुग्रीव की सहायता करने की प्रतिज्ञा की और सुग्रीव ने सीता द्वारा फेंके हुए आभरण को दिखाकर[6] सीता की खोज करवाने के लिए वचन देता है। इसके बाद सुग्रीव वालि के पराक्रम के दो उदाहरण का वर्णन करता है। तदनन्तर सुग्रीव दुन्दुभि का 'अस्थिनिचय' दिखलाता है[7] और उन सात शाल वृक्षों की ओर निर्देश करता है, जिसको बालि एक ही समय में पत्ररहित करने में समर्थ था-

1. वा. रा. 4.4.25
2. रोचते यदि वा सख्यं बाहुरेष प्रसारितः।
   गृह्यतां पाणिना पाणिर्मर्यादा बध्यतां ध्रुवा।। वा. रा. 4.5.12।
3. वा. रा. 4.5.16।
4. श्रीराम. 7.11।
5. श्रीराम. 7.15-16।
6. वा. रा. 4.6.9।
7. वा. रा. 4.11.46।

इमे च विपुलाः सालाः सप्त शाखावलम्बिनः।
यत्रैकं घटते वाली निष्पत्रयितुमोजसा।।[1]

इस पर राम ने सुग्रीव के दोनों परीक्षण कर बालि को युद्ध के लिए ललकारने को कहा। प्रथम युद्ध में राम दोनों भाईयों को पहचानने में असमर्थ हो गये।[2] फलस्वरूप बालि ने सुग्रीव को घायल कर भगा दिया। पुनः द्वितीय युद्ध में सुग्रीव को गजपुष्प की माला पहनायी गयी।[3] सुग्रीव का आह्वान सुनकर वालि अपनी पत्नी तारा का अनुरोध न मानकर पुनः महल से निकला, सुग्रीव से द्वन्द्व युद्ध करते समय राम ने बालि के छाती में बाण मारा और वह मूर्छित होकर भूमि पर गिर पड़ा-

ततो धनुषि संधाय शरमाशीविषोपमम्।
राघवेण महाबाणो वालिवक्षसि पातितः।।[4]

श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य में भी मुख्य कथा का मूल रूप इसी प्रकार है वालि द्वारा राज्य से निकाल देने के बाद सुग्रीव हनुमान् आदि के साथ ऋष्यमूक पर्वत पर रहते हैं। वह सारी घटना राम से बताते हैं राम बालि का वध करने की प्रतिज्ञा करते हैं और कहते हैं कि तुम बालि को युद्ध के लिए ललकारो। सुग्रीव ने वैसा ही किया।[5] सुग्रीव और बालि को परस्पर द्वन्द्व युद्ध करते समय ही राम ने बालि के ऊपर प्राणान्तकारी बाण छोड़ा। फलस्वरूप राम के हाथों बालि मारा गया। तदनन्तर राम ने सुग्रीव का राज्याभिषेक किया-

वृत्ते नियुद्धे च ककुत्स्थवंश्यः शरेण वृक्षान्तरितो जघान।
सुग्रीवराजाग्रजमुग्रबुद्धिं राज्ये च सुग्रीवमथाभ्यषिञ्चत्।।[6]

13. लङ्कादहन

वाल्मीकिरामायण एवं श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य दोनों ग्रन्थों में लङ्कादहन की मुख्य कथा प्रायः एक समान मिलती है। वाल्मीकिरामायण में अशोक वन विध्वन्स तथा लङ्कादहन की विस्तृत कथा मिलती है। राक्षसों की बल-परीक्षा करने तथा रावण का मन जानने के उद्देश्य से हनुमान् ने अशोकवन को नष्ट किया।[7] तदुपरान्त उन्होंने रावण के भेजे हुए 8हजार योद्धाओं, जम्बुमाली,[8] सात मंत्रि-पुत्रों[9], पाँच सेनापतियों[10] तथा रावण-पुत्र अक्षय का वध किया-

---

1. वा. रा. 4.11.47।
2. यन्नावगच्छत्सुग्रीवं वालिनं वापि राघवः।
   ततो न कृतवान्बुद्धिं मोक्तुमन्तकरं शरम्।। वा. रा. 4.12.20।
3. वा. रा. 4.12.36।
4. वा. रा. 4.16.25।
5. श्रीराम. 8.29।
6. श्रीराम. 8.30।
7. वा. रा. 5.39.14।
8. वा. रा. 5.42.15।
9. वा. रा. 5.43.14।
10. वा. रा. 5.44.36।

स भग्नबाहूरुकटीशिरोधरः क्षरन्नसृंनिर्मथितास्थिलोचनः।
स भिन्नसन्धिः प्रविकीर्णबन्धनो हतः क्षितौ वायुसुतेन राक्षसः॥[1]

अन्त में इन्द्रजित् हनुमान् को ब्रह्मपाश से बाँधकर रावण के पास ले गया।[2] हनुमान् ने अपने को सुग्रीव द्वारा भेजा हुआ रामदूत[3] कहकर रावण से सीता लौटाने का अनुरोध किया जिस पर रावण क्रुद्ध होकर हनुमान् का वध करना चाहा, किन्तु विभीषण की आपत्ति पर उसने दण्डस्वरूप हनुमान् की पूँछ जलाने का आदेश दिया-

आज्ञापयद् राक्षसेन्द्रः पुरं सर्वं सचत्वरम्।
लाङ्गूलेन प्रदीप्तेन रक्षोभिः परिणीयताम्॥[4]

राक्षस हनुमान् की पूँछ में कपास के पुराने कपड़े लपेटने लगे जिस पर हनुमान् ने अपना आकार बढ़ाया। तब राक्षसों ने तेल डालकर हनुमान् की पूँछ में आग लगा दी और उनको नगर के चारों ओर घुमाया। सीता को जब हनुमान् की दुर्दशा का समाचार मिला, उन्होंने अग्नि से प्रार्थना की कि वह हनुमान् के लिए शीतल बन जाय।[5] अन्त में हनुमान् ने अपना शरीर पहले अधिक बढ़ाकर और बाद में घटा कर अपने को बन्धनों से मुक्त किया तथा अपना आकार बढ़ाकर विभीषण के महल को छोड़कर समस्त लङ्का को भस्म कर डाला और बाद में अपनी जलती हुई पूँछ को समुद्र में बुझाया-

लङ्कां समस्तां संदीप्य लाङ्गूलाग्निं महाकपिः।
निर्वापयामास तदा समुद्रे हरिसत्तमः॥[6]

श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य में भी लङ्कादहन सम्बन्धित इतिवृत्त का वर्णन मिलता है। यहाँ लङ्कादहन की केवल मुख्य कथा अतिसंक्षेप में दृष्टिगोचर होती है। माता सीता को अभिज्ञान के लिए राम की अङ्गूठी देने के बाद लौटते समय राक्षसों ने हनुमान् की पूँछ में आग लगा दी। तब हनुमान् ने उससे सम्पूर्ण लङ्का नगरी में आग लगाकर जला दिया। जिसके कारण पूरी नगरी में हाहाकार मच गया। तदुपरान्त मानों लङ्का में विपत्ति घिर आयी हो-

निवर्तमानश्च ततः स लङ्कां दग्धात्स्वपुच्छाद्दनुजैर्नृशंसैः।
ददाह हाहाकृतमास्त येन स्वाहाकृतञ्चापि समस्तपुर्याम्॥[7]

---

1. वा. रा. 5.45.36।
2. तं मत्तमिव मातङ्गं बद्धं कपिवरोत्तमम्।
   राक्षसा राक्षसेन्द्राय रावणाय न्यवेदयन्॥ वा. रा. 5.46.52।
3. वा. रा. 5.46.59।
4. वा. रा. 5.51.5।
5. वा. रा. 5.51.27।
6. वा. रा. 5.52.17।
7. श्रीराम. 8.35।

14. कुम्भकर्णवध

वाल्मीकिरामायण एवं श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य दोनों ग्रन्थों में कुम्भकर्ण-वध का इतिवृत्त एक समान दृष्टिगोचर होता है। वाल्मीकिरामायण में रावण अपनी पराजय से दुःखी होकर कुम्भकर्ण को जगाने का आदेश देता है। जिसे देखकर सभी वानर भयभीत हो जाते हैं। विभीषण राम को कुम्भकर्ण का परिचय देते हैं।[1] कुम्भकर्ण रावण के कुकृत्यों की भर्त्सना करता है। कुम्भकर्ण को देखकर सभी वानर भय के कारण भागने लगते हैं तभी अङ्गद उन्हें प्रोत्साहन देकर वापस बुलाते हैं। कुम्भकर्ण वानरों का संहार करने लगता है जिसके कारण अङ्गद भागते हुए वानरों को पुनः लौटाते हैं-

द्रवमाणास्तु ते वीरा अङ्गदेन वलीमुखाः।
सान्त्वैश्च बहुमानैश्च ततः सर्वे निवर्तिताः॥[2]

कुम्भकर्ण का मार खाकर 8हजार 7सौ वानर तत्काल धराशायी हो जाते हैं।[3] यह सब देखकर बलवान् नील ने वानर सेना को धैर्य देते हुए कुम्भकर्ण पर एक पर्वत का शिखर फेक देते हैं।[4] कुम्भकर्ण के हाथों मारे गये वानर व्यथित होकर श्रीराम के शरण में जाते हैं-

अनेकशो वध्यमानाः कुम्भकर्णेन वानराः।
राघवं शरणं जग्मुर्व्यथिताः खिन्नचेतसः॥[5]

पराक्रमी लक्ष्मण ने कुम्भकर्ण के शरीर में सात बाण मार दिये, फिर और बाण लेकर उसके ऊपर छोड़ दिये। राम और कुम्भकर्ण का भयङ्कर युद्ध होता है। राम ने पहले कुम्भकर्ण की भुजाएँ, तब उसके पैर और अन्त में उसका सिर अपने बाणों से काट दिया।[6]

श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य में भी कुम्भकर्ण-वध की कथा प्रायः एक समान मिलती है। कुम्भकर्ण ने अपने शरीर को बढ़ाकर नदी का जल सात दिनों तक रोक दिया। जिससे राम की सेना जल से वञ्चित हो गयी।[7] हनुमान् भी उसी के आकार का स्वरूप धारण कर कुम्भकर्ण के पास पहुँच गये। हनुमान् ने पाद प्रहार किया, तत्काल उसी से ही कुम्भकर्ण खड़ा हो गया।[8] उसके खड़ा होते ही

---

1. वा. रा. 6.49.8।
2. वा. रा. 6.54.28
3. शतानि सप्त चाष्टौ च सहस्राणि च वानराः।
   प्रकीर्णाः शेरते भूमौ कुम्भकर्णेन पोथिताः॥ वा. रा. 6.55.6।
4. वा. रा. 6.55.15।
5. वा. रा. 6.55.34।
6. वा. रा. 6.55.123।
7. श्रीराम. 15.91।
8. सम्प्राप्तमात्रश्च स तं प्रदेशं निजं स्वरूपं प्रतिपद्य घोरम्।
   पादप्रहारं प्रददावमुष्मै यस्मात्सपद्येव स उत्थितोऽभूत्॥ श्रीराम. 15.93।

सरिता का जल बहने लगा जिसे पीकर राम की सेना पिपासा को शान्त किया। हनुमान् के पाद प्रहार से उसकी सारी योजना विफल हो जाने के कारण वह चला गया-

कपिप्रहारश्लथसर्वकायः स्वयत्नवैफल्यविलक्षचेताः।
स्थानादमुष्मान्नयवित्सपद्यपचक्रमे वीरवरब्रुवः सः।।[1]

परन्तु दूसर दिन वह पुनः उसी स्थान पर आ गया और अपनी शक्ति प्रहार से राम की सेना में भय उत्पन्न कर दिया।[2] उसे रोकने के लिए राम स्वयं उसके सामने युद्ध करने के लिए आ गये। राम ने उसके ऊपर ब्रह्मास्त्र का प्रहार किया जिससे कुम्भकर्ण मरकर पृथ्वी पर गिर गया-

कालान्तकप्रख्यमिमं निरोद्धुं रामः स्वयं वीर उपस्थितोऽभूत्।
ब्रह्मास्त्रमस्मिन् मुमुचे स येन व्यसुर्दनूजो निपपात भूमौ।।[3]

15. रावणवध

वाल्मीकिरामायण एवं श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य दोनों महाकाव्यों में रावण-वध की कथा कुछ परिवर्धन के साथ लगभग समान वर्णित की गयी है। वाल्मीकिरामायण में कुम्भकर्ण, नरान्तक[4], देवान्तक[5], महोदर[6], महापार्श्व[7], कुम्भकर्ण के तीनों पुत्रों कुम्भ[8], निकुम्भ[9], मकराक्ष[10] तथा रावण का पुत्र इन्द्रजित्[11] और विरुपाक्ष[12] आदि के मृत्यु के बाद रावण युद्ध के लिए आता है। विभीषण ने रावण-रथ के घोड़ों का वध किया था जिस पर रावण ने रथ से उतरकर एक शक्ति नामक बरछी को विभीषण की ओर फेंक दिया, किन्तु लक्ष्मण ने उस शक्ति को छिन्न-भिन्न कर दिया। इसके बाद लक्ष्मण ने रावण की एक दूसरी शक्ति से विभीषण को बचाया जिससे रावण ने अन्त में मय द्वारा निर्मित अमोघ शक्ति से लक्ष्मण की छाती को छेद दिया। राम ने इस शक्ति को निकालकर तोड़ दिया तथा लक्ष्मण को हनुमान् आदि की रक्षा में छोड़कर रावण को रणभूमि में भागने के लिए बाध्य कर दिया-

---

1. श्रीराम. 15.95।
2. श्रीराम. 15.96।
3. श्रीराम. 15.97।
4. वा. रा. 6.57.88।
5. वा. रा. 6.58.24।
6. वा. रा. 6.58.28।
7. वा. रा. 6.58.52।
8. वा. रा. 6.63.51।
9. वा. रा. 6.64.21।
10. वा. रा. 6.66.36।
11. वा. रा. 6.78.33।
12. वा. रा. 6.84.29।

स कीर्यमाणः शरजालवृष्टिभिर्महात्मना दीप्तधनुष्मतार्दितः।
भयात्प्रदुद्राव समेत्य रावणो यथानिलेनाभिहतो बलाहकः॥[1]

तब लक्ष्मण के पास लौटकर विलाप करने लगे, किन्तु सुषेण ने उन्हें लक्ष्मण के जीवित होने का आश्वासन दिया।[2] तदनन्तर राम द्वारा रावण का एक रथ, एक धनुष, एक कवच, हाथ काटने पर वह पुनः पूर्ववत् हो जाता है, किन्तु यहाँ क्रमशः एक के बाद एक सिर आने का उल्लेख प्राप्त होता है। बाद में मातलि के सलाह पर रावण के वक्ष में पेतामह नामक बाण से उसके वध का उल्लेख प्राप्त होता है। यह बाण राम को अगस्त्य ऋषि द्वारा प्राप्त होता है-

रुधिराक्तः स वेगेन जीवितान्तकरः शरः।
रावणस्य हरन् प्राणान् विवेश धरणीतलम्॥
स शरो रावणं हत्वा रुधिरार्द्रकृतच्छविः।
कृतकर्मा निभृतवत् स्वतूणीं पुनराविशत्॥[3]

श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य में रावणवध का वर्णन वाल्मीकिरामायण से कुछ अंशो में भिन्न दिखलाई पड़ता है। महाकाव्य में रावण की आत्मा गोपुत्रऋषि के आश्रम में स्थित पञ्जर में बन्द है।[4] हनुमान् और अङ्गद गोपुत्रऋषि के आश्रम पर जाते हैं-

एवमस्त्विति ऋषौ निजवाचं प्रोक्तवत्यथ कपिः सह तेन।
अङ्गदेन च सहोद्युयुजे द्राग् रावणोपगमनाय हितेन॥[5]

तत्पश्चात् गोपुत्रऋषि के साथ हनुमान् और अङ्गद लङ्कापुरी में जाते हैं। प्रस्थान से पूर्व रावण की आत्मा को भी लंङ्का में साथ ले जाने के लिए गोपुत्रऋषि से आग्रह करते हैं।[6] हनुमान् लङ्का की सीमा के नदी तीर पर पञ्जर स्थित रावण की आत्मा को भूमि में गाड़ देते हैं। तब इसके बाद राम के बाणों से रावण का वध होता है-

रावणो वध्यकोटित्वं जगाम परमास्त्रवित्।
अहन्यत च तीक्ष्णाग्रैः शरै रामाभिवर्षितैः॥[7]

---

1. वा. रा. 6.88.59।
2. राममाश्वासयन्वीरः सुषेणो वाक्यमब्रवीत्।
   न मृतोऽयं महाबाहुर्लक्ष्मणो लक्ष्मिवर्धनः॥ वा. रा. 6.89.9।
3. वा. रा. 6.97.18-19।
4. श्रीराम. 17.8।
5. श्रीराम. 17.37।
6. तत्सहैव नय पञ्जरमेतन् मा स्म शत्रुकर एतदुपागात्।
   अन्यथा महदनिष्टमृषे! नः सम्भवेदिति वचो मम विद्धि॥ श्रीराम. 17.41।
7. श्रीराम. 17.59।

16. रामराज्याभिषेक

वाल्मीकिरामायण एवं श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य दोनों महाकाव्यों में रामज्याभिषेक की कथा लगभग समान वर्णित की गयी है। वाल्मीकिरामायण के अनुसार रावणवधोपरान्त विभीषण का राज्याभिषेक करके पुष्पकविमान से अयोध्या वापस आते हैं।[1] हनुमान् निषादराज गुह और भरत को राम के आगमन की सूचना देते हैं-

शृङ्गवेरपुरं प्राप्य गुहं गहनगोचरम्।
निषादाधिपतिं ब्रूहि कुशलं वचनान्मम॥
भरतस्तु त्वया वाच्यः कुशलं वचनान्मम।
सिद्धार्थं शंस मां तस्मै सभार्यं सहलक्ष्मणम्॥[2]

अयोध्या में श्रीराम के स्वागत की तैयारी की जाती है और भरत के साथ सभी लोग राम की अगवानी के लिए नन्दिग्राम पहुँचते हैं।[3] तदनन्तर भरत श्रीराम को राज्य लौटाते हैं। उसके बाद जटा का शोधन करके श्रीराम ने स्नान किया। फिर सुवासित पुष्पमाला, सुन्दर अनुलेपन और बहुमूल्य पीताम्बर धारण करके आभूषणों की शोभा से प्रकाशित होते हुए वे सिंहासन पर विराजमान होते हैं-

विशोधितजटः स्नातश्चित्रमाल्यानुलेपनः।
महार्हवसनोपेतस्तस्थौ तत्र श्रिया ज्वलन्॥[4]

श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य के 20वें सर्ग में भी श्रीराम के राज्याभिषेक का उल्लेख मात्र किया गया है। यहाँ अनेकानेक नवीन उपाख्यानों के होते हुए भी प्रधान इतिवृत्त में किसी प्रकार का ह्रास नहीं हुआ है, बल्कि नवीन उपाख्यानों से इतिवृत्त के प्रवाह में विस्तार ही हुआ है। लङ्का में दानव पति रावण के वध के उपरान्त श्रीराम अयोध्या आते हैं। अयोध्या में अयोध्यावासियों द्वारा सम्मान किया जाता है। तदनन्तर श्रीराम का राज्याभिषेक किया जाता है जिसे देखकर सभी अयोध्यावासी आनन्दित होते हैं-

मृधे रक्षोराजे दशमुख उपेते यमपुरीमयोध्यां श्रीरामो जनमहित आसीत्प्रतिगतः।
अभूत्तत्रामुष्याभिमततरकःसर्वजगतोऽभिषेको राज्ये यो जनमनसि मोदं समतनोत्॥[5]

17. सीता-निर्वासन

वाल्मीकिरामायण एवं श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य दोनों ग्रन्थों में सीता-निर्वासन की मुख्य कथा

---

1. वा. रा. 6.109.20।
2. वा. रा. 6.113.4,7।
3. वा. रा. 6.115.12।
4. वा. रा. 6.116.15।
5. श्रीराम. 20.1।

प्रायः एक समान मिलती है। वाल्मीकिरामायण के अनुसार गर्भवती सीता एक दिन राम के सामने तपोवन देखने की इच्छा प्रकट करती हैं।[1] राम उन्हें अगले दिन तपोवन भेज देने की प्रतिज्ञा[2] करके अपने मित्रों के साथ बैठकर परिहास की कहानियाँ सुनते हैं।[3] संयोगवश श्रीराम सेवक भद्र से पूछते हैं कि मेरे, सीता और भरत आदि के विषय में जनता क्या कहती है?[4] तदनन्तर सीता के कारण हो रहे लोकापवाद और जनता के आचरण पर पड़ने वाले उसके कुप्रभाव का उल्लेख करते हुए भद्र कहता है कि हम जनता के लोगों को भी अपने स्त्रियों का ऐसा ही आचरण सहन करना होगा, क्योंकि राजा जैसा करता है प्रजा भी उसी का अनुकरण करती है-

अस्माकमपि दारेषु सहनीयं भविष्यति।
यथा हि कुरुते राजा प्रजा तमनुवर्तते।।[5]

यह सुनकर राम लक्ष्मण को बुलाते हैं और सीता को गङ्गा के उस पार छोड़ देने का आदेश देते हैं।[6] लक्ष्मण तपोवन दिखलाने के बहाने सीता को रथ पर ले जाते हैं और वाल्मीकि के आश्रम पर छोड़ देते हैं-

सा त्वं त्यक्ता नृपतिना निर्दोषा मम संनिधौ।
पौरापवादभीतेन ग्राह्यं देवि न तेऽन्यथा।।[7]

उसी प्रकार श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य में भी सीता के निर्वासन का वर्णन प्राप्त होता है, परन्तु प्रकृत महाकाव्य में सीता-निर्वासन के कारण को भिन्न बताया गया है। यहाँ सीता के निर्वासन में लोकापवाद की घटना नहीं, अपितु रावण का चित्र प्रधान कारण है। अतुला नामक शूर्पणखा की पुत्री अपनी माता के अपमान का प्रतिशोध लेने के लिए सीता से मित्रता करती है और रावण का चित्र बनवाती है।[8] स्नान हेतु गये राम को आते देखकर अतुला उसी चित्र में प्रविष्ट हो जाती है-

अतुला गमनाद्विदेहजानयनाभ्यां किल दूरतः परम्।
प्रविवेश निजीयमाययाऽसुरचित्रे तदभूच्च तद्वशे।।[9]

---

1. वा. रा. 7.41.25।
2. तथेति च प्रतिज्ञातं रामेणाक्लिष्टकर्मणा।
   विस्रब्धा भव वैदेहि श्वो गमिष्यस्यसंशयम्।। वा. रा. 7.41.26।
3. वा. रा. 7.42.3।
4. वा. रा. 7.42.5, 6।
5. वा. रा. 7.42.19।
6. वा. रा. 7.44.15।
7. वा. रा. 7.46.13।
8. सरलप्रकृतिर्विदेहजाऽसुरकन्याछलनामजानती।
   त्वरितं विलिलेख राक्षसाकृतिमेषोपलखण्डके स्फुटम्।। श्रीराम. 20.18।
9. श्रीराम. 20.26।

सीता उस चित्र को मिटाने में असमर्थ होतीं हैं। परिणाम स्वरूप उस चित्र को शैय्या के नीचे छिपा देता हैं। शैय्या पर लेटते ही राम को उच्च ज्वर होने लगता है। कारण को जानने के लिए लक्ष्मण को बुलाते हैं। चित्र देख राम के मन में सीता के प्रति सन्देह और क्रोध आता है। राम सीता को दूसरे देश में ले जाकर छोड़ने की आज्ञा देते हैं-

अपनेष्व ममाप्रियामथो वनमेनां च नय त्वमाश्रितः।
जहि चापि न जीविता चिरं स्थितिभाक् स्यात् प्रमदा प्रमादिनी।।[1]

18. सीता-पुत्रजन्म

वाल्मीकिरामायण एवं श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य इन दोनों ग्रन्थों में सीता के दो पुत्रों का उल्लेख प्राप्त होता है, परन्तु पुत्रों के नाम में भिन्नता है। रामायण में कुश का नाम कुश के अग्रभाग के समान पवित्र होने के कारण रखा गया था तथा लव घास के अन्तिम भाग के समान शुद्ध होने के कारण रखा गया था। जिस रात शत्रुघ्न ने पर्णशाला में प्रवेश किया, उसी रात सीता ने दो पुत्रों को जन्म दिया-

यामेव रात्रिं शत्रुघ्नः पर्णशालां समाविशत्।
तामेव रात्रिं सीतापि प्रसूता दारकद्वयम्।।[2]

इसी अवसर पर शत्रुघ्न मथुरा पर विजय प्राप्त कर मार्ग में इसी आश्रम में विश्राम करते हैं। वे बारह वर्ष के पश्चात् अयोध्या जाते समय पुनः आश्रम में जाते हैं। और लवकुश के द्वारा रामचरित के वर्णनों को सुनते हैं।

श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य में सीता के दो पुत्रों का वर्णन प्राप्त होता है। प्रथम पुत्र का नाम मङ्कुट और दूसरे का नाम लव है। पुत्र जन्म के बाद वज्मृग ऋषि के द्वारा स्वयं जातकर्म संस्कार करने का वर्णन प्राप्त होता है-

पुत्रस्य जातस्य च जातकर्मादिकं महर्षिः स्वयमेव चक्रे।
तस्मै ददौ नाम च मङ्कुटेति संवर्धयामास तमाशिषा च।।[3]

19. सीता-पातालप्रवेश

वाल्मीकिरामायण एवं श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य इन दोनों ग्रन्थों में सीतापातालप्रवेश का वर्णन लगभग समान दृष्टिगोचर होता है। वाल्मीकिरामायण में महर्षि वाल्मीकि के निर्देश पर लव और कुश रामचरित सुनाते हैं। वहाँ राम अपने पुत्रों के विषय में जानकारी प्राप्त करते हैं। वे वाल्मीकि से सीता को लाने के लिए एक संदेश भेजते हैं तथा एक शपथ लेकर उसे अपनी पवित्रता सिद्ध

---

1. श्रीराम. 20.42।
2. वा. रा. 7.58.1।
3. श्रीराम. 21.19।

करने के लिए कहते हैं। सीता वहाँ आती हैं और पृथिवी से कहती हैं कि यदि वह पवित्र हैं तो वह उसे अपनीं गोद में शरण दें। शीघ्र ही पृथिवी माता प्रकट होकर सीता को अपने साथ पाताल में ले जाती हैं-

तथा शपन्त्यां वैदेह्यां प्रादुरासीत् तदद्भुतम्।
भूतलादुत्थितं दिव्यं सिंहासनमनुत्तमम्॥[1]

श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य में भी सीतापातालप्रवेश का वर्णन प्राप्त होता है। हनुमान् राम के मृत्यु का संदेश सुनाकर सीता को अयोध्या ले आते हैं। विलाप करती हुई सीता राम को धिक्कारतीं हैं। अयोध्या से जाने के लिए प्रयास करने पर सभी द्वार बन्द हो जाते हैं। तत्पश्चात् सीता के प्रार्थना करने पर पृथिवी माता स्वयं आकर सीता को पाताल लोक ले जाती हैं-

अतीव चित्रं समभूत्तदैव पृथ्वी विदीर्णा स्वयमेव जाता।
विदेहजाता च ततः प्रयाता पाताललोकं प्रति लोकवन्द्या॥[2]

इस प्रकार निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि युग-युगान्तर पूर्व रचित मानी जाने वाली रामकथा वाल्मीकिरामायण व कलियुग के 1797 ई. के बाद रचित रामकथा रामकिएन (श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य) के कथानक में विशेष अन्तर दिखलाई नहीं पड़ता है, बल्कि महाकाव्य का मूल कथानक के कथाप्रवाह में भी कोई अन्तर नहीं है। जो उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

सन्दर्भ-ग्रन्थ सूची

1. वाल्मीकिरामायणम् (समीक्षितपाङ्ग), रामकृष्ण व्यास, ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट बड़ौदा, प्रथम संस्करण 1992 ई.।
2. श्रीमद्वाल्मीकीयं रामायणम्, पं. शिवरामशर्मा वासिष्ठ, चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 2002 ई.।
3. श्रीरामकीर्तिमहाकाव्य (हिन्दी पद्यानुवाद), डॉ. सत्यव्रत शास्त्री, डॉ. मिथिलेशकुमारी मिश्र, ईस्टर्न बुक लिङ्कर्स, दरियागञ्ज, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण 1990 ई.।
4. रामकथा उत्पत्ति और विकास, फादर कामिल बुल्के, हिन्दी परिषद् प्रकाशन, इलाहाबाद, 2012 ई.।
5. रामायणीमीमांसा, स्वामी करपात्री जी महाराज, राधाकृष्ण धानुका प्रकाशन संस्थान, वृन्दावन, मथुरा, सप्तम संस्करण 2015 ई.।
6. संस्कृत साहित्य का इतिहास, आचार्य बलदेव उपाध्याय, शारदा निकेतन, 5बी, कस्तूरबा नगर, सिगरा, वाराणसी, दशम संस्करण 2001 ई.।

• • •

1. वा. रा. 7.88.11।
2. श्रीराम. 24.45।

20

'श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम्' में नाटकीय एवं संवादात्मक तत्त्व एक अनूठा प्रयोग

कमल आनन्द

डॉ० सत्यव्रत शास्त्री द्वारा रचित 'श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम्'। थाइ देश में प्रचलित रामकथा का गौरवशाली संस्कृत महाकाव्य है जो आधुनिक संस्कृत महाकाव्य शृंखला में अपना विशिष्ट स्थान रखता है। किसी भी दक्षिण पूर्व-एशियाई रामायण को सरंकृत पद्य में उपन्यस्त करने का यह प्रथम प्रयास है। इसमें थाइ रामायण 'रामकियन्' को संस्कृत भाषा में 25 सर्गों के महाकाव्य के रूप में निबद्ध किया गया है, यह महनीय काव्यकृति इतिहास के उन झरोखों को खोलती है जिनसे हम दक्षिण-पूर्व के देशों में प्रचलित रामकथा के अन्तस्तल का दर्शन कर पाते हैं। इसका कलेवर अवान्तर कथाओं में अन्तर होने पर भी, वाल्मीकि रामायण का ही है।

इस महाकाव्य के कथानक निर्वहण में कवि का साहस व उदार दृष्टिकोण स्पष्ट परिलक्षित होता है। इसकी रामकथा में वहां की लोक परम्परा तथा लोककथा तत्त्व का समावेश है अतः इसमें भारतीय रामायण की आदर्शवादी एवं नैतिक प्रवृत्ति का अभाव है। रामकथाश्रित काव्यों की शृंखला में यह एक नयी कड़ी है। काव्यशास्त्रीय सिद्धान्तानुगमन में यह कृति चरमबिन्दु को स्पर्श करती है।

इस कृति के विशद वर्णन-फलक पर मनः स्थिति के मार्मिक चित्रण में नाटकीय और संवादात्मक तत्त्व उसे विशेष प्रभावशाली बनाने में सहायक सिद्ध हुए हैं। विभिन्न मनःस्थितियों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन में वात्सल्य, करुणा, सहनशीलता, स्पष्ट व्यावहारिकता आदि भावों के निरूपण में रस व भाव का संचार दर्शनीय बन पड़ा हैं। हृदय को आन्दोलित कर देने वाले अन्तर्द्वन्द्वों को शैली के नाटकीय एवं संवादात्मक तत्त्व अप्रयास ही गति प्रदान करते हैं और पाठकों को सहधर्मी की स्थिति में ले जाने में सर्वथा समर्थ बन पड़े हैं। भाषा, भाव व कथावृत्त की दृष्टि से उचित स्थलों पर नाटकीयता अभिनेयता तथा प्रभावोत्पादकता के कारण नाटक की सी प्रतीति देते हैं।

'श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम्' का नाटकीय तत्त्व विविध भावों को प्रकट करता हुआ बहुत ही

मार्मिक बन पड़ा है। इस काव्य के मानवीय सम्बन्धों के विभिन्न प्रसंगों में इसकी विलक्षणता दर्शनीय है। पिता–पुत्र सम्मिलन के प्रसंगों में वात्सल्य को अभिनीत करने वाले विशेष हाव–भाव इस तत्त्व को परिमार्जित करते हैं। पति–पत्नी के सम्मिलन की कोमलता का मौन मानव हृदयस्थ भावों को मुखर कर, नेत्रों से उसे अभिनीत कर देने का अति मनोहर स्थल भी ऋवि की इस कृति में अंकित है। राम को वर्षों पश्चात् देखती हुई सीता की मन:स्थिति तरंगों पर थिरकती राजहंसी की भांति निरूपित करने वाली कवि की भाषा ने कुशल निर्देशक की तरह सीता से अत्यन्त कोमल अभिनय करवाया है, जिसमें वह वहां न खड़ी को सकती है और न वहां से जा सकती है। काव्य में कोमल भावों को अभिनय के स्तर तक का प्रस्तुत करने का यह स्थल कालिदास के कुमारसम्भवम् की पार्वती की मनोदशा का स्मरण कराता है। कालिदास की पार्वती 'न ययौ न तस्थौ' थी तो डॉ० सत्यव्रत की सीता "स्थातुं न शक्ता न च वा प्रयातुम्" है–

दृष्ट्वा तु रामं समुपस्थितं स्वे
साक्षात्कुटीरे जनकात्मजा सा।
स्थातुं न शक्ता न च वा प्रयातुं
गता तरङ्गेष्विव राजहंसी।[1]

लव–मंकुट को राम के साथ अयोध्या भेज कर सीता की मनोदश में भी नाटकीयता का सुन्दर समावेश हृदयार्द्र करने में समर्थ है। सबाष्पनेत्रा सीता की दयनीय स्थिति पाठकों को सबाष्पनेत्र बना देती है। इस कोमल प्रसंग में भी भाषा, पात्र के माध्यम से अभिनयकला की सूक्ष्म एवं कोमल वीथियों से होती हुई मनोभावों के कपाट खोल देती है। कवि की इस विधा का परिचय निम्नांकित पद्य से मिल जाता है–

एवं विनिश्चित्य सुतौ ततः सा
विसर्जयामास सबाष्पनेत्रा।
कुटीरकद्वारि च संस्थिता तौ
ददर्श यान्तौ जनकेन साकम्।।[2]

हनुमान्–मच्छानु के भीषण युद्ध के पश्चात् एक दूसरे को देख पारस्परिक साम्य से विस्मित उन दोनों के वर्णन में भी नाटकीय तत्त्व का सुन्दर परिवेश बन गया है। दोनों का एक दूसरे को देखना, दोनों का आकृति–साम्य को देख आश्चर्यचकित और विस्मित होना आदि उपक्रम नाटकीयता की तीव्र प्रभावोत्पादकता एवं रोचकता के परिचायक है–

अन्योऽन्यमालोकयतां तदा तौ
साम्यं मिथस्तौ समपश्यतां च।

---

1. श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम् सर्ग 23, पद्य 1, पृ० 193,
2. वही सर्ग 23, पद्य 44, पृ० 201

भूयोऽप्यतो विस्मयमीयिवांसौ
सम्भाषणे प्रावृततां ततश्च।।[1]

हनुमान्-मच्छानु के मिलन से पिता-पुत्र के प्रेमार्द्र सम्बन्ध की उद्भावना में नाटकीय तत्त्व की विलक्षण अभिव्यक्ति हुई है। पिता का पुत्र के प्रति वात्सल्य और पुत्र का पिता के प्रति आदर तथा उनकी पारस्परिक आकस्मिक प्राप्ति के हर्ष के द्योतक भाव, चुम्बन, आलिंगन, शिर-चुम्बन, प्रणाम, व्रीडा आदि का सुन्दर विनियोग भाषा से अत्याकर्षक बन पड़ा है। काव्य में हृद्गत भावों की अभिव्यक्ति की अति मनोहर नाटकीय झलक निम्नांकित पद्यों में मिलती है:-

क. प्रभो! विचित्रैव तवाऽस्ति माया
ऽकस्माद्यया सङ्गमिताविह स्वः।
इत्येवमुक्त्वा स बभूव तूष्णीं,
कपिः प्रहर्षाश्रुभराविलाक्षः।।[2]

ख. पादौ च पस्पर्श गुरोः प्रवीरः
क्षमामिमं चापि भृशं ययाचे।
अज्ञानहेतोर्बहु कर्म लोके
ऽनौचित्यपूर्णं क्रियते जनेन।।[3]

ग. उत्थाप्य तं वानरवीरमुख्यः
शिरस्युपाघ्राय च वीरवर्यम्।
वात्सल्यभाराकुलितान्तरङ्गः
पुनः पुनः सस्पृहमालिलिङ्ग।।[4]

घ. व्रीडावनम्रः स च तं विनम्र-
भावेन भूयो विनिबद्धभावः।
अतर्कितावाप्तदीयसङ्ग
समालिलिङ्ग प्रणनाम चापि।।[5]

संवादात्मकता की अद्भुत क्रीड़ा 'श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम् में अत्यन्त मनोहर बन पड़ी है। कवि द्वारा प्रयुक्त यह तत्व पूर्णतः अभिनव न होते हुए भी विशेष महत्त्वपूर्ण है। प्राचीन कवियों कालिदास, भारवि, माघ आदि ने इस तत्त्व को अपने अपने काव्यों में प्रयुक्त तो किया है परन्तु

---

1. श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम् सर्ग 13, पद्य 39, पृ० 90
2. वही सर्ग 13, पद्य 50, पृ० 92
3. वही सर्ग 13, पद्य 53, पृ० 92
4. वही सर्ग 13, पद्य 54, पृ० 93
5. वही सर्ग 13, पद्य 55, पृ० 93

उनका यह प्रयोग विरल तथा संक्षिप्त है। जबकि कवि ने इस प्रयोग को अभिनव दिशा प्रदान कर, इसे विभिन्न कृतियों में पूरे के पूरे सर्गों में प्रयुक्त कर, उन्हें संवाद की रोचकता से विलक्षण बना दिया है। इन संवादों की अद्भुत प्रवाहमयता तथा भावप्रांजलता ने भाषा को अधिक सुन्दर, समुज्ज्वल व आकर्षक बनाया है। तर्क से अनुमोदित ये संवाद कथानक के कुछ पक्षों को अधिक स्पष्ट करते हुए, पात्रों की कई समस्याओं के समाधान–साधन भी बने हैं कविकर्म की यह विशेषता विभिन्न पात्रों के मानसिक द्वन्द्वों को अभिव्यक्त करती हुई भाषा में अगाध सजीवता का समावेश करती है।

पात्रों की विभिन्न मनोदशाओं, सिद्धान्तों तथा उपक्रमों को छोटे छोटे प्रसंगों में गुम्फित करने वाले संवाद 'श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम्' में आद्यन्त विकीर्ण हैं। कहीं वे कोमल भावनाओं को प्रतिबिम्बित करते हैं, तो कहीं ओज व तेज को और कहीं हृदय को छू लेने वाली अथाह गहराइयों का अनुभव कराते हैं। कतिपय काव्यांश दो पात्रों को आमने सामने प्रस्तुत न करते हुए भी, पारस्परिक प्रत्यक्ष संवाद का बोध कराने में सक्षम है। अधिकांश प्रसंगों में ये स्वत: उच्चरित संवाद है। दूसरा पात्र अप्रत्यक्ष रूप से काव्य कलेवर में उपस्थित रहता है, काव्यमंच पर नहीं। पाठक के मनस्पटल पर विराजमान यह पात्र संवादविशेष को ग्रहण करने में सर्वथा समर्थ है। कवि की यह संवाद विधा अपने ही प्रकार का विनियोजन करती बहुत रोचक बन पड़ी है।

'श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम्' में पारिवारिक तथा मानवीय सम्बन्धों की विभिन्न छवियों को निरूपित करने वाले संवादों की भी महत्त्वपूर्ण भूमिका है। हृद्गत भावों, संकल्पों तथा अन्तर्मन्थनों की गाथा को अपने में समेटे ये संवाद अत्यन्त प्रभावपूर्ण हैं। पिता–पुत्र सम्बन्ध की कोमलता को 'श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम्' में हनुमान्–मच्छानु संवाद के माध्यम से निरूपित किया गया है। पिता–पुत्र का एक दूसरे को न जानते हुए भीषण द्वन्द्वयुद्ध करना और अपने अपने शौर्य को प्रदर्शित करना, दोनों में किसी का भी पराजित न होना और पारस्परिक सादृश्य को देख विस्मयाभिभूत हो वार्तालाप प्रारम्भ करना आदि कुछ ऐसे घटनाक्रम हैं, जो पिता–पुत्र संवाद के लिये अत्यन्त सहज परिवेश उपस्थित करते हैं। हनुमान्–सुवर्णमत्स्या का पुत्र मच्छानु, जन्मोपरान्त पाताल–नरेश मैयराब द्वारा पुत्र रूप में स्वीकार कर लिया गया था। अत: वह पाताल लोक के संरक्षक का कार्य बड़ी निष्ठा से करने में संलग्न था। यह संवाद हनुमान्–मच्छानु दोनों की कर्त्तव्यनिष्ठा पर प्रकाश डालता है। दोनों की वीरता एक दूसरे को आश्चर्यचकित करती है। कवि की उर्वर कल्पना ने पिता–पुत्र सम्मिलन की यह पृष्ठभूमि उपस्थित कर, कथानक में कौतुक का सन्निवेश किया है जिससे घटनाक्रम तीव्रता से आगे बढ़ता चला गया है। इस स्थिति में संवाद का समावेश रोचकता को बढ़ाता है। यह कवि के संवादों की विशेषता है कि वे कथानक के प्रवाह में अवरोध प्रस्तुत नहीं करते, प्रत्युत उसे गति व रुचि प्रदान करते हैं। यह संवाद सहज सरल वार्तालाप से प्रारम्भ होकर, पिता–पुत्र के वत्सल सम्बन्ध को प्रतिष्ठापित करता हुआ दोनों की आह्लादक मन:स्थिति का परिचय देता है–

क. संरक्षकं पद्मसरोवरस्य
पप्रच्छ तावद्धनुमान् युवानम्।
को वा भवान् कस्य सुतः कथं च
पराक्रमोऽदृष्टचरो जगत्याम्।[1]

ख. त्वं मे सुतो वीर! पिता तवाहं
लोके हनूमानहमेव पुत्र।
त्वद्दर्शनेनैव सुतृप्तमेहि
मह्यं परिष्वङ्गसुखं प्रदेहि।।[2]

इस संवाद से एक बात विशेष स्पष्ट होती है कि पुत्र मच्छानु माता-पिता द्वारा त्याग दिये जाने पर भी उन्हीं के गुण व शक्ति का उपासक है। वह वायुपुत्र हनुमान् तथा दनुजपुत्री सुवर्णमत्स्या की सन्तान होने में गर्व का अनुभव करता है और उन दोनों की शक्ति उसके बल व साहस का सम्बल है। उसका यह स्वाभिमान, सम्मान, बल, व आत्मविश्वास उसके निम्नांकित संवादांश में स्पष्ट झलकता है-

न मे पुरः स्थातुमिहात्र शक्तः
शक्तोऽपि लोके क्व भवान् पुनस्तु।
वायोर्दशास्यस्य च भीषणे द्वे
शक्ती स्थिरे स्तो मयि विद्धि तावत्।।[3]

हनुमान्-असुरफद् संवाद भी पिता-पुत्र सम्बन्ध की कोमलता तथा पुत्र के पिता के प्रति प्रगाढ़ आदर सम्मान को परिलक्षित करता है। निम्नांकित संवादांश दोनों के पारस्परिक स्नेहिल कोमल भावों को भाषा के माध्यम से सुतरां व्यक्त करने में समर्थ है। पुत्रप्राप्ति से कृतकृत्य हुए पिता के भाव हृदय को छू लेने और पिताप्राप्ति पर पुत्र को असीम हर्ष से रोमांचित करने में सर्वथा समर्थ है-

क. अतर्कितं रत्नमिवास्ति पुत्र-
रत्नं मया लब्धमिहाद्रिशृङ्गे।
सद्यः फलं मे तप इत्यनेन
हर्षप्रकर्षो हृदि मे न माति।।[4]

---

1. श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम् सर्ग 13, पद्य 40, पृ० 90
2. वही सर्ग 13, पद्य 47, पृ० 91
3. वही सर्ग 13, पद्य 45, पृ० 91
4. वही सर्ग 19, पद्य 36, पृ० 152

ख. ममेष्टदेवोऽसि पिता मम त्वं
'मनोरथानामतटप्रपातः'।
त्वद्दर्शनेनैव कृती तथापि
गुर्वत्र कार्यं प्रतिपादयामि।[1]

पति–पत्नी सम्बन्ध की पारस्परिक संवेदना, मान तथा अधिकार का परिचायक प्रसंग राम–सीता संवाद में उपनिबद्ध है। इस संवाद की अपनी पहचान है कि राम कोमलातिकोमल भावों को प्रस्तुत करते हुए सीता के प्रति किये गये अपने दुर्व्यवहार की क्षमायाचना करते हैं और सीता कठोरातिकठोर भावों में आहत मान को परिलक्षित करती है। राम की कोमलता और मानिनी सीता की कठोरता का प्रभावोत्पादक अंकन इस संवाद की विशेषता है। प्रस्तुत है इस कोमल–कठोर संवाद के कतिपय अंश–

क. तन्मेऽपराधं सुमुखि! क्षमस्व
क्षमाधना त्वं सुतरां क्षमेव।
लोकेऽत्र को नाम न नापराध्येद्
दोषाः प्रकृत्या प्रकटीभवन्ति।।[2]

ख. त्वदेकचित्तोऽस्मि न रोचतेऽन्यत्
किञ्चित् समस्ते नृपवैभवेऽपि।
शून्या दिशो भान्ति जगच्च शून्यम्
शून्यस्य मे सर्वत एव शून्यम्।।[3]

ग. त्वां नेतुमद्याहमुपस्थितोऽस्मि
पुरीमयोध्यामुपयाहि तां त्वम्।
प्रासादशोभा भव मे पुनस्त्वं
मम प्रसादं च विवर्धयस्व।।[4]

मानिनी सीता की आहत मार्मिक स्थिति का आभास उसकी सशक्त कटूक्तियों में स्पष्ट परिलक्षित होता है। राम के संवादों में यदि कोमलता है तो सीता के वचनों में कटुता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह संवाद पति–पत्नी के कोमल सुदृढ़ सम्बन्ध की नींव विश्वास का अति सूक्ष्म पर्यालोचन करता है। पति का पत्नी में विश्वास–अभाव तथा शंका पत्नी के अन्तर्मन को मथ देती है, जिसकी तीव्र प्रतिक्रिया कटुता ही होती है। सीता के अन्तर्मन की व्यथा उसके

1. श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम् सर्ग 10, पद्य 39, पृ० 153
2. वही सर्ग 23, पद्य 14, पृ० 195
3. वही सर्ग 23, पद्य 19, पृ० 196
4. वही सर्ग 23, पद्य 17, पृ० 196

संवादों में उपनिबद्ध कर कवि ने पुरुष व नारी का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण प्रस्तुत किया है। उल्लेखनीय तथ्य है कि कवि के ये संवाद युगप्रभाव के भी सूचक हैं। सीता के संवादों में आधुनिक जागरूक नारी की प्रतिच्छाया स्पष्ट अंकित है। जीवन के कटु अनुभवों ने सीता को पति की भर्त्सना करने का साहस तो दिया ही, साथ में अपनी निर्दोषता का आभास करवाने का आत्मविश्वास भी प्रदान किया। सीता के संवाद के कतिपय अंश इस के ज्वलन्त प्रमाण है–

क. जीवामि दैवादहमद्य राजन्।
मृता त्वहं त्वत्कृत आसमेव।
मृतां गृहाणैव तु मां त्वमद्य
त्वया मया किं करणीयमस्ति।।[1]

ख. एकाकिनी त्वत्र वनेऽहमासं
दीर्घाणि यावद्दश हायनानि।
चारित्र्यमालम्ब्य कुतो न शङ्का
तवाऽस्ति मां यत्सह नेतुमिच्छा।।[2]

संवादात्मक पुट का चरमोत्कर्ष 'श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम्' के विभिन्न सर्गों में दृष्टिगोचर होता है। ये संवाद पात्रों की व्यक्तिगत विशेषताओं को प्रकाशित करते हैं जो उनकी मन:स्थितियों, भावों व तर्कों से बहुत प्रभावोत्पादक बन पड़े हैं। सर्ग 9 का राम-रावण संवाद, सर्ग 17 का हनुमान्-ऋषि गोपुत्र संवाद, सर्ग 12 का हनुमान्-सुवर्णमत्स्या संवाद विशेष उल्लेखनीय हैं। इनसे कथानक में नई स्पष्टता तथा पात्रों की कई समस्याओं के समाधान में सहायता मिली है। ये सभी संवाद सहज, सरल सुन्दर भाषा में गुंथे हुए हैं और जीवन के कई सत्यों, सिद्धान्तों व नियमों को उजागर करते हैं।

राम-रावण संवाद कथानक में गति व रोचकता प्रदान करने के साथ-साथ राम के सच्चरित और रावण की प्रपंचात्मक कुप्रवृत्ति को परिलक्षित करता है। रावण का शुक्रसार नाम गुप्तचर को राम-शिविर में, वहां की गतिविधियों को जानने की इच्छा से भेजना, शुक्रसार का विभीषण द्वारा पहचाना जाना और मार-पिटाई से उसकी दुर्गति के वर्णन में घटनाओं की आपा-धापी कथानक में प्रवाह की सूचक है। परन्तु कवि की संवादात्मकता की रोचकता भाषा में अपूर्व प्रभाव उत्पन्न करने में सक्षम हुई है। जब राम को हतोत्साहित करने के लिये रावण साधु-वेष धारण कर स्वयं राम-शिविर में उपस्थित होता है तो राम-रावण का संवाद कथा में एक नई स्फूर्ति तथा गति प्रस्तुत करता हुआ, जीवन के कटुसत्यों को सूक्तियों में गुम्फित कर प्रांजल साहित्यिक परिवेश को जन्म देता है। राम संवाद का निम्नांश उसके चरित्र की पवित्र विचारधारा को सूचित करता है–

---

1. श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम् सर्ग 23, पद्य 22, पृ० 197
2. वही सर्ग 23, पद्य 26, पृ० 197

कुतो भवानत्र मदीयभाग्यात्
प्राप्तोऽस्ति सम्भावयितुं स्वयं माम्।
तपस्विनां दर्शनमेव पुण्यं
तेषां गिरः पुण्यतरास्ततोऽपि।।[1]

राम के सज्जनसेवा उत्सुक व्यक्तित्व की विनम्रता उसके कथन में झलकती है–

सम्भावनां वर्धयितुं मदीया–
माख्यातु मां किङ्करणीयमस्ति।
मया नियोगक्रिययोत्सुकेन
सेवा सतां सत्फलदायिनी स्यात्।।[2]

ये संवाद कोरे वार्तालाप नहीं हैं। कपटी रावण की कुचालें और कुवृतियां उसके संवादों में स्पष्ट परिलक्षित हैं। रावण का मिथ्याभिमानी स्वभाव उसकी आत्मश्लाघा में प्रतिबिम्बित है। कवि की संवाद शैली की यह अनूठी पहचान है कि पात्रों के वचन उनकी चरित्रगत विशेषताओं का सशक्त निरूपण करते हैं। उदाहरणरूप में प्रस्तुत हैं रावण के वचन–

त्वां राम तस्मात्परिबोधये मा
दशास्यवह्नौ शलभायितो भूः।
त्रैलोक्यजेता क्व स राक्षसेन्द्रैः
परीवृतस्त्वं क्व च वानरैर्भोः।।[3]

दुःसाहसं त्वं त्यज यहि चापि
भ्रात्रा समं काननमेव भूयः।
विवेकिनो नो सहसा क्रमन्ते
पथा ध्रुवं येन भवेद्विनाशः।।[4]

रावण–विनाश का दृढ़ संकल्प राम के अदम्य साहस का प्रतीक है। परस्त्री का अपहरण करने वाले रावण को दण्ड देने का प्रयोजन उसके क्षत्रियत्व के कर्त्तव्य को सूचित करता है। राम–रावण संवाद में राम के निम्नांकित वचन उसके दृढ़संकल्प तथा चारित्रिक बल को निरूपित करने में सफल हुए हैं–

1. श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम् सर्ग 9, पद्य 43, पृ० 58
2. वही सर्ग 9, पद्य 44, पृ० 58
3. वही सर्ग 9, पद्य 48, पृ० 59
4. वही सर्ग 9, पद्य 51, पृ० 59

क. चापद्वितीये मयि युध्यमाने
स्थातुं ममाग्रे न भवेदलं सः।
एकैकशः कर्तायितास्मि तस्य
तीक्ष्णैर्दशास्यानि शरैरहं द्राक्।।[1]

ख. किं वा बहूक्तेन मदीय एष
दृढोऽस्ति सङ्कल्प इति प्रजानन्।
न मामतश्चालयितुं समर्थो
भवाञ्शिलौघं पवनो यथैव।।[2]

हनुमान्-सुवर्णमत्स्या संवाद में सुवर्णमत्स्या की योजनकर्म दक्षता, बड़ों की आज्ञा पालन का सदुपदेश, शत्रुकर्म का विफलीकरण तथा आत्मसुरक्षा की नीति के सशक्त स्वर मुखरित हुए हैं। कवि के भाषा कौशल ने इन संवादों को सुन्दर सूक्तियों में गुम्फित कर उन्हें अधिक प्रभावपूर्ण बना दिया है। अर्थान्तरन्यास की छवि तथा भाषा सौन्दर्य इन संवादों की निजी पहचान है–

क. एते मदादेशवशात्प्रवृत्ताः
पितुर्ममादेशवशादहं च।
कुर्वे तथाऽहं स यथाऽऽदिशन्माम्
'आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया।'।।[3]

ख. तदेव तावद्विदधामि भद्र।
रक्षात्मनो नो भृशमेषणीया।
स्वरक्षणान्नास्ति परो हि धर्मः
स एव तावत् परिपाल्यतेऽत्र।।[4]

इन संवादों की वर्ण स्फुटता, अर्थगर्भिता, तथा रोचक हृदयावर्जिता चमत्कृत कर देती है। सुवर्णमत्स्या के निम्नांकित संवादांश में शत्रुविफलीकरण की योजना वाक्य-विन्यास में ही झलकती नजर आती है–

परस्सहस्त्रैर्निजमत्स्यसैन्यैः
क्षिप्ताः शिला यत्नवशेन वार्धौ।

---

1. श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम् सर्ग 9, पद्य 52, पृ॰ 59
2. वही सर्ग 12, पद्य 20, पृ॰ 76
3. वही सर्ग 12, पद्य 25, पृ॰ 77
4. वही सर्ग 12, पद्य 25, पृ॰ 77

उद्धारमुद्धारमपाकरोमि
यत्नं च वोऽहं विफलीकरोमि।।[1]

हनुमान् का तर्कसंगत संवाद सुवर्णमत्स्या का हृदय–मन्थन करने में समर्थ है। रावण के अनाचार का आभास करवाने वाला, यथोचित कार्य के लिये प्रेरित करने वाला, नारी को नारी हृदय की वेदना का अनुभव करवाने वाला यह संवाद स्वस्थ विचारधारा का उद्घोषक है। इस संवाद के माध्यम से कवि ने विवेकशीलता तथा आचारसंहिता को प्रतिपादित कर अपनी काव्यशैली में अर्थगाम्भीर्य तथा रोचकता का संचार किया है। कवि के संवाद यथोचित कार्यवृत्ति तथा विचारशक्ति के प्रतिपादक सिद्धान्तों का निरूपण करने में सर्वथा समर्थ हैं। हनुमान् के निम्नांकित वचन उसकी तर्कशक्ति को परिलक्षित करते हैं–

क. श्रीरामपत्नीमहरत् पिता ते
छलेन साध्वीं धृतसाधुवेषः।
अधर्म्यमाचारविवर्जितं च
कार्यं कृतं तेन जघन्यमेतत्।।[2]

ख. अकीर्तिरेतेन जगत्त्रयेऽस्य
च्छलेन दारान् हरतोऽपरस्य।
वेदार्थविज्ञोऽप्यपवित्र एष
आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः।।[3]

हनुमान्–सुवर्णमत्स्या संवाद का चरमोत्कर्ष तो सुवर्णमत्स्या के निम्नांकित वचनों में मुखरित हुआ है, जब वह हनुमान् के तर्कसंगत कथन से क्षणभर के लिये गूढ़ विचारों में खो गई थी और उचित–अनुचित के मन्थन से उद्वेल्लित हो उठी थी। परन्तु हनुमान् के कोमल सद्विचारों से उसका यह मन्थन समाप्त हो गया और पिता के अनुचित कृत्य ने उसके नारी हृदय को नारी की वेदना का आभास करवा, उसे हनुमान् की बात मानने तथा उसकी सफलता की कामना को तत्पर कर दिया–

क. नार्यस्मि नारीहरणं बलेन
च्छलेन वा नैव समर्थयेय।
कष्टाय तस्यै प्रियविप्रयोगः
पतिर्हि नार्यै परमेश्वरोऽस्ति।।[4]

---

1. श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम् सर्ग 12, पद्य 22, पृ० 76
2. वही सर्ग 12, पद्य 31, पृ० 78
3. वही सर्ग 12, पद्य 32, पृ० 78
4. वही सर्ग 12, पद्य 36, पृ० 79

ख. सज्जाऽस्मि कर्तुं वचनं त्वदीयं
सर्वेऽनुगा मे विरता भवन्तु।
स्थाने स्थिताः सन्तु शिलास्तवैताः
सिद्धोऽस्तु ते भद्र! मनीषितोऽर्थः।।[1]

हनुमान्-वीरक्वना संवाद भी हनुमान् तथा पाताल नरेश मैयराब की बहन वीरक्वना के चरित्र की कोमल पंखुड़ियों को खोलता है। पाताल में प्रवेश करते ही अनुसरण कर वहां पहुंचना और सहायता का हाथ बढ़ाना उसके कोमल स्वभाव का प्रतीक है। बजरंगबली हनुमान् के कोमल पक्ष को परिलक्षित करने में इस संवाद की महत्त्वपूर्ण भूमिका है। निम्नांकित वचन उसके संवदेनशील स्वभाव का सुतरां दिग्दर्शन कराते हैं-

त्वत्क्रन्दनाकृष्टमना उपेत-
स्त्वामत्र भद्रे! वद तत्र हेतुम्।
मदीयसाध्यं यदि किंचन स्याद्
ध्रुवं तदर्थं प्रयतिष्य एव।।[2]

यह संवाद वीरक्वना के मातृत्व तथा पुत्र के प्रति गहन आसक्ति को परिलक्षित करने में सफल है। पुत्रनाश का भय मां के हृदय को कितना आंतकित और आशंकित कर देता है, यह वीरक्वना के निम्नलिखित वाक्य स्पष्ट करने में समर्थ हैं-

प्राणा यदा संशयमापतेयुः
सुतस्य का नाम तदास्ति माता।
दीर्येत यस्या हृदयं न भ्रद!
पुत्रस्य शोको ह्यविषह्य एव।।[3]

कवि ने इस संवाद के माध्यम से दानवों की तामसिक वृत्ति, जघन्य पापों एवं अत्याचारों को भी परिलक्षित किया है। उनका तमस अपनी बहन के मातृत्व को भी जघन्य कालिमा से आवृत कर लेता है। राम (नारायण) तथा वीरक्वना-पुत्र वैयविग, देव तथा दानव, दोनों ही उनकी नृशंसता का लक्ष्य बना कर प्रस्तुत किये गये हैं। वीरक्वना का यह संवाद उसकी व्यथा तथा मैयराब की क्रूरता को प्रतिपादित करने में सर्वथा समर्थ है-

कुल्येव दीर्घाकृति कुण्डमत्र
दन्दह्यमानं ज्वलितेन्धनेन।

---

1. श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम् सर्ग 12, पद्य 38, पृ० 79
2. वही सर्ग 14, पद्य 14, पृ० 98
3. वही सर्ग 14, पद्य 17, पृ० 99

वाष्पावलिं मद्रतवाष्पतुल्या–
मुन्मुञ्चति क्रूरहृदः प्रतीकम्।।[1]

इस प्रसंग में मैयराब–हनुमान् संवाद के उत्तर–प्रत्युत्तर कवि की सशक्त भाषा के सुन्दर प्रमाण है। मैयराब तथा हनुमान् का निम्नोल्लिखित संवाद उल्लेखनीय है–

मैयराब –

क. अपेहि तत्त्वं प्रददामि तेऽहं
भिक्षामसूनां नहि मे प्रियास्ते।
पात्रं दयाया असि नैव तिर्यग्–
योनिं गता मे प्रतिरोधमर्हाः।।[2]

हनुमान् –

ख. सञ्जातमात्रोऽपि सहस्त्ररश्मे–
रास्वादनायोत्प्लुत आसमद्धा।
फलाभिसन्धिं प्रविधाय तस्मिन्
शौर्यस्य गाथां विवृणोति मे तत्।।[3]

कवि ने कथानक के तीव्र घटनाक्रम में संवादों के समावेश से पात्रों की चरित्रगत विशेषताओं को उद्घाटित करने का कार्य किया है। इन संवादों के माध्यम से विभिन्न पात्र अपनी मनोवृत्तियों, व्यथाओं, क्रियाओं एवं शक्ति–बल आदि को प्रस्तुत करने में सफल हुए हैं। घटना–बहुल कृति में पात्रों की विविधता और बहुलता को सशक्त स्वरूप देने में ये संवाद बहुत सहायक सिद्ध हुए हैं। पाताल में राम को ढूंढने का कठिन कार्य कवि ने बड़ी कुशलता से वीरक्वना–हनुमान् संवाद के माध्यम से सिद्ध किया है। पारस्परिक सहायता से दोनों की समस्या का समाधान कर दिया गया है। हनुमान् मैयराब का नाश कर राम तक पहुंच गये, वैयविग नृशंस मामा के हाथों बच गया और क्रूरता का प्रतीक दुष्ट मैयराब हनुमान् के हाथों मारा गया, इन सभी घटनाओं का विवरण संवाद–शैली में अत्यन्त रोचक व प्रभावपूर्ण बन पड़ा है।

हनुमान्–गोपुत्र संवाद दानवनाश के लिये प्रयुक्त युक्ति का प्रभावपूर्ण अंकन करता है। इसमें कवि के रामभक्त हनुमान् के नीतिनिपुण पक्ष को निरूपित किया गया है। उसकी शक्ति और नीति का अपूर्व सामंजस्य इस संवाद की सशक्त पीठिका है। ऋषि गोपुत्र की सरलता तथा सहज विश्वासवृति भी इस संवाद में स्पष्ट परिलक्षित है। रावण की आत्मा को ग्रहण कर उसके प्रणाश

1. श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम् सर्ग 14, पद्य 20, पृ० 99
2. वही सर्ग 14, पद्य 55, पृ० 106
3. वही सर्ग 14, पद्य 59, पृ० 106

का पूरा घटनाक्रम इस संवाद के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। यह संवाद कवि की कल्पना तथा कौतुकवृत्ति को भी इंगित करता है।

राम कार्यसिद्धि के लिये हनुमान् की तत्परता उसे उचित-अनुचित सब करने के लिये प्रेरित करती है। अतः रावण-प्रणाश हेतु वह राम की निन्दा करने में भी नहीं हिचकिचाता। एक नीतिज्ञ सेवक का युक्ति-प्रयोग सफलता का सम्बल होता है। इसी नीति का पालन करते हुए हनुमान् ऋषि गोपुत्र का विश्वास जीतने में सफल हो जाता है। उसके संवाद का शब्दविन्यास ही उसकी नीतिज्ञता, व युक्ति-निपुणता को प्रस्तुत कर देता है-

तेन मान्यवर! विप्रकृतोऽस्मि
धिक्कृतोऽस्मि बहु चापकृतोऽस्मि।
न क्षणं क्षणमपि प्रतिपन्न-
स्त्वां शरण्यमहमस्म्युपपन्नः।।[1]

गोपुत्र का विश्वास जीतने के लिये राम की निन्दा व रावणसेवा को आतुर हनुमान् के वाग्वैभव में कवि का ही वाक्यविन्यास, भावप्रवणता तथा वाणीस्फुटता सुतरां परिलक्षित है:-

तद् भवान्नयतु माममतिशीघ्रं
रावणं भवतु येन शुभं मे।
तादृशस्य गुणगृह्यजनस्य
सेवया सुकृतिनोऽद्य कृती स्याम्।।[2]

गोपुत्र की सरलता उसके वचनों में स्पष्ट झलकती है। आश्रमवासी ऋषि की सात्त्विक वृत्ति छल-कपट, दाव-पेंच, युक्ति-प्रयुक्ति की नीति से सर्वथा अनभिज्ञ होती है। इसका ज्वलन्त उदाहरण कवि ने गोपुत्र के माध्यम से प्रस्तुत किया है। सरल हृदय ऋषि हनुमान् की चतुराई को नहीं समझ सका। उसकी बातों पर पूर्ण विश्वास कर, अपने शिष्य रावण की उदारता व सेवकप्रियता का गुणगान करते हुए, हनुमान् को रावणसेवा के लिये प्ररित करने वाले उसके वचन उल्लेखनीय हैं-

माननामयमवैति विधातु-
मात्मनीननिजभक्तजनस्य।
रामतस्त्वधिगतो ह्यवमानः
साम्प्रतं भवतु ते बहुमानः।।[3]

---

1. श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम् सर्ग 17, पद्य 15, पृ० 130
2. वही सर्ग 17, पद्य 20, पृ० 131
3. वही सर्ग 17, पद्य 27, पृ० 133

संवाद के माध्यम से हनुमान् का व्यवहार–कुशल व्यक्तित्व भी प्रकाशित किया गया है। चिन्तित ऋषि गोपुत्र को विनम्र, शालीन, स्नेह व आदरयुक्त वचनों से अभिभूत कर, उसका पूर्ण विश्वास जीत लेना इस संवाद की रोचक कड़ी है–

केयमस्ति ऋषिवर्य! तवार्तिः
सेवकौ तव समीप इहावाम्।
ब्रूहि तन्मनसि या तव चिन्ता
मा स्म भो! व्यथितमानस आस्स्व।।[1]

कवि की कतिपय सुन्दर सूक्तियों की स्थली भी ये संवाद हैं। ये सूक्तियां संवादों को और सशक्त बनाती हैं। उदाहरणार्थः–

बुद्धिमानमपि विवेकयुतोऽपि
शास्त्रशीलनपरोऽपि बुधोऽपि।
क्रोधमार्गमभितः प्रतिपन्नो
नो विचिन्तयति कार्यमकार्यम्।।[2]

कवि के संवादों की समीक्षा के प्रसंग में यह उल्लेखनीय है कि जहां पात्रों की परस्पर सामान्य बातचीत को उसने अपने काव्य में प्रस्तुत किया है, एक पात्र अपनी बात कहता है और दूसरा उसके पक्ष–विपक्ष में अपना मत प्रस्तुत करता है, वहां यह बातचीत कतिपय प्रसंगों में प्रश्नोत्तर का रूप भी ले लेती है। एक प्रश्न करता जाता है तो दूसरा उसका उत्तर देता चलता है। इन प्रश्नोत्तरों की लड़ियां अनेक स्थानों पर बिखरी पड़ी हैं।

'श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम्' का हनुमान्–सुवर्णमत्स्या प्रसंग इसका प्रभावी उदाहरण है। इसमें हनुमान् का सुवर्णमत्स्या से प्रश्न एक पद्य में निबद्ध है और सुवर्णमत्स्या का उत्तर दूसरे पद्य में। उल्लेखनीय है कि सुवर्णमत्स्या के उत्तर में उसकी चारित्रिक विशेषता भी उजागर हुई है। उसमें एक प्रसिद्ध प्रचलित प्राचीन उक्ति को भी संग्रथित किया गया है, जिससे वह और अधिक प्रभावी हो गया है–

क. कपिर्हनूमानुपसेदिवांस्तां
पप्रच्छ कस्माद् हरणं शिलानाम्।
तन्वन्ति मत्स्याः किमु तत्र हेतुः
प्रयोजनं वा किमु तत्र तेषाम्।।[3]

1. श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम् सर्ग 17, पद्य 47, पृ० 136
2. वही सर्ग 17, पद्य 34, पृ० 134
3. वही सर्ग 12, पद्य 19, पृ० 76

ख. एते मदादेशवशात्प्रवृत्ताः
पितुर्ममादेशवशादहं च।
कुर्वे तथाऽहं स यथाऽऽदिशन्माम्
'आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया।।'[1]

उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि 'श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम्' में नाटकीयता तथा सवांदात्मकता ने कृति की रोचकता और प्रभावोत्पादकता की वृद्धि में विशिष्ट भूमिका निभायी है। इन तत्त्वों द्वारा भाषा में गति और भावों में प्रवाह का सशक्त समावेश हुआ है। आधुनिक संस्कृत वाङ्मय में गौरवास्पद स्थान ग्रहण करने वाले 'श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम्' में नाटकीयता एवं संवादात्मकता ने प्रांजल प्रवाहमयी एवं कोमल भाषा को सशक्त, सजीव एवं कमनीय बना दिया है। विविध स्थितियों, परिस्थितियों की अभिव्यक्ति में भाषा को अर्थपूर्ण, तथा शैली को हृदयावर्जक बनाया है। इन्हीं तत्त्वों के माध्यम से सजीव उल्लास और सौन्दर्य सरल भाषा में गुम्फित हो पायें हैं तथा शेफालिका के फूलों की भांति सर्वत्र बिखरी सुकुमारता काव्यगत सौन्दर्य से ओत-प्रोत दृष्टिगोचर होती है।

• • •

1. श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम् सर्ग 12, पद्य 20, पृ० 76

21

श्रीरामकीर्तिमहाकाव्ये कविप्रवरस्य म.म.प्रो० सत्यव्रतशास्त्रिण: सूक्तिप्रयोगवैशिष्ट्यम्

गोपबन्धु मिश्रः

भारतधरा यथा धराधरेन्द्रधारिणी सती अखिलधरित्र्याम् अद्वितीयंतां तनुते, तथैव अगणितेषु दृश्यश्रव्यान्यतरान्तर्भूतेषु नाटकप्रकरणादि-महाकाव्य-कथाख्यायिकादिषु विद्यमानेष्वपि महर्षिवाल्मीकिप्रणीतं 'रामायणं' सर्वाण्यतिशय्य विराजतेतराम्। एतस्य आदिकाव्यत्वं मुख्यत्वम् उपजीव्यत्वं च सकललोकविदितमेव। किं च तद्विषयकाण्यसंख्यानि आभाणकानि एतस्य विलक्षणत्वमाख्यान्ति एव, तद्यथा-

यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।
तावद्रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति।।

आङ्ग्लभाषया थाइभाषया भाषानुवादेन सह आभाणकस्यास्योल्लेखपूर्वकं यद् विलक्षणं महाकाव्यं राराजते तदस्ति थाइलैंडदेशगतरामकथामाश्रित्य महमहोपाध्यायप्रोध सत्यव्रतशास्त्रिमहोदयैः प्रणीतं "श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम्"।

महाकाव्यप्रणयने या काचन पारम्परिकी शैली परिदृश्यते संस्कृतवाङ्मयक्षेत्रे। तत्र सरला प्रौढा चेति अथवा सुकुमारी कठिना वेति शैली द्विविधा अस्ति। प्रयोगप्रवाहदृशा उभयोरपि याथार्थ्यं सुतरां तन्यते एव यथाविषयं यथावर्णनं चेति तच्छैलीप्रयोगे हेतुमत्त्वं संदृश्यते। श्रीरामकीर्तिमहाकाव्ये महाकविना आचार्यशास्त्रिमहोदयेन सहजामेव रचनाशैलीमाश्रित्य व्यरचि काव्यमेतत्। किं च काव्यरचनाप्रसङ्गे आत्मनिवेदने लिखितमस्ति तेन "वर्षधारेव पद्यधाराऽत्र स्वयमेव प्रवृत्ता"। तेन नात्रान्यः प्रयोजको हेतुर्ऋतेऽन्तःप्रेरणायाः। महाकवेः शास्त्रिवर्यस्य सहजा अन्तःप्रेरणा वार्णिकछन्दोभिः काव्यमिदं विरचितुं तम् अवश्यमेव प्रेरितवती आसीद् इति स्वयमेव सरसं सहजं च काव्यमेतत् प्रमाणभूतम् अस्ति। लेखेऽस्मिन् कवेः विशिष्टं काव्यगतसूक्तिप्रयोगपाटवं संक्षेपेण समीक्षितुं प्रयत्यते।

व्यवहारविद्

काव्यप्रयोजनं विवृण्वता आचार्यमम्मटभट्टेन काव्यप्रकाशे उक्तमस्ति-

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये।
सद्यःपरनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे।।

तत्र च 'लोकव्यवहारविद्' इति व्याख्याय आचार्यो ब्रूते यत् 'राजादिगतोचिताचारपरिज्ञानम्'[1] इति। सम्पूर्णेऽपि श्रीरामकीर्तिमहाकाव्ये लोकजीवने अत्यन्तम् उपयोगिनां व्यावहाराणां परिज्ञानं कृतं विद्यते महाकविना। तेषु कतिपयाः व्यवहारशिक्षाः अत्र प्रदश्र्यन्ते।

अ. प्रकृतेः स्वभावात् शिक्षणम्

भूमिः सर्वथा धैर्यं शिक्षयति। तद्वद् भूमेः सुता सीता लङ्कायां प्रभूतं कष्टं सोढ्वाऽपि अवश्यमेव धैर्यं धृत्वा पतिसङ्गमाशया प्राणत्यागं नैव कुर्याद् इति हनुमतः विश्वासः–

कष्टं श्रिताऽपि स्वपतेर्वियुक्ताऽप्येषा न जह्यात् पतिसङ्गमाशाम्।
भूमेः सुता भूमिवदेव तस्या धैर्यं भवेद् धैर्यधना मता सा।।[2]

यद्यपि वृक्षशाखा प्रचण्डे वायौ पतति। किन्तु गिरिशृङ्खला तदा धैर्येण तिष्ठति। अतः गिरिशृङ्खला इव सीता पूर्ववत् धैर्यं धरेदिति हनुमतो विश्वासः–

न वृक्षशाखेव पतेत् प्रचण्डे वायौ स्थिरा स्याद् गिरिशृङ्खलेव।[3]

योषिदिव काचित् लता स्वयमेव कमपि पुरुषमिव निकटवर्तिनं तरुम् आश्रयते। काचित् नदी समुद्रम् अभिलक्ष्य वहति। तथैव कस्याश्चित् स्त्रियाः पुरुषं प्रति आकर्षणं सहजमेव भवति। यथा काव्येऽस्मिन् असुर्याः बेञ्जकय्याः कपिना हनुमता सङ्गमोऽपि सहजः एव–

यदि याति लता स्वयमेव तरुं यदि याति नदी च तथा जलधिम्।
नहि तत्र विचित्रमिति प्रकटं प्रकृतिः पुरुषं स्वयमेव यतः।।[4]

आ. धीराणां लक्षणानि वृत्तयश्च

काव्यकथोपस्थापनव्याजेन कविः धीराणां मनस्विनां सुशीलानां लक्षणानि वृत्तीश्च उपन्यस्यति। तेन सहृदयः पाठकः स्वजीवने तादृशलक्षणमाश्रित्य तत्तद्वृत्तीश्च आचर्य स्वजीवनस्य सार्थक्यं पुरस्कुर्यादिति कवेः तत्र अभिप्रायो भवति। काव्येऽस्मिन्नपि कविः तादृशलक्षणादिकथनेन स्वकविधर्मं सुतरां परिपालयति।

अर्थान्तरन्यासालङ्कारप्रस्तुतिमुखेन कविः कथयति यत् सागरे सेतुनिर्माणार्थं नियुक्तौ हनुमान् नीलफद् च कार्ये निष्ठया प्रवृत्तौ। यतो हि सुशीलाः जनाः सद्वृत्तिमन्तः भवन्ति–

---

1. काव्यप्रकाशः, प्रथमोल्लासः
2. श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम् (राकीर्तिम) 10/12
3. राकीर्तिम 10/13
4. राकीर्तिम 10/28

तमुक्त्वैवमाशु प्रवीणौ स्वकार्यें विहायान्यकार्यं समासज्जतां तौ।
सुशीलाश्च सद्वृत्तयश्च स्युरेव नियोज्या नियोगे स्वके सावधानाः।।[1]

धीराः विघ्नैः प्रतिहन्यमानाः अपि स्वसङ्कल्पितं कार्यं न जहति–

प्रलोभिता भूरि सुखैषणाभिः कष्टैरनिष्टैः परिवेष्टिता वा।
अङ्गीकृतान्नैव कथञ्चनापि धीराः स्वकार्याद् विरता भवन्ति।।[2]

कवेरेतदुक्तिः भर्तृहरेः वचनेन तुलयितुं शक्यते–

प्रारभ्यते न खलु विघ्नभयेन नीचैःप्रारभ्य विघ्नविहता विरमन्ति मध्याः।
विघ्नैः पुनः पुनरपि प्रतिहन्यमानाः प्रारब्धमुत्तमगुणा न परित्यजन्ति।।[3]

पवनपुत्रस्य हनुमतः स्वकार्ये सधैर्यं प्रवृत्तिरपि तेनैव कारणेन प्रशंसिता अस्ति काव्येऽस्मिन्–

सङ्कल्पितार्थं हृदि सम्प्रधार्य कष्टैरनिष्टैरपि वेष्टिताङ्गाः।
मनस्विनो धैर्यपराः स्वकार्यं संसाधयन्त्येव तदेकचित्ताः।।[4]

इ. पुत्रस्य प्रियता। तस्य कर्तव्यं च

संसारे पुत्रः प्रियो भवति। तस्य च विरहोऽसह्यो भवतीति लोकव्यवहारः प्रस्तूयतेऽस्मिन् काव्ये।

वैयविगाख्यं पुत्रं मैयराबतः रक्षितुकामा वैयविगस्य माता हनुमन्तं यत् प्रार्थयते, तस्य पोषणाय कविरित्थमत्र ब्रवीति–

कृते तनूजस्य। सुविह्वलाऽहं सुतः प्रियः सर्वजनस्य नूनम्।।[5]

तथा च तस्याः मातुः मुखेन पुत्रशोकस्य असहनीयतां दर्शयति कविः–

प्राणा यदा संशयमापतेयुः सुतस्य का नाम तदास्ति माता।
दीर्येत यस्या हृदयं न भद्र! पुत्रस्य शोको ह्यविषय एव।।[6]

दशाननस्य स्वभ्रातृपत्न्याः जातः पुत्रः 'वैणासुरः' दशाननस्य मृत्योः अनन्तरं तत्पितुः हन्तुः श्रीरामतः प्रतिशोधाकाङ्क्षी भवति। किं च तदेव स्वकर्तव्यमिति दर्शयति–

यद्यस्मि पुत्रो दशकन्धरस्यान्यायो मयासौ परिमार्जनीयः।
स एव पुत्रो महितः पृथिव्यां यशशास्ति ताताहितकारिलोकम्।।[7]

---

1. राकीर्तिम 11/6
2. राकीर्तिम 12/13
3. भर्तृहरिः, नीतिशतकम्, 27
4. राकीर्तिम 13/24
5. राकीर्तिम 14/16
6. राकीर्तिम 14/17
7. राकीर्तिम 19/7

ई. शिष्टप्रयुक्ताचाराणाम् उक्त्यन्तरेण प्रयोगः

काव्येऽस्मिन् कतिपयै पूर्वैः कविभिः प्रयुक्तानि किञ्च विविधलोकप्रयोगविधिना ज्ञपितानि लोकाचारपरिज्ञानसाधकानि वाक्यानि उक्त्यन्तरैः प्रयुक्तानि सन्ति। तेन कवेः चित्ताकाशे पूर्वाचार्याणां कृते आदरभावः स्पष्टः भवति। किं च तत्तदुक्तीनां (पूर्वाचार्यप्रथितानां) देशकालादिनिरपेक्षतया सार्थक्यं सुतरां प्रतिपादयितुम् आचार्यप्रवरः सत्यव्रतशास्त्रिवर्यः प्रवर्तते इत्यपि प्रमाणितं भवति। तद् यथा–

(1) पौरुषस्य महत्ता–

तिर्यग्योनौ उत्पन्नस्य हनुमतः वैशिष्ट्यं तस्य पुरुषकारतः एव अवगन्तव्यम्। न तु तस्य जन्मस्थानपरिगणनात्–

जातोऽस्म्यहं दैववशेन तिर्यग्योनौ ममात्रास्ति वशो न मूढ।
जन्मादि दैवेऽधि न पौरुषं तु तन्मय्यधीत्येव गृहाण तावत्।।[1]

एतद् वचनं महाभारते कर्णस्य उक्तिविशेषण सम्बन्धं स्थापयतीति वक्तुं शक्यते–

'दैवायत्तं कुले जन्म मदायत्तं च पौरुषम्' इति।

(2) कः पन्थाः–

यक्षेण 'कः पन्था' इति प्रश्ने पृष्टे महाभारते युधिष्ठिरेण प्रदत्तम्

"महाजनो येन गतः स पन्थाः"

इतीदं प्रसिद्धम् उत्तरं साक्षाद् उद्धृत्य सेतुबन्धप्रसङ्गे ज्येष्ठयोः सैन्याधिपयोः नीलहनुमतोः विवादस्य अनौचित्यं प्रदर्शयति कविः। तदित्थम्–

सैन्याधिपावेव परस्परेण यदा विवादे कुरुतो मनः स्वम्।
तदाऽन्यसैन्यानि न किं प्रकुर्युर्महाजनो येन गतः स पन्थाः।।[2]

(3) गुरूणाम् आज्ञाया महत्त्वम्

'आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीयाः' इति प्रसिद्धां पङ्क्तिं साक्षाद् उद्धरणपूर्वकं दशाननस्य कन्यायाः सुवर्णमत्स्याद्वारा पित्राज्ञानुपालनस्य औचित्यं प्रादर्शि कविना–

एते मदादेशवशात् प्रवृत्ताः पितुर्ममादेशवशादहं च।
कुर्वे तथाऽहं स यथाऽऽदिशन् माम् आज्ञा गुरूणां ह्यविचारणीया।।[3]

---

1. राकीर्तिम 14/57
2. राकीर्तिम 11/19
3. राकीर्तिम 12/20

(4) आचारहीनता

"आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः" इति प्रसिद्धायाः पङ्क्तेः उद्धरणपुरःसरं कविः हनुमन्मुखेन रावणस्य सीतापहरणकर्मणः निन्द्यतां दर्शयति–

अकीर्तिरेतेन जगत्त्रयेऽस्यच्छलेन दारान् हरतोऽपरस्य।
वेदार्थविज्ञोऽप्यपवित्र एष 'आचारहीनं न पुनन्ति वेदाः।।[1]

(5) सौम्याकृतेः प्रत्ययजनकता

वीरक्वना हनुमतः सौम्याम् आकृतिं दृष्ट्वा तस्मिन् विश्वसिति इत्यत्र सौम्याकृतेः सहजतया विश्वासजनकता एव हेतुरिति कविः दर्शयति–

सौम्यां कपेराकृतिमाकलय्य विश्वासमस्मिन् समुपेयुषी सा।
असंस्तुताऽप्याह वचस्तमेवं सौम्याकृतिः प्रत्ययमादधाति।।[2]

अत्र महाकवेः कालिदासस्य पार्वत्याः रूपवर्णनप्रसङ्गे ब्रह्मचारिमुखेन यदधोलिखितं वदति तदत्र प्रेरणास्रोतः इव विभाति–

यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद् वचः।
तथापि ते शीलमुदारदर्शने तपस्विनामप्युपदेशतां गतम्।।[3]

(6) हिन्दी-सूक्तयः

"हाथ कंगन को आरसी क्या" इति हिन्दीभाषायां प्रथितां सूक्तिम् अनुकुर्वतीव काव्येऽस्मिन् हनुमतः इयम् उक्तिः (श्लोकस्य तृतीयचतुर्थचरणयोः) प्रवर्तते–

अलं बहूक्तैरथवाऽत्र शक्तिं नियोधने त्वं मम विद्धि साक्षात्।
हस्ते स्थिते नैव हि कङ्कणे स्यात् कस्याऽप्यपेक्षा मुकुरस्य तावत्।।[4]

पतिवियोगात् परं सुतवियोगः 'क्षते क्षारः' इव इत्युक्त्वा अत्र कविः अत्र हिन्दी-सूक्तिं 'जले में नमक' इति पोषयन्निव प्रतीयते–

भर्त्रा वियुक्ताऽसि ततोऽपि ते स्यात् सुतेन वत्से! यदि विप्रयोगः।
भवेदकस्मादतितीव्र एष क्षते तव क्षार इव प्रहारः।।[5]

इत्थं काव्येऽस्मिन् कविप्रवरस्य सूक्तिसम्बद्धप्रयोगाणां वैशिष्ट्ये बहुधा विद्यमानेऽपि अत्र केवलं स्थालीपुलाकन्यायेन संक्षेपेण किञ्चित् प्रस्तुतं विद्यते।

---

1. राकीर्तिम 12/32
2. राकीर्तिम 14/15
3. कुमारसम्भवम् 5/36
4. राकीर्तिम 14/60
5. राकीर्तिम 21/50

22

चरन् वै मधु विन्दति : एक समीक्षात्मक अध्ययन

अनीता शर्मा

प्रो० सत्यव्रत शास्त्री का जन्म 29 सितम्बर 1930 को हुआ। अपने पितृश्री (स्व.) पं. चारुदेव शास्त्री से प्रारम्भिक शिक्षा-दीक्षा ग्रहण कर संस्कृत (प्रतिष्ठा) में स्नातक एवं स्नातकोत्तर कर काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में 'भर्तृहरिकृत वाक्यपदीय में दिक्कालमीमांसा' विषय पर पी-एच. डी. की उपाधि प्राप्त की। 1955 में इन्होंने दिल्ली विश्वविद्यालय के संस्कृत विभाग से अध्यापन कार्य प्रारम्भ किया। इन्हें विश्व के तीन महाद्वीपों के छः विश्वविद्यालयों, चुलालौङ्कोर्न विश्वविद्यालय तथा सिल्पकार्न विश्वविद्यालय-बैंकाक, उत्तरपूर्वी बौद्ध विश्वविद्यालय-नौङ्खाई, थाइलैण्ड, कार्ल एरहार्ड विश्वविद्यालय ट्यूबिंगन-जर्मनी, कैथेलिक विश्वविद्यालय ल्यूबेन-बैल्जियम एवम् एल्बर्टा विश्वविद्यालय, एडमण्टन-कनाडा में अभ्यागत आचार्य के रूप में अध्यापन का गौरव प्राप्त है। प्रो० सत्यव्रत शास्त्री ने तीस ग्रन्थों की रचना की है। इनकी मौलिक कृतियों में तीन महाकाव्य, तीन खण्डकाव्य, एक प्रबन्ध काव्य तथा दो खण्डों का पत्रकाव्य है जिसकी पद्यसंख्या षट्सहस्र से भी अधिक है। संस्कृत में इदम्प्रथम 'डायरी' विषयक इनकी कृति 'दिने-दिने याति मदीयजीवितम्' शीर्षक से प्रकाशित हुई है। प्रो० सत्यव्रत शास्त्री ने देश-विदेश के 101 से भी अधिक पुरस्कार/ सम्मान प्राप्त किए है जिनमें भारत सरकार द्वारा प्रदत्त पद्मश्री, पद्मभूषण, भारतीय ज्ञानपीठ, थाई नरेश प्रदत्त The Most Admirable Order of Direkgunaphorn अलंकरण सम्मिलित हैं।

प्रो० सत्यव्रत शास्त्री की यात्राओं का क्रम सन् 1975 में प्रारम्भ हुआ, जब वे इटली के टेरीनो नगर में समायोजित द्वितीय विश्व संस्कृत सम्मेलन में सहभागिता हेतु सम्मिलित हुए। तदनन्तर विदेश यात्राएं उनके अकादमिक जीवन का अनवरत भाग बन गई। कभी किसी सम्मेलन में अथवा चर्चा गोष्ठी में भाग लेने के लिए, कभी किसी योजना के परामर्शदाता समिति के सदस्य के रूप में, कभी भाषणों के लिए, कभी मानद उपाधि प्राप्त करने के लिए, कभी अभ्यागत आचार्य के पद पर कार्य करने के लिए बाहर के देशों की यात्राओं ने लेखक को उन देशों को जानने-समझने का और उनमें समाहित संस्कृत और भारतीय संस्कृति के अवशेषों को खोजने का सुअवसर प्रदान किया। फलतः उनकी ये यात्राएँ विशुद्ध सांस्कृतिक यात्राएँ बन गई। विविध देशों

की संस्कृति को प्रत्यक्ष रूप से जानने के साथ भारतीय संस्कृति के साथ उनके साम्य को जानने का जो अवसर उन्हें मिला उसका उन्होंने पूर्णत: सदुपयोग किया। इस प्रक्रिया में भारत लौटकर उस विदेश यात्रा के वृतान्त को वे लिखते गए, यद्यपि बहुत बार यह नहीं भी हो पाया।[1] कृति में डायरी लेखन की भाँति तिथियों के अनुसार यात्राओं का विवरण दिया गया है परन्तु इन्हें केवल डायरी नहीं कहा जा सकता क्योंकि इनमें तत्तद् देशों की सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक धरोहर को खोज कर उसमें भारतीय सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक धरोहर के अन्वेषण का महनीय कार्य हुआ है। प्रतिक्षण नूतन अन्वेषण की नैसर्गिक प्रवृत्ति के कारण, लेखककृत यात्रा वृतान्त उन उन देशों के रीति रिवाज़ों, प्रथाओं, लोकमान्यताओं, स्थापत्य, शिल्प, धार्मिक आस्थाओं, अनुष्ठानों एवं इतिहास आदि को पाठक के सम्मुख अनायास ही उद्घाटित करते हैं।

अमेरीका यात्रा
(2010)

लेखक तृतीय अन्तर्राष्ट्रीय रामायण सम्मेलन में बीजभाषण प्रस्तुत करने के लिए डि. काल्ब, शिकागो गए। सम्मेलन में लेखक प्रदत्त बीजभाषण भारतीय पाठकवृन्द को भी चमत्कृत करने वाला हो सकता है, जहाँ वे लिखे हुए भाषण के स्थान पर एक नए ही विषय पर बोलते हुए कहते हैं कि राम कथा का सम्पूर्ण दक्षिण और दक्षिणपूर्व एशिया में प्रचार है। एक पाश्चात्य विद्वान् ने इसके विषय में कहा है कि '**यदि सम्पूर्ण एशिया की अपनी कहने को कोई कथा है तो वह राम कथा है।**'[2] यह राम कथा भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न नाम से जानी है यथा-

इण्डोनेशिया-रामायण ककविन् (रामायण काव्य)

म्यन्मा (बर्मा)-राम थग्यन् अथवा राम वत्थु

थाइलैण्ड-रामकियन्

कम्बोडिया-रामकेर् (ति)

लाओस-फ्रलक् फ्रलाम

मलेशिया-हिकायत सरी राम

फिलीपीन-महाराजा लावण

यहाँ कथा भेद पर भी लेखक पर्याप्त चर्चा करते हैं।[3]

अमेरीका में ही आर्यसमाज में दिए अपने प्रवचन में '**आप**' शब्द की व्याख्या करते हुए वे

---

1. चरन् वै मधु विन्दति, चलता गया मधु मिलता गया, विदेश के सांस्कृतिक अन्वेषण की गाथा, सत्यव्रत शास्त्री, विजया बुक्स, दिल्ली, 2013, पुरोवाक्।
2. वही, पृष्ठ 20, 21
3. वही, पृष्ठ 107-110, 114, 116

श्रोताओं को बताते हैं कि यह संस्कृत का 'आत्मन्' ही है, यही परिवर्तित हो 'आप' बना–आत्म > आत्प > आप्प > आप। किसी को आप कहने का अर्थ 'आप हमारी आत्मा हैं' है। यदि यह भाव हृदयाविष्ट हो तो कौन पराया है? अपनेपन को सम्पूर्ण विश्व में प्रसारित करने का प्रयास भारतीय मनीषियों ने चिरकाल से किया है-**'यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्'**। डॉ० सत्यव्रत भी उसी परम्परा का निर्वहण अद्यावधि विदेशों में करते आ रहे हैं।

अमेरिका में ही नार्दर्न इलिनॉयस विश्वविद्यालय के छात्र रघु श्रीनिवास शर्मा एवं लंका वेंकट सुधीर कुमार शर्मा द्वारा परम्परागत पद्धति से किया गया विष्णुसहस्रनाम का पाठ भी यहाँ उल्लेखनीय है, जिसका शुद्ध उच्चारण भारत से दूर भारतीयों की भरतीयता का उद्बोधक है। दक्षिणात्य पद्धति से किए गए उस पाठ से लेखक को लगा मानो दक्षिण भारत ही वहाँ आ गया है।[1]

अमेरीका के एक अद्भुतालय में भी प्रो० सत्यव्रत एक प़ानदान पर अलग-अलग दिशाओं की आकृतियों का रामायण से सम्बन्ध खोज निकालते हैं।[2]

अमेरीका में गोस्वामी दम्पत्ति (डॉ० उमेश गोस्वामी एवं डॉ. पन्ना गोस्वामी) के स्नेह से अभिभूत प्रो० सत्यव्रत संकल्प लेते हैं कि अपनी अगली पुस्तक वे अपने इन प्रियबन्धुओं को समर्पित करेंगे। 26 सितम्बर 2010 में लिए इस संकल्प की पूर्ति 2013 में प्रकाशित अपनी इस कृति के उन्हें सस्नेह समर्पण से करते हैं।[3]

इटली यात्रा
(1975)

सन् 1975 में टोरीनो में होने वाले द्वितीय विश्व संस्कृत सम्मेलन में भारतीय प्रतिनिधि मण्डल के सदस्य के रूप में जाने से प्रो० सत्यव्रत की विदेश यात्राओं का श्रीगणेश हुआ था। 1982 में पुन: इतालवी हिन्दी शब्द कोश के निर्माण के प्रसंग में इटली जाना हुआ। टोरीनो के भारतीय विद्या संस्थान द्वारा वाल्मीकि रामायण के उत्तरी भारत संस्करण के पुनः प्रकाशन का कार्य प्रारम्भ किया गया था। मूलतः आज से लगभग सौ वर्ष पूर्व, इटली के आचार्य गोरेसियो ने छः खण्डों में वाल्मीकि रामायण प्रकाशित कर विस्तृत भूमिका सहित छः खण्डों में उसका इतालवी भाषा में अनुवाद किया था। अनेक वर्षों से दुर्लभ इस ग्रन्थ के पुनः प्रकाशन को प्रकाशित कर लेखक भारतीय पाठकवृन्द को अद्भुत जानकारी देते हैं।[4] ऐसी जानकारियाँ ही प्रो० सत्यव्रत के यात्रावृतान्तों की भारतीय संस्कृत अनुरागियों को अमूल्य देन हैं।

---

1. वही, पृष्ठ 27, 28
2. वही, पृष्ठ 29, 30
3. वही, पृष्ठ 37
4. वही, पृष्ठ 38, 39

लेखक हमें इटली में भारतप्रेमी पिनुच्चा से मिलवाते हैं,[1] जिसने अपने घर के हर कमरे में गंगाजल और वाराणसी के अस्सी घाट की थोड़ी सी मिट्टी रखी हुई है। ऐसी अभारतीय की भारतीयता, भारत में अनेकों भारतीयों की भारतीयता पर चिन्तन के लिए अवश्य प्रेरित करती है। इस यात्रावृतान्त में वेनिस का वर्णन भी ज्ञानवर्धक है।[2]

इण्डोनेशिया यात्रा
(1994-95, 1999, 2010)

लेखक ने इण्डोनेशिया की तीन बार की गई यात्राओं के वृतान्तों को लेखनीबद्ध किया है। विशेषता यह है कि प्रत्येक यात्रा वृतान्त में कहीं किसी वर्णन की पुनरावृत्ति नहीं होती। एक ही देश की हर बार की यात्रा नूतनता समाहित किए हुए है।

प्रो० सत्यव्रत की 1994 की इण्डोनेशिया यात्रा का उद्देश्य अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में सम्मिलित होना था। वहाँ एयरपोर्ट से गेस्ट हाउस तक के मार्ग में भव्य बाजारों और गगनचुम्बी इमारतों. पर लिखे हुए संस्कृत नामों ने प्रो० सत्यव्रत को चमत्कृत कर दिया।[3] लेखक के इण्डोनेशिया से सम्बद्ध यात्रावृतान्त इण्डोनेशिया और भारत के सांस्कृतिक सामीप्य पर ऐसा प्रकाश डालते हैं कि इस भूभाग को न देखे हुए पाठक के सम्मुख अकल्पनीय तथ्य उद्घाटित होते चले जाते हैं, जैसे जकार्ता का 'महाभारतीय' स्वाधीनता स्मारक, जो कि आठ घोड़ों वाले रथ पर आरूढ़ धनुर्धारी अर्जुन और सारथि श्रीकृष्ण को प्रदर्शित करता है।[4] जोग्जाकार्ता के **'प्राम्बानान्'** मन्दिरों की वास्तुकला और शिल्पकौशल के वर्णन में ऐसा प्रतीत होता है मानो किन्हीं भारतीय मन्दिरों का ही वर्णन हो रहा है। शिव मन्दिर के सम्मुख नन्दी, ब्रह्मा मन्दिर के सम्मुख हंस और विष्णु के सम्मुख गरुड़ जोग्जाकार्ता में चमत्कृत कर देने वाले लगते हैं। 'प्राम्बनान्' मन्दिरों में प्रत्येक पूर्णिमा की रात्रि में रामायण का अभिनय होता है जिसमें दो सौ कलाकार भाग लेते हैं जिनमें कोई भी हिन्दू नहीं होता। लेखक लिखते हैं कि वस्तुत: जोग्जाकार्ता मूल रूप में अयोध्याकर्ता है। अयोध्या शब्द ही 'योग्य' तदनन्तर 'जोग्ज' के रूप में परिवर्तित हुआ।[5]

इण्डोनेशिया के गाजाहमादा विश्वविद्यालय के विशाल सभागृह का संस्कृत नाम है 'गृह सभा प्रमाण,' जिसका अर्थ है 'प्रमाणभूत अथवा प्रामाणिक व्यक्तियों का सभागृह।' एक मुस्लिम देश में संस्कृत शब्दों का प्रयोग लेखक के लिए सुखद अनुभूति रहा। तब अपने ही देश में संस्कृत की स्थिति कहीं भीतर तक आहत कर जाती है। जहाँ भारतीय संस्कृति से अनुप्राणित दक्षिणपूर्व एशिया के देशों में सांस्कृतिक धरोहर संरक्षण की भावना विकसित हो रही है, वहीं हम भारतीयों

---

1. वही, पष्ठ 41, 42
2. वही, पृष्ठ 44
3. वही, पृष्ठ 45
4. वही, पृष्ठ 476
5. वही, पृष्ठ 48, 49

में उसके प्रति उपेक्षा और अधिक बढ़ रही है।[1] बाली द्वीप की आर्ट गैलरियों के नाम संस्कृत के ही हैं-राम आर्ट गैलरी, सप्त रत्न आर्ट सेन्टर, अभिमान आर्ट स्टूडियो इत्यादि।[2]

उबुद शहर के बाहर बहने वाली तुकाद चम्पूहन नदी में चिताभस्म प्रवाहित की जाती है एवं भारतीय मकरसंक्रान्ति जैसा **'बजु पीनारुः'** उत्सव होता है तो प्रातः 2-3 बजे से ही लोग इसमें स्नान करना प्रारम्भ कर देते हैं।[3] लेखक बाली की विवाह पद्धति का भी प्रतीकात्मक रीति रिवाजों के विवरण रहित वर्णन करते हैं।[4]

बाली की रामायण **'रामायण ककविन्'** (काव्य) की भाषा संस्कृत बहुल है एवं संस्कृत छन्दों में ही निबद्ध है। सुवदना, स्वनदेवी, अश्वप्लुत जैसे छन्दों का प्रयोग भी प्राप्त होता है। आज भी बाली में कुलक्रमागत पद्धति से ककविन् पाठ की परम्परा जीवित है।[5] बाली के प्रसिद्ध **'बसकिः'** मन्दिर एवं पूजा पद्धति का विवरण उस देश की संस्कृति को एवं भारतीय संस्कृति से उसके सामीप्य को जानने का ज्ञानप्रद माध्यम हैं, जहाँ लेखक चार प्रकार के नैवेद्य का वर्णन करते हैं।[6] इण्डोनेशिया में जहाँ आज भी हिन्दुओं में प्रातः, मध्याह्न एवं सांय काल में छः विशिष्ट श्लोकों के पाठ की (जिसे त्रिसन्ध्या कहा जाता है) प्रथा दिखती है[7] तो वहाँ अपने देश की बाल एवं युवा पीढ़ियों की अपनी प्रथाओं की अवहेलना एवं अज्ञानता कहीं न कहीं चिन्तित अवश्य कर जाती है। **'बातुर झील'** में होने वाली विशेष पूजा का विवरण, विशेषतः पशुबलि, भारत के असाम के देवी कामाख्या के मन्दिर का स्मरण करा देता है। भले ही पशुबलि देने की विधियाँ दोनों देशों में भिन्न भिन्न हैं। बाली में सरकारी हस्पताल में अंकित रामायण-महाभारत के दृश्य लेखक को आकृष्ट करते हैं एवं आश्चर्यचकित भी[8] तब उनके उद्गार थे 'हस्पतालों में भी इस प्रकार का दृश्यांकन हो सकता है, इसकी भारत में कोई कल्पना भी नहीं कर सकता। भारत के बाहर के देशों ने कितनी भारतीयता को अपने में समेट रखा है।[9]

यात्राओं में प्रो० सत्यव्रत शास्त्री ने सैंकड़ों संस्कृतनिष्ठ नाम देखे और उनकी सूची बनाई। इसमें बैंक, होटल, बस्ती, दुकानों, कार्यालयों, मीनार, चौक, भवनों, कम्पनियों, डिपार्टमेण्टल स्टोर, सैन्य मुख्यालय, विश्वविद्यालय, टैक्सी सहकारी कम्पनी, फल इत्यादि संस्कृत-मूलक शब्दों को लेखक उदाहरण रूप में प्रस्तुत करते हैं।[10] जैसे-

1. वही, पृष्ठ 51
2. वही, पृष्ठ 53
3. वही, पृष्ठ 54
4. वही, पृष्ठ 57
5. वही
6. वही, पृष्ठ 59
7. वही पृष्ठ 607
8. वही, पृष्ठ 61-63
9. वही, पृष्ठ 64
10. वही, पृष्ठ 66, 67, 80, 83, 84, 87, 88, 89, 93-99

होटल मू लिअ (संस्कृत मूल्य)

मदुर आर्ट शॉप < मधुर आर्ट शॉप

स्वदा मोटर्स < स्वधा मोटर्स

बीम सक्ति < भीम शक्ति

विश्म मूर्ति < वेश्म मूर्ति इत्यादि।

इन नामों पर लेखक की टिप्पणी भाषाविज्ञान की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है।[1]

इण्डोनेशिया की 'अष्टव्रत' परम्पराओं का ऐतिहासिक विस्तृत विवरण लेखक यात्रावृतान्त में देते हैं।[2] हम यह जान पाते हैं कि दक्षिणपूर्व एशिया में संस्कृत के प्रचार-प्रसार का इतिहास क्या है[3]? कैसे भारतीय रामायण, महाभारत आज उनकी संस्कृति के अभिन्न अंग हैं? इनका उत्तर इण्डोनेशिया के पूर्व राष्ट्रपति डॉ. सुकनों (र्णो) जो कि कट्टर मुस्लमान थे एवं हाजी भी थे, के इस मूल्यातीत कथन में निहित है-**'हमने धर्म बदला है, अपनी संस्कृति नहीं'**।[4]

तत्तद् देश की जानकारी में वृद्धि के लिए लेखक के ये यात्रावृतान्त मील का पत्थर हैं क्योंकि इन भूभगों का भ्रमण न किए हुए पाठक को दक्षिणपूर्ण एशिया के इस स्वरूप की प्रचुर जानकारी प्राप्त हो पाती है और वह उन देशों से निकटता का अनुभव करता है।

कनाडा यात्रा
(1987)

लेखक का कनाडा यात्रावृतान्त अवगत कराता है कि वहाँ भी कम ही सही परन्तु संस्कृत अध्ययन-अध्यापन जीवित है।[5] कनाडा के कैल्गेरी शहर के विश्वविद्यालय में धार्मिक अध्ययन के अंश के रूप में संस्कृत पढ़ाई जाती है। यह यात्रावृतान्त लेखक के भावनात्मक संसार के अवलोकन का सुअवसर प्रदान करता है।[6]

कम्बोडिया यात्रा
(2005)

लेखक की यह यात्रा बैंकाक से हुई थी। बैंकाक के नैशनल म्यूजियम में कई शिलालेख संस्कृत भाषा में हैं। 'छा आम्' नामक एक सेवानिवृत्त विद्वान् प्रो॰ सत्यव्रत शास्त्री को अवगत

---

1. वही, पृष्ठ 77, 84, 90
2. वही, पृष्ठ 71-76
3. वही, पृष्ठ 105-1068
4. वही, पृष्ठ 100-101
5. वही, पृष्ठ 133
6. वही, पृष्ठ 123, 125, 127, 129, 132, 133

कराते हैं कि थाईलैण्ड में अब तक खोजे गए 1406 अभिलेखों में से सौ से अधिक संस्कृत में है।[1] यह पाठकों के लिए नूतन एवं महत्वपूर्ण जानकारी है क्योंकि इससे इनके साहित्यिक एवं भाषिक मूल्यांकन को नए आयाम प्राप्त हो सकते हैं।

इस यात्रावृतान्त में मन्दिरों, जलाशयों एवं हैरिटेज पार्कों का शब्दचित्रात्मक वर्णन कर लेखक प्रचुर ऐतिहासिक जानकारी प्रदान कर देते हैं।[2]

दुष्यात्मा निवारण के लिए किए गए अनुष्ठान का वर्णन कम्बोडिया के रीति-रिवाजों का परिचय देने वाला है।[3]

पश्चिमी जर्मनी यात्रा
(1975,1977)

पश्चिमी जर्मनी के मार्बुर्ग के भारतीय विद्या संस्थान के प्रवेश द्वार पर उत्कीर्ण देवनागरी में लिपिबद्ध वैदिक मन्त्र एवं ब्राह्मी लिपि में अशोक के एक शिलालेख की पंक्तियाँ प्रो० सत्यव्रत को चमत्कृत कर देती हैं क्योंकि वे वहाँ के लोगों के भारत एवं भारतीयविद्या से प्रेम की प्रतीक थीं।[4] इस वृतान्त में बर्लिन में प्रो० ब्रून के साथ लेखक का वार्तालाप[5] उल्लेखनीय है क्योंकि वह संस्कृतज्ञों की जीविका पर प्रकाश डालता है।

जापान यात्रा
(1978, 1980)

जापान के क्योतो नगर में सुप्रसिद्ध मनीषी, संस्कृत व्याकरण के धुरन्धर विद्वान् प्रो० युताका ओजिहारा से लेखक की भेंट का वृतान्त[6] जापान में संस्कृत अध्ययन-अध्यापन के दृश्य का अवबोधक है। पाठक जान पाता है कि वहाँ अनेक देवताओं के नाम ब्राह्मण परम्परा के हैं और जापानी भाषा में कुछ संस्कृत शब्द भी मिल जाते हैं जैसे सेवा, नरक। जापान के परम्परागत परिधान, गगनचुम्बी टावर, धर्म एवं परम्पराओं को लेखनीबद्ध करते हुए लेखक कहते हैं कि 'जापान सचमुच विलक्षण देश है। प्राचीनता एवं नवीनता का इसमें सम्मिश्रण है।[7] इसी प्राचीनता एवं नवीनता का साक्षात्कार पाठक भी कर पाता है।

---

1. वही, पृष्ठ 138
2. वही, पृष्ठ 140, 141, 142, 146
3. वही, पृष्ठ 143-145
4. वही, पृष्ठ 151
5. वही, पृष्ठ 158
6. वही, पृष्ठ 172-177
7. वही, पृष्ठ 180-82

थाईलैण्ड यात्रा
(1977, 2005)

प्रो० सत्यव्रत शास्त्री का थाईलैण्ड से अत्यन्त आत्मीय सम्बन्ध है। इनके सत्प्रयत्नों के फलस्वरूप सिल्पकार्न विश्वविद्यालय, बैंकाक में संस्कृताध्ययन केन्द्र की स्थापना हुई। थाईलैण्ड ने भी लेखक के महनीय अवदान को स्वीकारा है। सिल्पकार्न विश्वविद्यालय के प्राच्य भाषा विभाग के पुस्तकालय का नाम रखा गया है 'डॉ० सत्यव्रत शास्त्री पुस्तकालय।' थाईलैण्ड के राजपरिवार में संस्कृत के प्रवेश का श्रेय भी लेखक को प्राप्त है। थाईलैण्ड की महाराजकुमारी इनकी छात्रा हैं। इन्हीं के करकमलों से प्रो० सत्यव्रत शास्त्री ने ज्ञानपीठ पुरस्कार प्राप्त किया था।

बैंकाक में लेखक ने जिन दर्शनीय स्थानों का वर्णन किया है, वहाँ कहीं बुद्ध की मूर्तियाँ हैं तो कहीं थाई रामायण का चित्रांकन।[1] पाठक को ज्ञात होता है कि थाईलैण्ड की राजधानी पहले अयोध्या थी। बाद में थौनबुरी (धनपुरी) राजधानी बनी, जहाँ महाराज ताकसिन् ने अरुण नाम से मेरु पर्वत तुल्य अत्यन्त उत्तुंग मंदिर बनवाया।[2] स्थापत्य कला के अद्भुत नमूने इस मन्दिर में स्थान-स्थान पर यक्षों, वानरों और किन्नरों की मूर्तियाँ खुदी हुई हैं।[3] इस प्रकार की खुदी हुई मूर्तियों वाले मंदिरों के भारत में भी प्राचुर्य से सिद्ध हो जाता है कि देश भिन्न-भिन्न हैं परन्तु सांस्कृतिक विरासत सांझी है। लेखक ने इस वृतान्त में अयोध्या नगर के प्राचीन भग्नावशेषों एवं अन्य दर्शनीय स्थलों का वर्णन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि सहित किया है।[4] वास्तुशिल्पी विश्वकर्मा की एक बाँध पर लगी स्वर्ण की चतुर्भुजी प्रतिमा लेखक को अचम्भित कर देती है क्योंकि एक हिन्दू देवता को भारतीयों ने भुला दिया परन्तु बौद्धों ने अपना लिया, क्योंकि भारत में सम्भवतः बांध पर यांत्रिक कार्य की सफलता हेतु विश्कर्मा की मूर्ति कहीं स्थापित हो ऐसा प्रतीत नहीं होता।[5] यह प्रमाण है विदेशों में भारत से अधिक भारतीयता का। वृतान्त में सिरेमिक की कलाकृतियों के निर्माण[6] एवं भविष्यवाणियों पर अंधविश्वास[7] के वर्णन से पाठक वहाँ के शिल्प एवं रीतिरिवाजों से अवगत हो पाता है।

पौलैण्ड यात्रा
(1977, 1999)

पौलेण्ड में हमें ऐसे संस्कृत प्रेमी परिवार से लेखक मिलवाते हैं जो संस्कृत सम्भाषण का

---

1. वही, पृष्ठ 185
2. वही, पृष्ठ 186
3. वही, पृष्ठ 187
4. वही, पृष्ठ 188-190, 193
5. वही, पृष्ठ 194
6. वही, पृष्ठ 196
7. वही, पृष्ठ 1971

प्रयास करता है। वे हैं श्री तोमाष रुचिंस्कि, उनका पुत्र फिलिप एवं पुत्री अम्मा। वार्सा से कभी भारत न आए फिलिप एवं प्रो० सत्यव्रत का संस्कृत में वार्तालाप भारतीय बच्चों के लिए कदाचित् प्रेरणा स्रोत हो सकता है।[1] ये दोनों बच्चे भारत आकर बनारस में संस्कृत सीखने की इच्छा रख सकते है[2] तो क्यों भारतीय बच्चे संस्कृत पढ़-बोल नहीं सकते? इस वृतान्त से यह यक्ष प्रश्न भी खड़ा होता है और अपने देश में संस्कृत से दूर भागती बाल एवं युवा पीढ़ियों के प्रति रोष भी उत्पन्न होता है। फिलिप केवल संस्कृत सीखने-पढ़ने की सोचता ही नहीं अपितु अपने स्वप्न को यथार्थ रूप भी देता है। 1999 की इस यात्रा के दस वर्ष पश्चात् 2010 में लेखक से दिल्ली में उसकी पुन: भेट होती है और वे फिलिप की संस्कृत अध्ययन की यात्रा से परिचित होते हैं।[3]

फ्रांस यात्रा
(1977)

तृतीय विश्व संस्कृत सम्मेलन में भाग लेने के लिए प्रो० सत्यव्रत ने पेरिस की यात्रा की। वहाँ शोध पत्र प्रस्तुतिकरण के साथ-साथ इटली के प्रियमित्रों से उनका पुनर्मिलन हुआ। पेरिस के दर्शनीय स्थलों एवं वहाँ मिले स्नेह ने लेखक की इस यात्रा को चिरस्मरणीय बना दिया।[4]

बैल्जियम यात्रा
(1977)

बैल्जियम में प्रो० शार्पे और प्रो० डिल्यू से लेखक की भेंट इस वृतान्त का एक प्रमुख बिन्दु है। प्रो० शोपें ने मेघदूत पर प्रकाशित अपना एक ग्रन्थ प्रो० सत्यव्रत को दिखाया जिसमें उन्होंने मेघदूत में उल्लिखित भौगोलिक स्थलों का परिचय देने का प्रयास किया था।[5] संस्कृत एवं भारतीयविद्या का अध्ययन करने वाली बैल्जियम की युवा पीढ़ी से भी लेखक का सम्पर्क हुआ।[6] इस प्रकार के वृतान्त भारतीय युवा पीढ़ी के लिए प्रेरक सिद्ध हो सकते हैं, इसमें सन्देह नहीं।

मलेशिया यात्रा
(1978, 1983, 1999)

मलेशिया का गीता आश्रम अन्तर्राष्ट्रीय गीता सम्मेलन का आयोजन करता है। कुआलालम्पुर में 1983 में आयोजित हुए इस सम्मलेन से सम्बद्ध यात्रावृतान्त में प्रो० सत्यव्रत वहाँ के गीता आश्रम का विवरण देते है।[7] बैंकाक से कुआलालम्पुर की ट्रेन से की गई यात्रा में एक परिचित के

---

1. वही, पृष्ठ 205
2. वही, पृष्ठ 207
3. वही
4. वही, पृष्ठ 209-210
5. वही, पृष्ठ 213
6. वही, 12
7. वही, पृष्ठ 216

पते में 'उत्तरलौड्' जिज्ञासु लेखक को प्रेरित करता है जानने के लिए कि यह क्या है? कोई बस्ती? सड़क? अथवा गली? कम्पार्टमेण्ट के निरीक्षक से पूछने पर उसने बताया 'उत्तर' मलेशियन शब्द है जिसका अर्थ है 'नार्थ'। इसकी प्रतिक्रिया स्वरूप लेखक के उद्‌गार उल्लेखनीय है-**'मैं मुस्कुरा उठा। क्या बात है! यहाँ इस संस्कृत शब्द को मलेशियन कहा जा रहा है। यदि हमारी सारी शब्दावली थाई या मलेशियन कहलाई जाने लगे तो क्या बात हो। संस्कृत इस तरह इन देशों की भाषाओं में अन्तः प्रवेश कर गई है'।**[1]

मलेशिया में लेखक थाईलैण्ड की रामकथा पर व्याख्यान देते हैं जिससे वे मलेशिया की रामकथा विषयक जनकारी प्राप्त कर सकें। यत्र-तत्र वे इस दिशा में प्रयासरत रहते हैं।[2]

म्यन्मा (बर्मा) यात्रा

म्यन्मा में रामायण की ऐतिहासिक पृष्ठभूमि एवं स्वरूप का विवरण लेखक ने विस्तारपूर्वक लिखा है।[3] म्यन्मा की दोनों प्रकार की राम कथा के 'याम ताजी' और 'राम वट्ठु' आदि नौ संस्करण, अन्य देशों की तुलना में रामकथा विषयक भेद को पाठक के सम्मुख अनायास सुस्पष्ट कर देते हैं। यांगून के दर्शनीय स्थान एवं इतिहास से सम्बद्ध संस्मरण भी यहाँ उल्लेखनीय हैं। म्यन्मा के दिन, वार किसी न किसी दिशा का प्रतीक चिन्ह सहित प्रतिनिधित्व करते हैं, यह वर्णन अतीव रोचक है।[4] यह जानकारी भी मनोरंजक है कि आज भी जब दो भाई आपस में लड़ते हैं तो कहा जाता है कि क्यों वालि सुग्रीव की भाँति लड़ते हो।[5] म्यन्मा के दैनिक जीवन में प्रयुक्त ऐसी उक्ति रामायण की समाज में जीवन्तता का अवबोधक कही जा सकती है।

रोमानिया यात्रा
(2001)

रोमानिया के आरदेआ विश्वविद्यालय में संस्कृत का अध्ययन होता है। वहाँ एक लड़की द्वारा संस्कृत भाषा में किया गया लेखक का स्वागत उन्हें रोमाञ्चित कर देता है-**स्वागतम् अत्रभवताम्। ऑरदेआनगरे स्वागतम्। ऑरदेआविश्वविद्यालये अत्रभवतां दर्शनेन अतीव आनन्दमनुभवामि।**[6] अक्टूबर 2001 में प्रो० सत्यव्रत को इसी विश्वविद्यालय से मानद डाक्टर की उपाधि से अलंकृत किया गया।[7] रोमानिया में डॉ० आंका से लेखक के आत्मीय सम्बन्ध बताते हैं कि अपनत्व के लिए किसी परिधि में रहना नितान्त अनावश्यक है। जब लेखक उनसे अश्रुपूर्ण

---

1. वही, पृष्ठ 217
2. वही, पृष्ठ 221-227
3. वही, पृष्ठ 235, 239
4. वही, पृष्ठ 245
5. वही, पृष्ठ 246
6. वही, पृष्ठ 250
7. वही, पृष्ठ 253

विदा लेते हैं तो वे स्वयं तो आगे बढ़ते हैं पर उनका मन पीछे की ओर भागता है- **'गच्छति पुरः शरीरं धावति पश्चादसंस्तुतं चेतः।'**

स्पेन यात्रा
(2010)

स्पेन में संस्कृत का अध्यापन केवल एक ही विश्वविद्यालय में होता है-बार्सिलोना विश्वविद्यालय में। वहाँ देववाणी संस्कृत केन्द्र भी है जो संस्कृत प्रचार-प्रसार में जुटा है जो कि एक स्वैच्छिक संस्थान है।[1] केन्द्र में लेखक के संस्कृत ग्रन्थों के पाठ एवं भाषण को सुनने के लिए भिन्न आयु एवं वर्ग के अनेक श्रोता एकत्रित हुए। सभी लोग काम-धन्धे वाले हैं इसलिए अध्यापन कक्षाएं शनिवार एवं रविवार चलती हैं।[2] जब यह स्पेन में हो सकता है तो भारत में क्यों नहीं? निस्सन्देह यहाँ भी विविध आयु एवं वर्ग के लोग संस्कृत सीखने के इच्छुक हैं।

हंगरी यात्रा
(1977, 1994, .1999, 2000)

लेखक के चार यात्रा संस्मरणों से हंगरी को निकट से जानने का सुअवसर पाठक को मिलता है। हंगरी के इतिहास, सांस्कृतिक विरासत एवं प्राकृतिक सुषमा का इन वृत्तान्तों में वर्णन है। भारतीय विद्या के क्षेत्र में हंगरी की देन अपूर्व है। वर्षों से वहाँ के विद्वान् प्राचीन संस्कृत वाङ्मय के अध्ययन में लगे हैं। श्रीमद्भगवद्गीता एवं प्राचीन संस्कृत कृतियों का हंगेरियन में अनुवाद हुआ है। इन अनुवादों की विशेषता यह है कि अनुवाद में भी मूल संस्कृत छन्द को तदवस्थ रखा गया है। हंगरी अनुवादकों ने अपनी भाषा को संस्कृत के अनुरूप ढाला है यथा-

कश्चित्कान्ताविरहगुरुणा स्वाधिकारात्प्रमत्तः
शापेनास्तङ्गमितमहिमा वर्षभोग्येण भर्तुः।
यक्षश्चक्रे जनकतनयास्नानपुण्योदकेषु
स्निग्धच्छायातरुषु वसतिं रामगिर्याश्रमेषु।

(मेघदूत, प्रथम श्लोक)

इसका हंगेरियन अनुवाद है-

परयातोल एद्य हॉन्यॉगुल उद्यैलो यक्षा-तन्देर्त
एलउज़ोत एश एद्य ऐस्तैन्दोरे एल इश एतेल्व ज़ोर्द उरानॉक पॉरॉन्चा।
एलमैन्त हात, होदय ऑ रैमैतै-तॉन्यान, सेप सीता
सैन्त वीज़ेनेल लोम्बतोल हूश रामॉगिरी तेतैयेन ब्युनतैतेशेत लैतल्तचौ।[3]

1. वही, पृष्ठ 278
2. वही, पृष्ठ 280
3. वही, पृष्ठ 28

अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा
हिमालयो नाम नगाधिराजः।
पूर्वापरौ तोयनिधी वगाह्य
स्थितः पृथिव्या इव मानदण्डः।।

(कुमारसम्भव, प्रथम श्लोक)

हंगेरियन अनुवाद है–

एद्य इश्तैन-ऑर्त्सु हैद्यैत ओरिज़् एसॉक,
हिमालॉयात, आँ हैद्यैक ओश किराययात।
तोरोन्यलिक एगनैक फैयैदैल्मी ओरमा।[1]

इस प्रकार के निर्दशन निश्चित रूप से पाठक को हंगरी के लोगों के प्राचीन भारतीय साहित्य के प्रति अनुराग से अवगत कराते हैं। प्रो० सत्यव्रत भी हंगरी की एक अति प्राचीन लोककथा 'सफदे घोड़ी का बेटा' का अंग्रेजी से हिन्दी में अनुवाद 7.06.2000 को करते हैं, टिप्पणी सहित। संपूर्ण कथा उनकी इस कृति में दी गई है।[2] हंगरी दूरदर्शन पर थाईलैण्ड, रामायण सम्मेलन, सूर्यवंश एवं हंगरी विषयों से सम्बद्ध लेखक के साक्षात्कार के प्रश्नोत्तर तत्तद् विषय पर प्रभूत सामग्री पाठकों को प्रदान करते हैं।[3]

गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर को अभिभूत कर देने वाली हंगरी की बॉलातोन झील की प्राकृतिक सुषमा का लेखक ने रमणीय वर्णन किया है।[4]

तत्तद् देश से सम्बन्धित यात्रा संस्मरणों के अतिरिक्त कृति के 'विविध'[5] नामक भाग में प्रो० सत्यव्रत ने विदेशी विद्वानों के मार्मिक संस्मरण दिए है जिनमें टाँग की हड्डी टूट जाने पर भी मुस्कुराते रहने वाले इटली के वरिष्ठ भारतीय विद्या विशेषज्ञ प्रो० टूची हैं। हिन्दी-जर्मन कोष एवं संस्कृत नाटकों का अभिनय ही जिनके जीवन के केन्द्र बिन्दु हैं ऐसे पूर्वी जर्मनी के सुप्रसिद्ध भारतीय विद्याविशेषज्ञ, प्रो० वाल्फगांग मार्गनरॉथ हैं। बैल्जियम के संस्कृत विद्वान् श्री पी.एच. एल. एगरमॉण्ट हैं, जो नाज़ी सैनिकों द्वारा जेल में डाले जाने पर बैरक की दीवारों पर देवनागरी लिपि में संस्कृत लिखकर अपने घरवालों तक संदेश पहुँचा पाए कि वे जीवित हैं। डॉ० वाल्टर रूबिन पूर्वी जर्मनी के वयोवृद्ध भारतीयविद्याविशेषज्ञ के संस्मरण हैं जो प्रारम्भ में एक सैनिक थे। हिन्दी धाराप्रवाह बोलने वाले पोलिश संस्कृत विद्वान् से सम्बद्ध संस्मरण हैं जो स्वयं को बनारस

1. वही।
2. वही, पृष्ठ 332-340
3. वही, पृष्ठ 322-324
4. वही, पृष्ठ 292-293
5. वही, पृष्ठ 345-364

का बताते हैं। पौलेण्ड के ही वयोवृद्ध भारतीयविद्याविशेष प्रो० लुडविक स्टर्नबाख के संस्मरण भी लेखक ने कृति के इस भाग में दिए हैं। अलग अलग देशों के संस्कृत से जुड़े महामनीषियों के सम्पूर्ण जीवन, संस्कृत समर्पण एवं महनीय योगदान को इन संस्मरणों में लेखक ने प्रकाशित किया है।

प्रो० सत्यव्रत ने अपनी सरल, प्रवाहमयी शैली में प्रत्येक देश के अतीत, वर्तमान उनके अनेकानेक बुद्धिजीवियों, कवियों, लेखकों, साहित्यकारों, दार्शनिकों, कलाकारों, चित्रकारों द्वारा पोषित, संवर्धित सांस्कृतिक विरासत को 'गागर में सागर' की भाँति समेट कर पाठकवृन्द के सम्मुख प्रस्तुत किया है। कृति के अन्त में प्रकाशित चित्र उससे सम्बन्धित वर्णन को पाठक के सम्मुख साक्षात् प्रस्तुत करने में सहायक सिद्ध होते हैं।

लेखक अनेक स्थानों पर संस्कार, उत्सव, रीति-रिवाज आदि के वीडियों कैसेट बनाने का संकेत देते है।[1] इस सामग्री के प्रति पाठक की उत्सुकता तो जागृत होती है, परन्तु शान्त नहीं हो पाती। कुछ विवादित विषयों का प्रो० सत्यव्रत प्रतिवाद करते हैं, पर पाठक उससे अनभिज्ञ ही रह जाता है।[2] कुछ स्थानों के विषय में अधिक जानने की इच्छा रह जाती है जैसी सिआम रिअप् का शिव मंदिर।[3] यह इस कृति की विशेषता ही है जो पाठक की और अधिक जानने की पिपासा को संवर्धित करती है।

यह कृति प्रो० सत्यव्रत के जीवन दर्शन एवं ईश्वर पर अगाध आस्था को भी स्थान-स्थान पर उद्घाटित करती है।[4]

इन यात्राओं में लेखक अनेकशः शारीरिक अस्वस्थता का सामना करते हैं। कहीं हृदय की तो कहीं प्रोस्टेट की तो कभी ज्वर सम्बन्धित।[5] कहीं उन्हें यायावरी थका देती है परन्तु संचरणशील 'रोहित' की भाँति वे संस्कृत एवं संस्कृति अन्वेषण हेतु वैश्विक यात्राएँ करते जाते हैं। उनकी 'जिज्ञासा' रूपी 'इन्द्र' उन्हें प्रेरित करता है कि 'चरैवेति' क्योंकि चलता हुआ व्यक्ति निश्चय ही मधु प्राप्त करता है। इस कृति का पाठक भी प्रो० सत्यव्रत द्वारा विदेशों में संचयित यात्रा वृत्तान्त रूपी मधु के बिन्दुओं का पान कर उनकी यात्राओं का सहपथिक हो अदृष्ट भू-भागों की संस्कृति में संस्कृत आदि जानकारियों का साक्षी हो जाता है।

• • •

1. वही, पृष्ठ 56, 61, 63
2. वही, पृष्ठ 119
3. वही, पृष्ठ 140
4. वही, पृष्ठ 36, 368
5. वही, पृष्ठ 130, 131, 256

23

संस्कृत और भारतीय संस्कृति

दक्षिणपूर्व-एशिया के देशों में डॉ० सत्यव्रत के यात्रा संस्मरण ग्रन्थ 'चरन्वै मधु विन्दति' के संदर्भ में

प्रवेश सक्सेना

मनुष्य चिरयायावर है- चलते रहना- उसका स्वभाव। फिर कई बार शिक्षा या आजीविका के कारण एक स्थान से दूसरे स्थान जाना पड़ सकता है तो कई बार मात्र भ्रमण या मनोरंजन के लिए। यूं भी भारतीय संस्कृति में 'चरैवेति चरैवेति'- चलते रहो, चलते रहो- यही जीवन का लक्ष्य माना गया है। देश-विदेश की यात्राएँ एक ओर नवीनमार्ग की सुन्दरता से मन को हर्षित करती हैं तो दूसरी ओर अपने लक्ष्य तक, मंजिल तक पहुँचने का आनन्द-प्रदान करती हैं। इन सबसे बढ़कर होता है ज्ञानवर्धन। नई-नई चीज़ें जानने, नए-नए लोगों से परिचय तथा भिन्न-भिन्न भाषाओं एवं संस्कृतियों को जानने-समझने के सुअवसर सच में मानवमन को आनन्दित कर देते हैं। यदि वहाँ की भाषा और संस्कृति में अपने देश की संस्कृत और संस्कृति की झलक दृष्टिगोचर हो जाए तो वह आनन्द बहुगणित हो जाता है।

डॉ० सत्यव्रत जैसे विश्वविश्रुत संस्कृत विद्वान्, कवि, भाषावैज्ञानिक, बहुभाषाविद् और सबसे बढ़कर भारतीय संस्कृति के उपासक यदि विदेश-यात्राएँ करते हैं तो वे सर्वत्र भारत, संस्कृत और संस्कृति के साझे सूत्रों को अपनी सूक्ष्म निरीक्षण दृष्टि से खोज निकालते हैं। यह ऐसी खोज, ऐसा शोध है जिसके परिणाम स्वयं उनको तो आनन्दित करते ही रहे हैं उसके विवरण, संस्मरण सुनने-पढ़ने पर श्रोताओं और पाठकों को भी आनन्द-रस से सराबोर कर देते रहे हैं। ये विदेश-यात्राएँ कभी अध्यापन, कभी किसी गोष्ठी की अध्यक्षता तो कभी किसी सम्मेलन में भगीदारी कभी व्याख्यानों के लिए तो कभी मानद उपाधि प्राप्त करने के लिए 1975 से शुरू हुई जो आज तक जारी हैं। इतने दीर्घकाल के विविध अनुभवों, संस्मृतियों और संस्मरणों का संकलन, उपलब्ध होता है, 'चरन् वै मधु विन्दति' शीर्षक ग्रन्थ में'। स्वयं लेखक के शब्दों में यह ग्रन्थ 'विदेश के सांस्कृतिक अन्वेषण की गाथा है।

प्रस्तुत लेख दक्षिणपूर्वएशिया के दो देशों थाईलैण्ड तथा म्यन्मा के रोचक संस्मरणों पर

आधारित है। इन पड़ोसी देशों में 5वीं सदी से लेकर 15वीं सदी तक हिन्दूधर्म का प्रचार-प्रसार हुआ। व्यापारी, शिक्षक, धर्म-प्रचारक तथा राजदूतों के माध्यम से हमारी संस्कृत और संस्कृति दूर-दूर तक प्रसारित होती रही है। थाईलैण्ड का पूर्व नाम स्याम या सियाम रहा तथा म्यन्मा को (जिसे म्यांमार भी कहा जाता है) सुदूर अतीत में 'ब्रह्मदेश' कहा जाता रहा है।

यही कारण है यहाँ रामायण और महाभारत के कथानक यहाँ की परिस्थितियों और भौगोलिक स्थितियों के अनुरूप ढल गए हैं। हर देश की अपनी रामायण उनकी मंचन विधियाँ, संगीत तथा नृत्यशैलियाँ विकसित हुई हैं। सबसे बढ़कर है बौद्ध धर्म (जो भारत में जन्मा) का प्रसार। आश्चर्यजनक पर सुखद यह तथ्य भी रहा है कि हिन्दू धर्म और बौद्धधर्म का समन्वित रूप इन देशों में मिलता है। यूं ईसाई धर्म तथा मुस्लिम धर्म को मानने वाले अल्पसंख्यक जन भी इन देशों में रहे हैं पर मूलरूप में हिन्दूधर्म-संस्कृति तथा संस्कृत भाषा की छाप सर्वत्र विद्यमान है।

डॉ० सत्यव्रत के इन संस्मरणों में पाठक स्वयं को वहाँ की यात्रा करता हुआ पाता है तथा संस्कृत या उसके अपभ्रंश रूपों को व्यक्तियों-स्थानों के नामों में पाकर विस्मित होता चलता है। अनेक सांस्कृतिक पर्व, पूजापद्धतियों में भारतीय संस्कृति की छाप देखकर स्वदेश पर गर्व होता है।

आज 21वीं सदी में भी ऐसा प्रयोग देखकर, सर्वत्र रामायण- 'राम के यात्रा-पथ' की नई-नई गाथाएँ पढ़कर सच ही अपनी संस्कृति पर अभिमान होता है।

थाईलैण्डयात्रा

डॉ० सत्यव्रत थाईलैण्ड की राजकुमारी महाचक्री सिरिन्थौर्न के गुरु रहे हैं अत: थाईलैण्ड में उनका दीर्घप्रवास रहा है। थाईरामायण पर आधारित महाकाव्य 'श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम्' उनकी लेखनी से प्रसूत हुआ तथा 'थाईदेश के ब्राह्मण' नामक ग्रन्थ में ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से थाईलैण्ड की विशेषताएँ रेखांकित हुई हैं।

'चरन् वै मधु विन्दति' शीर्षक वाले यात्रा-संस्मरणों के संकलन ग्रन्थ में थाईलैण्ड की 1977 तथा 2005 में की गई यात्राओं की स्मृतियां संरक्षित हैं। 1977 में विजिटिंग प्रोफेसरशिप पाकर जब वे बैकांक नगर स्थित 'चुलालौङ्कौर्न विश्वविद्यालय पहुँचते हैं तो वहाँ कुछ पूर्वपरिचित जन मिलते हैं। वहाँ बैकांक के दर्शनीय स्थलों में से एक 'ग्रैण्ड पैलेस' का वर्णन करते हुए लेखक ने बताया है कि उसमें एक ओर एक विहार है जिसके प्रवेशद्वार पर दोनों ओर एक-एक यक्ष की विशालकाय मूर्ति है। उसके एक ओर समस्त रामायण कथा थाईलैण्ड में चित्रों के माध्यम से पूरी की पूरी दीवार पर अंकित हैं। यहाँ एक भव्य मन्दिर में भगवान् बुद्ध की पन्ने की बनी मूर्ति प्रतिष्ठित है। इसी विहार में एक और मन्दिर है जिसमें थाईलैण्ड के राजाओं की मर्तियाँ प्रतिष्ठित है। लेखक ने आश्चर्य प्रकट किया है कि लोग इन मूर्तियों के आगे भी शीश झुकाते हैं, चन्दन की बत्ती जलाते हैं और उनकी पूजा करते हैं। संभवत: यह उस परम्परा का द्योतक है जिसमें 'राजा'

को 'ईश्वर तुल्य' माना जाता है। ग्रैण्ड पैलेस के बहुत से हिस्सों का सजीव वर्णन इस संस्मरण में मिलता है। राजा के दिवंगत होने पर राजा का शव बहुत दिनों तक - कई बार तो सालभर तक इसी पैलेस के एक मण्डप में रखा जाता था। दूर-दूर से आने वाले प्रजा-जन आकर श्रद्धांजलि अर्पित करते थे। यहीं पर मृत्यु संबधी कर्मकाण्ड जैसे 30 दिन के पश्चात्, 100 दिन के पश्चात् के सम्पन्न होते थे।

बैकांक शब्द की व्युत्पत्ति बताते हुए डॉ० सत्यव्रत कहते हैं कि यह शब्द दो थाईशब्दों के मेल से बना है- बाङ् और मकाक। बाङ का अर्थ है स्थान या क्षेत्र 'मकाक' का अर्थ है 'जैतून'। सम्पूर्ण शब्द का अर्थ हुआ जैतून वृक्षों का स्थान। 'मकाक' के म का लोप होकर बाङ्काक 'बैंकाक' हो गया। एक जमाने में उस क्षेत्र में जैतून' के पेड़ बहुतायत से रहे होंगे पर अब विशेष नहीं हैं। 'रामायण' का प्रभाव इतना अधिक रहा है इस देश पर कि इसकी पहली राजधानी 'अयोध्या' थी। चारों ओर जलाशयों से घिरी होने के कारण इसका नाम 'द्वारवती' भी था। संभवत: समुद्र से घिरी 'द्वारका' के अनुकरण पर यह नाम रखा गया है। सन् 1350 से 1767 ई० तक यह राजधानी रही। इसमें 5 वंशों के 33 राजाओं ने राज्य किया। बर्मा से निरन्तर संघर्ष रहा इस देश का। सीमापार से लुटेरे डाकू इस पर आक्रमण करते रहे। 1569 में इसका विध्वंस हो गया। 1767 तक यह पूर्णतया विध्वस्त हो गई। उस समय में अमीर उमराओं में से ताक सिन् नामक वीर योद्धा ने स्वदेश को बर्मी आधिपत्य से मुक्त करवाया तथा बैंकोक के पास ही चाओं नदी के दूसरी ओर स्थित 'थौनबुरी' संस्कृत धनपुरी) नामक स्थान को राजधानी बनाया। 15 वर्ष पश्चात् उसे अपदस्थ कर उसी का सेनापति 'फ्र बुद्ध योद् फ्र चुलालौङ्' राजा बना।

चुलालौङ् का संस्कृत रूपान्तर चूडालोक है। वर्तमान चक्री राजवंश का आरम्भ यहीं से होता है। यहाँ के सभी राजा अपने को 'राम' कहते हैं। राम (1) राम (2) राम (3) इस प्रकार जाने जाते हैं। 'राम' नाम की महिमा इतनी अधिक है कि सड़कों के नाम भी उन्हीं के नाम पर है। भूमिबल राम नवम राजा ने सर्वाधिक समय तक राज्य किया (सम्प्रति वज्रलौङ्कौर्न राम 10 वें राजा हैं)। ये सभी राजा भारतीय राम की तरह स्वयं को सूर्यवंशी कहते हैं। 'राम राज्य' शब्द सुशासन का प्रतीक है। थाईलैण्ड के राजतंत्र में सुशासन की महत्ता रही है। बैंकाक की एक प्रसिद्ध सड़क का नाम भी है 'सुरि वोङ्' अर्थात् सूर्यवंश। राम प्रथम के शासन काल में 'बैंकाक' नगर राजधानी के रूप में प्रतिष्ठित हुआ। तब से आज तक यही राजधानी रही है!

थाई-स्थापत्यकला पर भी भारतीय संस्कृति का प्रभाव स्पष्ट है। प्राचीन थौनबुरी (धनपुरी) में अरुण नामक उत्तुंग मन्दिर 'मेरु पर्वत' के आकार का है। सबसे ऊपर शिखर पर तीन सूंडों के ऐरावत पर नृत्यमुद्रा में इन्द्र की मूर्ति खड़ी है तथा यक्षों, वानरों तथा किन्नरों की मूर्तियां खुदी हैं।

सबसे प्राचीन राजधानी अयुत्थया (अयोध्या) के प्राचीन भग्नावशेष तथा कतिपय दर्शनीय स्थल भी इसे पर्यटकों के आकर्षण का केन्द्र बनाते हैं। वर्तमान चक्री राजवंश के चतुर्थ वंशज महाराज मुकुट ने वहीं एक प्रासाद बनवाया था जिसमें तीन मण्डपों में से दो यूरोपीय तथा स्यामी

शैली में हैं। तीसरा चीनी शैली में है। उसका निर्माण राजश्रेष्ठी ने करवाया था। यहाँ के 'बाङ् पा इन् के दर्शनीय स्थानों में उल्लेखनीय है नरोपस्पिमान मण्डप। राजप्रसाद के प्रवेशद्वार के पास स्थित इस मण्डप का महाराजा चुलाचौङ्कौर्न ने पश्चिमी शैली में पुननिर्माण करवाया था। पाश्चात्य पद्धति से शिक्षित इन महाराजा ने एक नया प्रयोग भी उस स्थान के आस-पास किया। उन्होंने गाथिकी शैली में एक बौद्ध मन्दिर की स्थापना की। महारानी सुनन्द कुमारी रत्न की स्मृति में एक संगमरमर का स्मारक बनवाया। अयुत्त्थया (अयोध्या) में कई बौद्ध विहार है। थाईलैण्ड की सबसे बड़ी भगवान् बुद्ध की कांस्य प्रतिमा की ऊँचाई 12-45 मीटर है तथा चौड़ाई 9.55 मीटर है। यह प्रतिमा 'फ्र मौज्कोल बौपित्र' नामक विहार में है। अन्य कई प्रसिद्ध विहार भी यहाँ स्थित हैं। तथा एक राष्ट्रीय संग्रहालय भी है।

दूसरी थाई यात्रा डॉ० सत्यव्रत ने 2005 में की। 23-26 जून 2005 वो बैंकाक में 'संस्कृत-अनेकता में एकता' विषय पर अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन का आयोजन था। उसी में माग लेने लेखक वहाँ पहुँचे। उपलक्ष्य था राजकुमारी महाचक्री सिरिन्थौर्न के 50 वें जन्मदिन का। क्योंकि डॉ० सत्यव्रत उनके गुरु रहे थे अतः उनको इस कार्यक्रम में पत्नी डॉ० उषा सत्यव्रत सहित भाग लेना था। सम्मेलन की समाप्ति पर बैंकाक के 'सुखोथाई' स्थान के भ्रमण की योजना थी। यह स्थान बैंकाक से 400 कि०मी० दूरी पर है। अपने अध्ययन तथा शोधकार्य के लिए वे कुछ दिनों वहाँ रहे। दिनभर वे कार्य करते, शाम को 'सुखोथाई' घूमने निकलते। वहाँ के हरे-भरे मैदान विशाल सरोवर तथा अलौकिक प्राचीन स्मारक सच ही दर्शकों को विस्मित कर देते हैं।

'सुखोथाई' का संस्कृत नाम 'सुखोदय' है जो सच में सुख पहुँचाने वाला स्थल है। वहाँ से 65 कि०मी० दूरी पर है 'कम्फेङ् फेट' स्थल जहाँ पर बहुत से प्राचीन ऐतिहासिक स्थल हैं। सहयात्री श्रीमती अमरा ने 'कम्फेङ् फेट' का शाब्दिक अर्थ इस प्रकार बताया, कम्फेङ् का अर्थ होता है 'दीवार' और 'फेट' का अर्थ होता है 'हीरा'। यह संस्कृत शब्द वज्र है जिसका उच्चारण फेट के रूप में किया जाता है। इस प्रकार 'कम्फेङ् फेट' का अर्थ हुआ 'वज्र की दीवार'। इस स्थान की यात्रा के दौरान बहुत से संकेतक मिलते हैं जिनसे उनके संस्कृत नामों का पता चलता है। एक शब्द था 'खिरि मात्' 'खिरि' गिरि और मात् मास जिसका, अर्थ होता है स्वर्ण। यूं यह स्थल 'स्वर्ण पर्वत' था। भाषावैज्ञानिक डॉ० सत्यव्रत ने थाईलैण्ड में क्षेत्रों, शहरों, कस्बों, गांवों, झीलों और पर्वतों के उन नामों के संकलन की एक परियोजना बनाई जिनकी उत्पत्ति संस्कृत से हुई है।

इस परियोजना पर वे गत वर्षों से निरन्तर कार्य करते रहे हैं। वास्तव में ऐसे अध्ययनों से दोनों देशों के अंतरंग भाषिक तथा सांस्कृतिक संबंधों के नए आयाम विकसित होते हैं। 'कम्पेङ् फेट' के एक संग्रहालय में रामायण से संबंधित क्लाकृर्तियां संकलित थीं। कालक्रम से कुछेक नष्ट हो गई परन्तु कुछेक बची हैं। एक कलाकृति में वाली-सुग्रीव के द्वन्द्व-युद्ध का चित्रण है। संग्रहालय की दूसरी मंजिल के प्रवेश-द्वार के सामने काँसे से निर्मित शिव की प्रतिमा है जिसकी वेदिका पर

एक नोट लिखा हुआ है– 'हिंदू प्रतिमा की सबसे बड़ी काँसें की कलाकृति तथा थाईलैण्ड की सर्वोत्कृष्ट कलाकृति ! सौभाग्यवश यह प्रतिमा सही–सलामत रूप में विद्यमान है।

सुखोथाई से लगभग 65 किलोमीटर दूर एक और दर्शनीय स्थल है 'ताक' जो अपने विलक्षण प्राकृतिक सौन्दर्य के लिए विख्यात है। जंगलों से घिरी पहाड़ियों के निकट इस स्थान की ओर जाती सड़क पर दोनों ओर वृक्षपंक्तियाँ है। रास्ते में 'चाउ राम केव' जिसका संस्कृत रूपान्तर 'राम गुफा' है। इस गुफा के विषय में उल्लेख महाराज रामखम्हैङ के शिलालेखों में मिलता है। वहाँ पर 'पिङ्' नदी पर बाँध–बँधा है तथा कुछ दूरी पर पहाड़ी पर दिव्य वास्तुशिल्पी विश्वकर्मा की प्रतिमा स्थापित की गई है। स्वर्ण से बनी प्रतिमा के चार हाथ हैं। इस विश्वकर्मा की प्रतिमा को देखकर डॉ० सत्यव्रत अचम्भित रह जाते हैं तथा अत्यन्त अर्थपूर्ण टिप्पणी करते हुए कहते हैं–

'मुझे नहीं लगता कि हमारे यहाँ किसी बाँध पर इस देवता का प्रतिमा लगाई गई हो– एक हिन्दू देवता– जिन्हें थाई बौद्धों ने स्वयं ही अपना लिया। किसी भी यान्त्रिक कार्य की सफलता को वे उसकी कृपा मानते हैं। इसके उचित अनुरक्षण के लिए उससे कृपादृष्टि बनाए रखने की प्रार्थना करते हैं जबकि हिन्दू बहुल भारत ने उसे लगभग भुला दिया है।

पिङ् नदी पर बंधे बांध के वापसी के मार्ग में एक और रोचक स्थान है जो मुख्य मार्ग से भीतर की ओर 2.5 कि०मी० की दूरी पर है। वहाँ एक 80–100 मीटर लम्बा अश्मीकृत वृक्ष खोजा गया है जो बीस लाख वर्ष पुराना आंका गया है। इस जीवाश्म रूप वृक्ष का बाह्यरूप बदल चुका है। उसमें वृक्ष की छाल, पत्ते, तंतु विन्यास या शाखाओं जैसा कुछ नहीं, सच में प्रकृति के करिश्मे अद्‌भुत होते हैं।

सुखोथाई में ही मित्र श्री थरापोङ् के साथ पारंपरिक प्राचीन स्थलों पर घूमने के दौरान 'वात जेतुवन' स्थान को निकट से देखना हुआ। वह ऐसे मण्डप के भीतर था जिसकी छत गायब थी। भगवान् बुद्ध की विभिन्न मुद्राओं में – खड़े हुए, चलते हुए, झुके हुए, और बैठे हुए – चार विशाल प्रतिमाएँ थीं। इनमें से केवल दो शेष बची हैं।

जेतुवन से ही आगे जाने पर सुखोथाई के प्राचीन शहर के पश्चिम में स्थित 'हो थेवंलाई' नामक एक हिन्दू मन्दिर गए। सात स्तम्भों वाली इस इमारत में दो वेदिकाएँ हैं। इसमें भगवान् शिव की पांच प्रतिमाएँ हुआ करती थीं जिनमें से तीन अब वैकांक नैशनल म्यूज़ियम में और दो सुखोथाई के रामखममहैङ् नैशनल म्यूज़ियम में हैं। राजकुमार सुभद्रदित् ने अंग्रेजी में एक शोधलेख लिखा है। श्री थरापोङ् ने उस लेख की प्रतिलिपि तथा प्रतिमाओं के चित्रों को उपलब्ध करवाने का वादा किया। सच में थाईलैण्ड के विद्वानों की यह विशेषता है कि वे स्वयं तो शोधकार्य करते ही है अन्यों के शोधकार्य में सहर्ष सहायता करते हैं।

एक और विशिष्ट बात जो यहाँ पता चली वह यह कि दूर स्थित एक पर्वत के शीर्ष पर स्थित

एक शिवगुफा है जो उपरिवर्णित शिवालय के बिल्कुल सामने पड़ती है। उस समय के मकानों का नक्शा बनानो वालों का वास्तव में यह कमाल है कि उन्होंने शिवमन्दिर के लिए उस स्थल को चुना जहाँ से सीधे गुफा देखी जा सकती थी।

शिवगुफा के बगल में ही पर्वत की चोटी पर स्थित एक और गुफा है जिसे नराय, नारायण गुफा या विष्णुगुफा कहा जाता है।

सुखोथाई में सिरोमीक उद्योग इधर खूब पनपा है। वहाँ के कारखानों में सिरोमिक के मोडल या आकार बनाए जाते हैं। बाद में कारीगर हाथों से उन्हें, विभिन्न आकृतियों में रंग देते हैं।

सुखोथाई से 75 कि०मी० दूर 'विचित' और 'पिचित' स्थल है। यहाँ भी लुआङ सनम बौद्ध मन्दिर है जहाँ हॉल में एक बेलनाकार टिन पेटी में रखी डंडियों को लोग हिलाते हैं। हिलाते समय जो डंडी गिर जाती है उस पर लिखी संख्या डंडी पकड़ने वाले का भविष्य बताती है। सच ही भविष्य जानने की उत्सुकता मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है, 'पिचित' में सुखोथाई तथा अयुत्थया युग को दर्शाने वाले दो निर्माण हैं जहाँ धर्मदीक्षा दरबार जिसे 'फ्र उबोसोथ' कहा जाता है। विद्यमान हैं।

इस प्रकार थाईलैण्ड के यात्रासंस्मरणों से उस देश की सांस्कृतिक परंपराओं से पाठक परिचित होता चलता है। दक्षिणपूर्वएशिया के इस देश में शिव विष्णु की प्रतिमाएँ ही नहीं विश्वकर्मा जैसे देवता की मूर्ति के विषय में पढ़कर आश्चर्य होता है। रामायण-कथा के रूप, उसके मंचन की, उस पर आधृत कलाकृतियों के बारे में रोचक जानकारी आनन्दित करती है। बौद्धधर्म जो भारत में जन्मा पर थाईलैण्ड जैसे देशों में पनपा, विकसित हुआ यह भी अच्छा लगता है। वहाँ के लोगों में भगवान् बुद्ध के प्रति गहन आस्था भी विस्मित करती है। थाईभाषा के शब्दों के भीतर छिपे संस्कृत के मूल शब्द जिनसे डॉ० सत्यव्रत पाठक को परिचित करवाते चलते हैं वे अपने आप में अद्‌भुत हैं।

भारत की प्राचीनतम भाषा संस्कृत और भारतीय संस्कृति के सूत्रों को थाईलैण्ड के संदर्भ में जानने-समझने की कुञ्जी डॉ० सत्यव्रत पाठकों को थमाते चलते हैं।

एक सामान्य पर्यटक के लिए थाईलैण्ड (बैंकाक और पत्तया नामक स्थान) का अर्थ मात्र वहाँ की नाइटलाइफ अर्थात् यौनगतिविधियाँ हैं अथवा वहाँ के कैसिनो (जुआघर)। इतनी सीमित दृष्टि से किसी देश को देखना स्वयं अपने प्रति, अपने देश के प्रति तथा (भ्रमण करने जहाँ गए हैं) उस देश के प्रति भी अन्याय है।

इन संस्मरणों में सच ही विदेश के संस्कृतिक अन्वेषण की गाथा को बहुत रोचक शब्दावली में प्रस्तुत किया गया है। पृष्ठ-पृष्ठ या कहें पंक्ति-पंक्ति में इतनी अधिक रोचक सामग्री है कि पाठक अचम्भित हो जाता है। वहाँ की पूजा-पद्धति से संबद्ध कथानकों से जुड़े ये संस्मरण अमूल्य हैं।

एक विशेष बात और जो मेरे जैसे सामान्य पाठक को दृष्टिगोचर होती है वह है अपने देश के प्रति प्रेम। जहाँ कहीं विदेश में लेखक को कुछ विशिष्ट परंपरा, कुछ अच्छी बात नज़र आती है वह उसे अपने देश में स्वीकृत करना चाहता है। जैसे वहाँ के एक संग्रहालय में माध्यमिक कक्षा के छात्रों को गुरुमुख से सुनकर फर्श पर कॉपी-पेन लेकर जब लिखते हुए उन्होंने देखा तो तुरन्त उनके मन में कौंधता है कि हमारे देश के बच्चों को ऐसे अवसर क्यों नहीं मिलते? इसी प्रकार 'विश्वकर्मा' की मूर्ति को देखकर की गई उनकी टिप्पणी भी भारतीयों भी भग्न आस्था की ओर संकेत करती है।

इन सबसे बढ़कर मुझे रुचता है डॉ० सत्यव्रत का मानवोचित व्यवहार तथा नम्रता जो हर कहीं प्रकट होती है जब उन्हें किसी मित्र, सहयात्री या विद्वान् का अपने कार्यों या यात्राओं में सहयोग मिलता है।

विश्वविश्रुत विद्वान् डॉ० सत्यव्रत जो जीवन के नवें दशक में भी सत्रह-अठारह घण्टे अध्ययन-लेखन में बिताते हों वे खाना बनाना भी जानते होंगे नितान्त असम्भव लगता है। फिर भारतीय पति तो संभवत: निन्यानवे प्रतिशत ऐसे होंगे जो पत्नी की इस प्रकार सहायता करने की बात सोच भी नहीं सकते। लेकिन थाईदेश में 'सुखोथाई' स्थान में शोधकार्य में संलग्न डॉ० सत्यव्रत की निम्न पंक्ति सच में उनकी मानवीयता की पराकाष्ठा को अभिव्यक्त करती है-

'अपनी पत्नी को इस एकांत स्थान पर लाकर शोध के नाम पर नई-नई जानकारी प्राप्त करने के दौरान उनके द्वारा उठाए गए कष्टों के अक्षम्य अपराध के हरजाने के रूप में खाना बनाने का कार्य मैंने अपने हाथों में ले लिया था।' नमन उन्हें और उनके सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार को, और नमन उनकी मानवीयता को।

म्यन्मा (बर्मा) यात्रा

डॉ० सत्यव्रत की 'म्यन्मा' (बर्मा) यात्रा का उद्देश्य भारतीय सांस्कृतिक परिषद् के तत्त्वावधान में 'दक्षिणपूर्व एशिया में रामकथा' पर लिखे जाने प्रामाणिक ग्रन्थ के लिए सामग्री संकलन करना था। दिसम्बर 16-24 वर्ष 1999 की इस यात्रा में उन्होंने वहाँ के बुद्धिजीवियों से चर्चा की, प्रसिद्ध ऐतिहासिक एवं दर्शनीय स्थलों के दर्शन किए तथा रामायण-विषयक म्यन्मा की विशेषताओं को जाना-समझा। स्वाभाविक था कि वहाँ की संस्कृतिक तथा परंपराओं के विभिन्न पहलू भी उनकी दृष्टि से ओझल नहीं हुए।

यांगून एयरपोर्ट पर पहुँचते ही जो विचित्र व्यवस्था उन्होंने देखी वह थी प्रत्येक विदेशीयात्री को पाँच सौ अमरीकी डालरों को 'च:' नाम की स्थानीय मुद्रा में परिवर्तित करवाना पड़ता है। इस व्यवस्था में किसी के लिए कोई राहत नहीं। सैन्यशासन के दौरान विषम आर्थिक स्थिति से निवारण के लिए ही यह व्यवस्था अपनाई गई थी। दूतावास में जाकर भी कुछ ऐसा अनुभव हुआ जहाँ उन्हें शीघ्र काम निबटाकर जाने को कहा गया। उपाहारगृह में अल्पाहार की स्थिति भी विचित्र थी- होटल बड़ा नाश्ते में टोस्ट मक्खन की मात्रा अत्यल्प! कॉलेज-विश्वविद्यालय बरसों से बंद।

बुद्धिजीवियों के साथ मीटिंग में रामायण पर सघन चर्चा और जानकारी प्राप्त कर दर्शनीय स्थलों के परिभ्रमण की इच्छा पूरी की गई। जहाँ तक रामायण का प्रश्न है, वहाँ म्यन्मा में उसके दो नाम हैं– 'याम ताजी' और 'रामवत्थु', म्यन्मा का प्राचीन नाम बर्मा है – उससे भी प्राचीन काल में जाएं तो उसे 'ब्रह्मदेश' कहा जाता था तथा उसकी राजधानी थी 'रंगून'। 'बर्मा' जाति के लोगों की बहुलता के कारण उसे 'बर्मा' कहा जाता था। 1948 तक अंग्रेजी शासन के दौरान ये नाम प्रचलित हुए। परन्तु 1989 के सैनिक शासन ने अंग्रेजी नामों को बदल डाला तथा देश का नाम 'म्यांमार' जो बोला जाता है 'म्यन्मा' कर दिया तथा राजधानी रंगून के सथान पर 'यांगून' हो गई। इसी 'यांगून' में सबसे प्रमुख दर्शनीय स्थान है 'स्वर्ण पगोडा' जिसे म्यन्मा की भाषा में 'श्वेडगौ फया' कहा जाता है। यह 'कान्डॉ जी' झील के पश्चिम की ओर 'तेइं गौटर टाऊं' की पहाड़ी पर स्थित है। यहां चार बुद्धों के अवशेष संरक्षित हैं- ककुसन्द (संस्कृत रूप क्रकुछन्द) का दण्ड, कोणागमन का जल-प्रक्षालक कस्सप के चोगे का एक माग और गौतम बुद्ध के आठ बाल। पगोडा के चारों और ग्रहों के हिसाब के आठ खम्भे हैं। प्रत्येक पर भगवान् बुद्ध का विग्रह है। बौद्धधर्म के साथ म्यान्मा में ईसाई, बौद्ध, मुस्लिम तथा हिन्दू धर्मानुयायी रहते हैं। जहाँ तक हिन्दूधर्म का प्रश्न है वह सुदूर अतीत से वहाँ विकसित रहा है। रामायण कथा की विभिन्नताएँ, उसकी नाट्यादिरूप में मंचन की परंपरा चिरप्राचीन है और आज तक जारी है।

'यांगून' (रंगून) के नाम से भारत की प्राचीन पीढ़ी को 'मेरे पिया गए रंगून' नामक फिल्मी गीत की याद आती है। परन्तु 'यांगून' से हमारे इतिहास की अन्य कड़ियां भी जुड़ी हैं। इसी शहर के एक अन्य स्थान में 'बहादुरशाह ज़फ़र' का मकबरा है। इस अन्तिम मुगल बादशाह को 1857 में स्वतन्त्रतासंग्राम में भाग लेने के कारण ब्रिटिश शासन ने देश से निर्वासित कर यहीं भेजा था। उर्दू के इस कवि बादशाह की निम्न पंक्तियां मशहूर हैं–

इतना है बदनसीब जफ़र
कि दफ़न के लिए
दो गज़ ज़मीं भी न मिली कूए-यार में।

डॉ० सत्यव्रत ने इस शायर बादशाह की निम्न पंक्तिया उद्धृत की है–

बस ज़फ़र अब हो चुकी है
जंग-ए हिन्दुस्तान की
है यही अच्छा कि अब तुम
खैर माँगो जान की।।

और बहुत सही टिप्पणी की है इस बादशाह के अन्त पर–

'उस मुगल बादशाह का ऐसा दर्दनाक अन्त देख कर मन भर आया था हमारा। हमें लगा था कि हमारा कोई सगा-सम्बन्धी उस कब्र में दबा पड़ा था– अंग्रेज हुकूमत के अत्याचार का प्रतीक

बन कर।' जफर ही क्यों, बाद में इस म्यान्मा (बर्मा) के मांडले की जेल में अनेक क्रान्तिकारियों, स्वतन्त्रता-सेनानियों जैसे श्री बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपतराय तथा सुभाष चन्द्र बोस आदि को भी दण्डस्वरूप भेजा गया था।

यांगून की एक विशेषता वहाँ के संग्रहालय तो हैं ही बाजारों में पुस्तक स्टाल्स भी खूब है तथा पुरानी पुस्तकों के ढेर के ढेर लगे रहते हैं।

रामायण-विषयक सामग्री म्यान्मा के 'बगान' नामक स्थान में प्रभूत रूप में उपलब्ध है। 'बगान' के पूर्व नाम संस्कृतनिष्ठ थे- अनुराधापुर, अमरपुर आदि। 'बगान' शब्द की व्युत्पत्ति देते हुए डॉ० सत्यव्रत ने कहा है कि वह मूलत: 'प्यूग्राम' था। ग्राम 'गाम' में बदला, 'गाम' गान हो गया। 'प्यू' क्षेत्र का नाम था जो बाद में 'ब' में बदल गया। 'बगान' में रामायण सम्बन्धी भित्तिचित्र प्रस्तरफलक, काष्ठ पर उत्कीर्ण चित्र वहाँ के चार स्थानों से मिलते हैं जिनके नाम है 'अशे फेक् लेइप' 'आनन्दमन्दिर' गुब्यौ जी (म्यींग बा क्षेत्र में) तथा गुब्यौ जी (वेक् जी ई क्षेत्र में)। राष्ट्रीय संग्रहालय (1998) में अन्य वस्तुओं के साथ भगवान् बुद्ध के सिरों की प्रदर्शनी है।

'बगान' के निकटस्थ 'ताब्बन्यू बुद्ध' के पास में एक हिन्दू मन्दिर है जिसमें शयन मुद्रा में विष्णु तथा उनके दशावतारों की मूर्तियां हैं। शिव की खड़ी मूर्ति में चार भुजाएँ दिखाई गई हैं। विनायक तथा चतुर्मुख ब्रह्मा की मूर्तियाँ भी उस मन्दिर से प्राप्त हुईं। श्री राम के उत्कीर्ण चित्र भी यहाँ मिले हैं। रामायण चित्रों के अंकन बीडो फया इन्द्र मन्दिर से प्राप्त हुए हैं। म्यन्मा में राम की कुटिया के पास उछलता-कूदता हिरन चित्रांकित हुआ है। म्यम्ना समायण के पात्रों की वेशभूषा भारतीयों की तरह है। रामायण यहाँ पद्य-गद्य तथा नाट्यरूप में मिलती है। रामकथा में अन्य देशों की रामकथा की तुलना में भेद है।

एक और स्थान 'त खुट्टने' है जिस में एक बौद्ध भिक्षु ने पगोडा बनवाया। उसी पगोडा के वेदिका भाग पर 347 काष्ठ फलक है जिनमें श्रीराम की जीवनी अंकित है। अधिकांश क्षतिग्रस्त हो चुके हैं। इसी प्रकार 'मांडले' की ओर जाते समय 'पखां जी' बौद्ध विहार है वहाँ भी काष्ठफलकों पर रामायण अंकित है। म्यान्मा में प्रस्तर, काष्ठफलकों के अतिरिक्त चांदी पर भी रामकथा अंकित है। यांगून राष्ट्रीय संग्रहालय में 'चांदी के प्याले' पर और 'इन्ले' झील के शान मन्दिर में चांदी के एक कटोरे पर रामकथा उत्कीर्ण है।

म्यन्मा जैसे दक्षिणपूर्व एशिया के देशों की सबसे बड़ी विशेषता जो डॉ० सत्यव्रत ने बार-बार रेखांकित की है वह है बौद्धधर्म व हिन्दूधर्म का समन्वय। यूं भारतीय परम्परा तो बुद्ध को अवतारों में गिनती ही है वहाँ भी कोई विरोध दृष्टिगोचर नहीं होता।

म्यन्मा में रामकथा के एक ऐसे विद्वान् थे जिन्होंने रामकथा का अध्ययन करते हुए अपना नाम भी 'राम' रख लिया था। इनका मूल नाम था 'ऊ सो आं'। 1987 से ललित कला विभाग के ऊ 'औत्विं' ने रामकथा की प्रस्तुति प्रारम्भ की थी। इनका नाम था 'राम की पहिचान'। इसमें नौ देशों

ने भाग लिया था। इसके निष्कर्ष रूप में 1988 में एक ग्रन्थ भी प्रकाशित हुआ तथा एक सचित्र कैलेण्डर भी छपा। म्यन्मा में बहुत से विद्वान् हुए हैं जिन्होंने रामायण पर अनेक शोधलेख लिखे हैं। एक ऐसे विद्वान् हुए 'ऊ तई हाँ' जिन्होंने लगभग 10 लेख रामकथा पर लिखे। वे भारत के डॉ० राघवन् के म्यन्मा प्रवास में एक महीने उनके साथ रहे। एक और प्रोफेसर 'ऊ मौं मौं टिन' हैं जिनका मानना है कि रामायण दोनों देशों के बीच प्रबल सेतु है। आश्चर्यजनक तथ्य यह भी है कि जैसे भारत में रामायण दस दिन तक मंचित होती है म्यन्मा में सितम्बर-अक्टूबर के बीच रामायण का मंचन तथा उत्सव मनाया जाता है जो पहले 45 दिन तक चलता था पर अब मात्र कुछ घण्टों तक सिमट गया है।

भाषावैज्ञानिक डॉ० सत्यव्रत जिस भी देश की यात्रा करते हैं वहाँ के विशिष्ट शब्दों के संस्कृत मूल ढूंढते चलते हैं। ऐसे वर्णन पाठकों के लिए सूचना होते ही है साथ-साथ भारतीय परम्परा की विशेषता को रेखांकित करते हैं। जैसे बर्मा में 'मौल न्या ई' तथा 'करेन' सीमा पर एक नदी है जिसका नाम 'जाई' है जो 'जैन' की याद दिलाता है। इसी तरह भिक्षुओं को वहाँ 'यहोडा' कहा जाता है उसे वे 'अर्हन्त' से संबद्ध करते है क्योंकि 'इरावदी' नदी तक के भू-भाग में अनेक 'रहन्द' रहते थे ऐसा कहा जाता है। 'रहन' का 'अरिहन्त' से समीकरण कितना समीचीन है यह डॉ० सत्यव्रत ही जान सकते हैं। एक सामान्य पर्याटक को शायद समझ न आए। कारण 'रहन्द' का उच्चारण वहाँ 'यहाँडा' है।

'म्यन्मा' के अन्य कई तथ्य जैसे कुछ अभिलेखों का मिलना तथा अशोक काल की ईंटों पर मिले निशानों से लेखक ने सही निष्कर्ष निकाला है कि 'म्यन्मा की भारतीयकरण' की प्रक्रिया बहुत पहले शुरू हो चुकी थी ('चरन् वै मधु विन्दति' पृ० 242)।

यही नहीं यहाँ भी भारतानुप्राणित लोग मिलते हैं जो अपने को 'पोन्न' (पण्डि = ब्राह्मण) कहते हैं। वे बंगला बोलते हैं और प्रतिवर्ष लगभग हर रात रामायण नृत्य का आयोजन करते हैं। ऐसी तीन बड़ी बास्तियां वहाँ हैं जिनमें ये लोग रहते हैं। एक मांडले विश्व-विद्यालय के निकट 'बोडि गों' है जिसे 'बोधि-ग्राम' कहा जाता है। ब्राह्मण 'पगानकाल' में राजा के पुरोहित और ज्योतिषी हुआ करते थे ठीक वैसे ही जैसे कि 'थाइलैण्ड के ब्राह्मण' होते थे। वहाँ के एक विद्वान् के अनुसार म्यन्मा में एक तमिल राजवंश भी था। 2000 वर्ष पूर्व 'प्यू क्षेत्र से इसका संबंध था।

प्रो० 'ऊ मौं मौं टिन्' से नाटकों और नाट्यकला पर चर्चा करने का सौभाग्य लेखक को मिला। वहाँ के एक रोचक प्रसंग के बारे में पता चला। जब बर्मा के अन्तिम शासक को देश से निर्वासित किया गया तो उनकी पुत्रियों के कर्णवेध पर रामायण-प्रस्तुतियों का आयोजन किया गया। 'इ-नौं' तथा 'नौं' इन दोनों प्रकार के नाट्यों का मंचन 45 रात चलता रहा।

इसी चर्चा पता चला कि जब थाईलैण्ड की अयोध्या से रामायण यहाँ आई तब वहाँ के कुछ लोग यहाँ आकर बस गए। मांडले में ऐसे लोगों की एक अलग बस्ती है जिनका अपना 'पगोडा'

तो है ही उनके क्षेत्र की 29 नम्बर की गली में 'अयोध्या' मार्किट भी है। यही नहीं मांडले में 'यम' का एक मन्दिर भी है।

प्रो० ऊ मौं मौं टिन् के घर आतिथ्य रूप में लेखक को चावलों से बना केक खाने को मिला जिसे वहाँ की भाषा में 'के इक् मौं' कहा जाता है। प्रो० टिन् के अनुसार वह एक अयोध्याकाल का 'मिष्टान्न' है।

म्यन्या (बर्मा) में प्राचीन 'पगोडे' तो खूब हैं जो इस देश में व्यापक 'बौद्धधर्म' के प्रतीक है। ऐसा ही एक 'गबा ए' (विश्व शन्ति) पगोडा है। जिसके शिखर भाग पर 28 बुद्ध मूर्तियां है। वहाँ धातु पत्रों पर 'बुद्ध की मूर्ति' तथा दान देने वाले के नाम भी अंकित हैं। मन्दिर के गर्भगृह में भगवान् बुद्ध की चांदी की मूर्ति है जिसका वजन 500 किलोग्राम है। भित्ति चित्रों पर भगवान् बुद्ध की 'जीवन-गाथा' अंकित है। इसी 'पगोडे' के समीप 'महासत्य पन्नि' नाम की पाषाण गुफा है जहाँ 1952 में छठी संगीति (बौद्ध सम्मेलन) आयोजित हुई थी। एक बड़े हाल में दस हजार लोगों के बैठने की व्यवस्था थी। बौद्धधर्मग्रन्थों कि समीक्षा कर उनके प्रामाणिक पाठ कागज पर लिखे गए। मांडले में उसे पत्थरों पर उत्कीर्ण किया गया।

म्यन्मा में लेटे हुए बुद्ध की विशाल मूर्ति का निर्माण वर्ष 1906 में हुआ था। 1966 में इसका पुननिर्माण हुआ। यह 70 मीटर लम्बी है तथा 20 मीटर ऊंची है। म्यन्मा में दिनवार अलग-अलग दिशाओं का प्रतिनिधित्व करते हैं तथा इनके प्रतीक चिह्न भी अलग-अलग हैं। ये प्रतीक भारतीय संस्कृति के ही प्रतीक हैं। व्याघ्र, सिंह, हाथी, मूषक, सुअर, सर्प तथा गरुड क्रमशः सोम से रविवार तक के प्रतीक चिह्न हैं।

सिंह और हाथी तो अत्यन्त प्रिय प्रतीक जान पड़ते हैं इस देश के जिनकी एक कथा वहाँ के राज-सिंहासन पर भी अंकित है। मांडले के राजसिंहासन को अंग्रेज 1886 में कलकत्ता ले गए थे पर भारत ने 1948 में सौजन्यता के रूप में उसे लौटा दिया।

किसी भी स्थान पर हम जाते हैं तो वहाँ के लोगों से परिचय होने पर उस स्थान की प्रामाणिक जानकारी प्राप्त होती है। भारतीय दूतावास के सज्जन एल. दुराई राज से हुई भेंट से बहुत सी अन्य रोचक जानकारी लेखक को प्राप्त हुई जो हम जैसे पाठकों के लिए भी बहुत महत्त्वपूर्ण है। किसी भी स्थान, किसी भी देश की संस्कृति, वहाँ के लोगों के मध्य होने वाली बातचीत या लड़ाई अथवा उनके नामों से पता चलती है। म्यन्मा में जो लोग हिन्दुओं या बौद्धों से ईसाई बनते हैं वे अपना नाम फूल पत्तों पर रखते हैं राम, सीता, सावित्री आदि नहीं। जबकि अन्य लोग ऐसे ही नाम रखते हैं। 'राम' नाम रखने में तो वे 'गौरव' महसूस करते हैं। 'रिचर्ड' को वहाँ 'लीचड़' कह कर छेड़ते हैं तथा जब दो भाई आपस में लड़ते-रहते हैं तो उन्हें कहा जाता है कि बालि-सुग्रीव की तरह क्यों लड़ते रहते हो।

इस प्रकार यह संस्मरण 'भारत-म्यान्मा' के संबंधों की प्राचीनता को रेखांकित करता है तथा

संस्कृत और भारतीय-संस्कृति की विशेषताओं को वहाँ के आधुनिक जीवन और भाषा में प्रतिबिम्बित करता है।

यह संस्मरण आज से लगभग दो दशक पूर्व की गई यात्रा पर आधृत है। उस समय सैन्य-शासन के दबदबे के कारण कॉलेज विश्वविद्यालय सब बंद पड़े थे। छात्र दिशाहीन तो सामान्यजन सहमे हुए थे। 21 वीं सदी में देखें तो आज भी प्रजातंत्र की स्थापना के बावजूद सैन्य-शासन जारी है। रोहिंग्या मुसलमान सैन्य काईवाई से बचने के लिए बंगलादेश की सीमा में चले गए हैं। 2015 में आम चुनाव होने के बाद 'आंग सू की' नोबेल पुरूस्कार विजेता की पार्टी 'नेशनल लीग फॉर डेमोक्रेसी' जीती है। पर तब भी कई मामलों में सैन्य-शासन का दबदबा है। म्यन्मा के राष्ट्रपति की भारत यात्रा अभी इसी वर्ष हुई है। विश्वास है दोनों देशों के आपसी संबंध प्रगाढ़ होंगे। राम तथा बौद्धधर्म को मानने वाले देश में हिंसा की जगह शान्ति स्थापित होगी।

• • •

24

डा॰ सत्यव्रतशास्त्रीकृतगुरुगोविन्दसिंहचरित्रवर्णन 'श्रीगुरुगोविन्दसिंहचरितम् के परिप्रेक्ष्य में'*

डा॰ विशाल भारद्वाज

वैदिक काल से ही पञ्जाब संस्कृत साहित्य की समृद्धि में अपना बहुमूल्य योगदान प्रदान करता आया है। कतिपय वैदिक सूक्तों की रचना इस पञ्चनद प्रदेश में हुई, गायत्री मन्त्र के द्रष्टा ऋषि विश्वामित्र का सम्बन्ध इसी प्रदेश से रहा है। परम्परागत एक धारणा बठिण्डा क्षेत्र में मार्कण्डेय ऋषि के आश्रम के अस्तित्व को संकेतित करती है। विश्वविख्यात महान् वैयाकरण पाणिनि एवं व्याडि, छन्दःशास्त्र के प्रणेता आचार्य पिंगल, अर्थशास्त्र के रचयिता आचार्य कौटिल्य, आयुर्वेद विशारद चरक व बौद्ध कवि अश्वघोष आदि का सम्बन्ध भी पञ्जाब से रहा है। ये समस्त दृष्टान्त यह सिद्ध करते हैं कि पञ्जाब संस्कृत साहित्य का स्रोत एवं भण्डार रहा है।

पञ्जाब के संस्कृत साहित्यकारों की बात करें तो डा॰ शिवप्रसाद भारद्वाज, श्री देवदत्त भट्टि, डा॰ श्यामदेव पाराशर, पण्डित चारुदेव शास्त्री, प्रिंसीपल जगद्राम शास्त्री, स्वयंप्रकाश शर्मा, डा॰ जगदीश प्रसाद सेमवाल, डा॰ शशिधर शर्मा, डा॰ शुकदेव शर्मा 'मुनि', डा॰ दलबीर सिंह चाहल आदि विद्वानों ने अपनी साहित्य रचना से साहित्यिक क्षेत्र में इस पञ्जाब के गौरव को सवर्द्धित किया है। इन विद्वानों की श्रृंखला में एक नाम जो कि बहुत ही सम्माननीय है, वह है -- डा॰ सत्यव्रत शास्त्री।

सांख्यदर्शन का सिद्धान्त है कि कारण के गुण कार्य में आ जाते हैं '..कारणभावाच्च सत्कार्यं'[1]। यह बात पञ्जाब की धरती पर जन्म प्राप्त आदरणीय डा॰ सत्यव्रत शास्त्री जी पर पूर्णतः चरितार्थ होती है।

'वाचस्पति' उपाधि से विभूषित, पञ्जाब के शिरोमणि साहित्यकार, 'राष्ट्रपति सम्मान' से अलंकृत, 'अभिनव पाणिनि' के रूप में सुप्रसिद्ध वैयाकरण अपने पिता पण्डित चारुदेव शास्त्री से डा॰ सत्यव्रत शास्त्री जी को विद्वता पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त हुई है।

1. सांख्यकारिका, कारिका-9

उपाधियां, सम्मान आदि प्राप्ति के क्षेत्र में डा० सत्यव्रत शास्त्री जी ने अपने पिता श्री को कहीं पीछे छोड़ दिया है, जो कि एक पिता के लिए अत्यन्त हर्ष का विषय है। गुरु तेगबहादुर जी (पिता) तथा गुरुगोविन्दसिंह जी (पुत्र) के सन्दर्भ में अभिव्यक्त डा० सत्यव्रत शास्त्री जी का यह वाक्य "...ज्योतिः स्वयं ज्योतिष एव जातः प्रवर्तितो दीप इव प्रदीपात्"[1] पण्डित चारुदेव शास्त्री (पिता) एवं डा० सत्यव्रत शास्त्री (पुत्र) पर भी पूर्णतः चरितार्थ होता है।

डा० सत्यव्रत शास्त्री जी की श्रीबोधिसत्त्वचरितम्, श्रीगुरुगोविन्दसिंहचरितम्, इन्दिरागान्धीचरितम्, थाईदेशविलासम्, श्रीरामकीर्त्तिमहाकाव्यम्, शर्मण्यदेशः सुतराम् विभाति, पत्रकाव्यम् अनेक काव्य-कृतियां हैं, जिन्होंने पञ्जाब के नाम को उज्ज्वल किया है। इन कृतियों में सिक्ख सम्प्रदाय के दशम गुरु को आधार बनाकर लिखा गया 'श्रीगुरुगोविन्दसिंहचरितम्' नामक काव्य अत्यन्त प्रशंसनीय है। चार सर्गों में विभक्त इस काव्य के माध्यम से डा० सत्यव्रत शास्त्री जी ने गुरुगोविन्दसिंह जी के चरित्र का अत्यन्त मार्मिक एवं सजीव वर्णन प्रस्तुत किया है।

'खालसा' अर्थात् शुद्ध एवं पवित्र पन्थ की स्थापना, 'निर्मल' अर्थात् 'मलरहित' भाव गन्दगी से रहित सम्प्रदाय के प्रादुर्भाव की पृष्ठभूमि में श्रीगुरुगोविन्दसिंह जी की भूमिका तथा 'संस्कृत' अर्थात् परिमार्जित एवं शुद्ध भाषा के प्रति गुरु जी का अनुराग ये सभी तथ्य गुरुगोविन्दसिंह जी के व्यक्तित्व में शुद्धि एवं पवित्रता के प्रति प्रेम को प्रदर्शित करते हैं।

कवि ने यह कह कर- ' गुरुगोविन्दसिंह जी क्रोधावस्था में फड़फड़ाते हुये ओंठों से युक्त साक्षात् भगवान् शिव के समान प्रतीत होते थे तथा इनका नाम सुनने मात्र से ही शत्रु सेना भयभीत हो जाती थी। ब्रह्मस्वरूप गुरुगोविन्दसिंह जी का चरित्र वर्णन करने में कौन समर्थ हो सकता है? फिर भी उनकी महानता मुझे उनका चरित्र वर्णन करने के लिये प्रेरित कर रही है'- गुरु जी के प्रति अपने श्रद्धा कुसुम को समर्पित किया है -

यन्नाममात्रश्रवणेन सद्यः सैन्यं रिपूणां बिभयाञ्चकार।
कोपारुणाक्षः स्फुरिताधरो यः साक्षादयुग्माक्ष इवाबभासे।।
तस्य प्रभोर्ब्रह्ममयस्य पुंसः कः शक्नुयाद्वर्णयितुं चरित्रम्।
तथाऽपि तद्गौरवमेव मां तच्चरित्रगाने मुखरीकरोति।।[2]

धर्म की रक्षा करने के व्रत को धारण करने वाले गुरु तेग बहादुर जी[3] के सुपुत्र गुरुगोविन्दसिंह जी का जन्म भी इस धरा पर धर्म की रक्षा हेतु ही हुआ था -

1. श्रीगुरुगोविन्दसिंहचरितम्, 1.4
2. श्रीगुरुगोविन्दसिंहचरितम्, 1.3,5
3. यो धर्मरक्षाचरितव्रतस्य सुतः पितुस्तेगबहादुरस्य।..
श्रीगुरुगोविन्दसिंहचरितम्, 1.4

सञ्जातमात्रे भुवि देवदेवे धर्मस्य संस्थापनमात्रहेतोः।..[1]

इस काव्य के प्रथम सर्ग में गुरुगोविन्दसिंह जी को धर्म, गाय एवं ब्राह्मणों के रक्षक तथा दुष्टों के लिए दण्डधारक के रूप में चित्रित किया गया है -

धर्मस्य गोप्ता सुजनस्य पाता गोब्रह्मणानां परिरक्षिता च।
विद्वन्मनोमोहयिता गुणैः स्वैर्दुष्टस्य यो दण्डयिता जनस्य।।[2]

ब्राह्मणों, गायों की हत्या, देव-प्रतिमाओं को तोड़ना, बलपूर्वक धर्मपरिवर्तन करना आदि औरंगजेब के अत्याचारों से जन-मानस एवं धर्म की रक्षा के लिए किसी एक वीर पुरुष के बलिदान की आवश्यकता की बात को सुनकर गुरुगोविन्दसिंह जी का अपने पिता को सहजभाव में ही बलिदान के लिए प्रेरित करना इनकी बाल्यकाल से धर्मरक्षा प्रवृत्ति को द्योतित करता है -

स ब्रह्मणान् हन्ति हिनस्ति गाश्च भनक्ति देवप्रतिमाश्च दुष्टः।
ददद् बलाद्यावनधर्मदीक्षां स्वमाततायित्वमथो व्यनक्ति।।

कश्चिन्नृवीरो नृपतेरमुष्य प्रतीपमाचारमथादधानः।
तत्क्रोधवह्नौ शलभायते चेद् भवेत्स्वधर्मस्य ततोऽभिरक्षा।।

आकर्ण्य वाचः स पितुः प्रवाचो निसर्गभावाच्छिशुराह वाचः।
कोऽन्यो धरायां त्वदृतेऽस्ति तात! यो दुष्करं कार्यमिदं विदध्यात्।।[3]

गुरुगोविन्दसिंह जी के व्यक्तित्व को स्पष्ट करते हुए डा० सत्यव्रत शास्त्री जी का कथन है कि गुरुगोविन्दसिंह जी सैंकड़ों सूर्य के तेजतुल्य तेजस्वी तथा सैंकड़ों चन्द्रों की कान्ति के समान कान्तिमान् थे -

स तेजसा सूर्यशतप्रतापः कान्त्या तथा चेन्दुशताभिरामः।..[4]

बाल्यकाल से ही गुरु जी के भीतर कृपाण का कुशल प्रयोग करना, बाणों की वर्षा तथा युद्धाभ्यास करना आदि गुणों को डा० सत्यव्रत शास्त्री जी ने चित्रित किया है -

स बाललीला विविधाः प्रकुर्वन्नावर्जयन्नात्मजनस्य चेतः।
पक्षे विपक्षे व्यभजत्स मित्राण्यथाकरोत् कौतुकयुद्धमेभिः।।

---

1. श्रीगुरुगोविन्दसिंहचरितम्, 1.15
2. श्रीगुरुगोविन्दसिंहचरितम्, 1.2
3. श्रीगुरुगोविन्दसिंहचरितम्, 1.45-47
4. श्रीगुरुगोविन्दसिंहचरितम्, 1.14

वीरायमाणः सवयस्सु तेषु कृपाणिकाटोपभयङ्करोऽसौ।
बाणान् प्रवर्षन् कृतकान् भविष्यद्योद्धृत्वमख्यापयदात्मनोऽद्धा।।[1]

युद्ध में गुरु जी के रौद्र स्वरूप का बहुत ही श्रेष्ठ वर्णन डा० सत्यव्रत शास्त्री जी ने किया है -

गुरुस्तदा रुद्र इव प्रजानां संहारकाले भयमादधानः।
बाणान् प्रवर्षन् परितः प्रसर्पन् चञ्चद्द्विजिह्वानिव भीमरूपान्।।[2]

गुरु पद को प्राप्त कर सेना के नेतृत्व में प्रवीण श्रीगुरुगोविन्दसिंह जी ने धर्म-रक्षा हेतु क्षत्रिय-धर्म को धारण करने की आवश्यकता को देखते हुये अस्त्र-शस्त्र की विद्या का ज्ञान अपने शिष्यों को प्रदान किया -

व्यजिज्ञपच्चापि स शिष्यवर्यान् क्षात्रेण धर्मेण विना नहि स्यात्।
स्वधर्मरक्षेति भवन्त एव सैन्यं ममाद्यावधि सम्भवेत।।
सैन्यादिनेतृत्वविधौ प्रवीणः सविग्रहः क्षत्रियधर्म एषः।
अश्वादिकारोहणमस्त्रशिक्षां प्रादात्स्वयं शिष्यवरेभ्य एभ्यः।।[3]

विभिन्न शास्त्रों, पुराणों, आख्यानों आदि को पढ़ने की भी श्रीगुरुगोविन्दसिंह जी की अत्यन्त रुचि को डा० सत्यव्रत शास्त्री जी ने अभिव्यक्त किया है -

शास्त्राणि नित्यं परिशीलयन्ती पुराणमाख्यानमथो वदन्ती।
दृश्यं मनोज्ञं च निभालयन्ती दुर्गेऽवसद् ज्ञानमसौ दिशन्ती।।[4]

साथ ही साथ डा० सत्यव्रत शास्त्री जी ने श्रीगुरुगोविन्दसिंह जी द्वारा चण्डीस्तुति[5], विचित्रनाटक[6] आदि की रचना का भी उल्लेख किया है।

जन कल्याण की भावना को प्रमुख रखते हुये[7] श्रीगुरुगोविन्दसिंह जी ने धर्म, जाति,

---

1. श्रीगुरुगोविन्दसिंहचरितम्, 1.20-21
2. श्रीगुरुगोविन्दसिंहचरितम्, 4.16
3. श्रीगुरुगोविन्दसिंहचरितम्, 1.79,82
4. श्रीगुरुगोविन्दसिंहचरितम्, 2.19
5. प्रावीण्यमाप्तः परमं स तासु गिरासु यातो विजने प्रदेशे।
वनश्रिया सत्क्रियमाण आर्यः काव्यं मनोहारि चकार चारु।।
चण्डीस्तुतिं स्तोत्रवरं च देव्या अकालपूजां बहु चापरं च।
स ग्रन्थपूगं रचयाम्बभूव रुच्यं कवीनामुपजीव्यभूतम्।। श्रीगुरुगोविन्दसिंहचरितम्, 2.21-22
6. अपीडितः केनचनापि चासौ "गुरुर्मनीषी परिभूः" पवित्रः।
निजेतिवृत्तं निबबन्ध दिव्यं विचित्रनाट्याभिधपुस्तकेन।। श्रीगुरुगोविन्दसिंहचरितम्, 3.2
7. (क).. विचिन्तयामास च [illegible]।।
(ख).. ब्रह्मेव सृष्टिरधिपः प्रजानां सर्वस्य लोकस्य हिते प्रवृत्तः।। श्रीगुरुगोविन्दसिंहचरितम्, 3.4,6

देश, वर्ण आदि में भेद को मिटाते हुये एक ऐसे खालसा पन्थ की स्थापना की जिसमें सैंकड़ों लोग गुरु जी के शिष्य बन गये -

न धर्मभेदो न च जातिभेदो न देशभेदो न च वर्णभेदः।
इति प्रपन्नाः शतशोऽथ लोकाः सहस्रशोपि तदीयमार्गम्।।[1]

गुरु जी के भीतर विद्यमान शूरवीरता, पराक्रम, स्थिरता, धैर्य एवं बलोत्कर्ष का प्रतिपादन डा० सत्यव्रत शास्त्री ने किया है, जिसके फलस्वरूप इनके शत्रु युद्ध छोड़कर पलायन कर जाते थे -

आलोक्य शौर्यं च पराक्रमं च स्थैर्यं च धैर्यं च बलं च तेषाम्।
आलिफ्चमूः कातरतां प्रपन्ना रणाजिरादेव पलायताशु।।[2]

इसके फलस्वरूप सम्राट् औरंगजेब ने जब गुरु जी को राजकोप को याद करने तथा चपलता को त्यागने का आदेश भेजा तो गुरु जी ने इस आदेश की तिनके के समान अवहेलना करते हुये अपने शिष्यों के लिये वैशाख मास के प्रथम दिवस को आनन्दपुर में एकत्रित होने का संदेश भेजा -

आदेशमेतं यवनाधिपस्य गोविन्दसिंहः स तृणाय मेने।
शिष्यान् स्वकीयांश्च समादिदेश वैशाखमासि प्रथमेऽह्नि पुण्ये।।[3]

गुरु जी की नेतृत्व शक्ति का इस बात से पता चलता है कि गुरु जी की आज्ञा को सर्वोपरि मानते हुये गुरु जी के शिष्य तथाकथित तिथि को उसी प्रकार आनन्दपुर पहुंच गये जिस प्रकार जल समुद्र की ओर प्रवृत्त होता है -

समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत् तद्वत् पुरं शिष्यवराः प्रविष्टाः।
आज्ञां वहन्तो शिरसा गुरोस्ते मुदा परीताः परया, विनीताः।।[4]

श्रीगुरुगोविन्दसिंह जी ने वहां सभा के सम्मुख एक विलक्षण घोषणा करते हुये कहा कि उनकी तलवार रक्त की प्यासी है एवं धर्म रक्षा के लिये उनके किसी वीर शिष्य की बलि की इच्छुक है -

अस्त्यत्र कश्चिन्मम शिष्यवीरो धर्माय योऽथो गुरवे निजाय।
दद्याद् बलिं स्वं प्रियमद्य शिष्याः खड्गोऽद्य मे रक्तपिपासुरस्ति।।[5]

---

1. श्रीगुरुगोविन्दसिंहचरितम्, 3.46
2. श्रीगुरुगोविन्दसिंहचरितम्, 2.46
3. श्रीगुरुगोविन्दसिंहचरितम्, 2.50
4. श्रीगुरुगोविन्दसिंहचरितम्, 3.9
5 श्रीगुरुगोविन्दसिंहचरितम्, 3.14

गुरु जी की इस वाणी को सुनकर दयाराम, धर्मदासादि इनके पांच भक्तों ने स्वयं के लिये गुरु जी की तलवार से प्राण त्याग श्रेयस्कर मानते हुये स्वयं को गुरु जी के आगे समर्पित कर दिया -

गुरोऽस्मि सज्जस्तव पूज्यपादपद्मोपसेवी च तवास्मि भक्तः।
निपातयासिं मम मूर्ध्नि सद्यो नान्यद्वरं मे मरणात्तवासेः।।[1]

गुरुगोविन्दसिंह जी ने अपने प्राण तक समर्पित करने की भावना रखने वाले इन पांच शिष्यों को 'पञ्च प्यारे' की संज्ञा प्रदान की -

ते पञ्च शिष्या गुरुकार्यहेतोः प्राणान् निजांस्त्यक्तुमथ प्रवृत्ताः।
गुरोः प्रियाः 'पञ्च प्रिया' इतीमामभ्यर्हगीयां पदवीमवापुः।।[2]

इन शिष्यों को अमृत पिलाकर एवं दीक्षा प्रदान कर गुरुगोविन्दसिंह जी ने खालसा नामक नवीन पन्थ की स्थापना की -

एवं स नूत्नं भुवि खालसाख्यपथं समुद्भाव्य सुखेन वीरः।
शस्त्रास्त्रपाणिः कृतधीस्सुधीभिः शिष्यैस्समेतस्समयं निनाय।।[3]

अपने दो पुत्रों के युद्ध करते हुये वीरगति को प्राप्त होने पर[4] तथा दो पुत्रों को शत्रुओं द्वारा जीवित दीवार में चिनवा दिये जाने पर[5] भी हिमालय की भान्ति गुरुगोविन्दसिंह जी का अन्तरंग व्यथित नहीं हुआ तथा उन्होंने कहा," हे ईश्वर! मुझे सब कुछ तुम्हीं से प्राप्त हुआ था एवं सब कुछ तुम्हीं को समर्पित कर दिया है। मुझे इसमें कोई भी खेद नहीं है.." –

वृत्तं यदा दारुणमेतदाप गोविन्दसिंहो दशमो गुरूणाम्।
न विव्यथे तस्य तदान्तरङ्गं हिमालयस्येव भृशं दृढस्य।।

---

1. श्रीगुरुगोविन्दसिंहचरितम्, 3.17
2. श्रीगुरुगोविन्दसिंहचरितम्, 3.28
3. श्रीगुरुगोविन्दसिंहचरितम्, 3.44
4. एको ह्यनेकैर्न शशाक योद्धुं चिरं कुमारः सुकुमारकायः।
घोरैः प्रहारैः क्षतविक्षतश्च लोकान् स्वपुण्येन जितानवाप।।
सोऽप्येक एवात्र गतोऽरिमध्यं कार्यं प्रचक्रे बहुभिः सुसाधम्।
प्राणांश्च हत्वा निजशात्रवाणां वीरातिवीरः सुरलोकमाप।।
श्रीगुरुगोविन्दसिंहचरितम्, 4.28,30
5. राजाज्ञया तौ दृढभित्तिमध्यान्नीतौ च कारागृहमापितौ च।..
श्रीगुरुगोविन्दसिंहचरितम्, 4.73

त्वत्तो हि लब्धं जगदीश! सर्वं त्वय्यर्पितं, मेऽस्ति न कोऽपि खेदः।
"त्वमस्य विश्वस्य परं निधानं त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता"।।[1]

क्षत्रिय शब्द का संसार में प्रसिद्ध अर्थ है - स्वयं की हानि से भी दूसरे की रक्षा करना-

"क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।"..[2]

गुरुगोविन्दसिंह जी ने अपने पिता और पुत्रों के बलिदान से क्षात्र-धर्म का पूर्णतः पालन किया।

अतः डा० सत्यव्रत शास्त्री जी ने अपनी विलक्षण भाषा शैली का परिचय देते हुये पञ्जाब के शूरवीर योद्धा श्रीगुरुगोविन्दसिंह जी का चरित्र बहुत ही प्रभावोत्पादक ढंग से किया है।

• • •

1. श्रीगुरुगोविन्दसिंहचरितम्, 4.75-76
2. श्रीगुरुगोविन्दसिंहचरितम्, 4.19

25

दशमगुरुपरिवार की न्यायपथदृढ़ता को प्रो० सत्यव्रत शास्त्री का नमन

दलबीर सिंह

'अद्यैव वा मरणमस्तु युगान्तरे वा न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीराः (नीतिशतक 86)' भर्तृहरि का यह कथन दशमगुरु गोविन्दसिंह जी के साथ साथ उनके परिवार पर भी पूर्णरूपेण चरितार्थ होता है, क्योंकि परिवार ने भी अपने प्राण तो न्यौछावर कर दिये परन्तु राष्ट्र तथा धर्म की रक्षा करते हुए न्याय पथ नहीं छोड़ा। दशमगुरुपरिवार की इस न्यायपथदृढ़ता को डॉ० सत्यव्रत शास्त्री ने अपने 'श्रीगुरुगोविन्दसिंहचरित' काव्य में बड़ी सुन्दर रीति से नमन किया है। दशमगुरु के जीवन एवं दर्शन पर निबद्ध इस काव्य के प्रथम सर्ग में नवमगुरु तेगबहादुर जी बादशाह औरंगजेब के अत्याचारों विशेषतः बलात् धर्म परिवर्तन नीति के कारण चिन्तामग्न दिखाई देते हैं। पूछने पर वे अपने पुत्र (आयु 9 वर्ष) गोविन्दसिंह को बताते हैं कि बादशाह की क्रूरनीति से स्वधर्म की रक्षा के लिये किसी पुरुषसिंह को प्राणों की बाजी लगानी पड़ेगी। यह सुनते ही बालक गोविन्दसिंह के मुखारविन्द से ये शब्द प्रस्फुटित होते हैं –

कोऽन्यो धरायां त्वदृतेऽस्ति तात!
यो दुष्करं कार्यमिदं विदध्यात्।। 1.47

'पिता जी, जगत् में आप से बढ़कर अन्य कौन है जो इस दुष्कर कार्य को पूर्ण कर पायेगा?' अपने बालक की इस बड़ी सोच पर नवमगुरु बहुत प्रसन्न हुए तथा शासकीय अत्याचारों के विरुद्ध आवाज बुलन्द करने के लिये दिल्ली की ओर चल पड़े। मार्ग में जनता को धर्मोपदेश देते देते जब वे आगरा पहुंचे तो सिपाही उन्हें बन्दी बनाकर दिल्ली ले आये। वहां पर बादशाह ने तेग बहादुर जी को इस्लाम धर्म में लाने के अनेक प्रयत्न किये परन्तु सफलता न मिली। गुरु जी को भयभीत करने के लिये उनके सामने ही उनके शिष्यों की जान अमानवीय यातनाओं द्वारा ली गई। मतिदास को सिर से पैरों तक आरे से चीरा तथा दयालु को उबलते पानी में डाल दिया गया–

आशीर्षपादं प्रविदार्य कायमार्यस्य दीप्तं मतिदासनाम्नः।
दयालुसंज्ञस्य निचिक्षिपुस्ते तप्तोदकुण्डे सुदृढं शरीरम्।। 1.56

जब ये क्रूर कर्म भी गुरुतेगबहादुर जी को न्यायपथ से विचलित न कर पाये तो क्रुद्ध बादशाह ने उनके वध का आदेश दे दिया। वध का भय भी गुरु जी को अस्थिर न कर पाया। जल्लाद ने चांदनी चौक में जन समूह के सामने गुरुतेगबहादुर जी का पवित्र सिर उनके धड़ से अलग कर दिया।

यह घोर पाप कर लेने पर भी शासकीय क्रूरता सन्तुष्ट न हुई। गुरु जी की न्यायपथदृढ़ता का दण्ड उनके मृत शरीर को भी सहना पड़ा। बादशाह के भय से गुरु जी के मृत शरीर को वहां से उठाना तो दूर की बात, कोई छू भी नहीं सकता था। उन पलों का वर्णन करते हुए शास्त्री जी की कलम का अश्रुपात थमने का नाम नहीं लेता–

यदा न कश्चिद् यवनाधिराज-
त्रासाद् वपुस्तद् व्यपनेतुमायात्।
तदातिकोपाद् भुवि भीमरूप-
श्चचार वात्यामिषतो नभस्वान्।।

तद् वन्दनीयं महसां हि राशेः
शिरोऽलुठद् भूमितले गुरोर्हा।
वपुस्तथा चन्दनचर्चितांगं
बभूव हा हन्त! रजोऽवकीर्णम्।। 1.64,63

अन्ततः जब येन केन प्रकारेण 'जैता' नामक शिष्य को सिर तथा 'लुबाणा' (लक्खीशाह नामक) शिष्य को धड़ उठा लाने में सफलता मिली तब जाकर गुरु जी के मृत शरीर को किसी प्रकार यथासम्भव सम्मान मिल पाया।

न्यायपथदृढ़ता गुरुगोविन्दसिंह के पिता जी की ही नहीं, पुत्रों की भी स्मरणीय है।

'श्रीगुरुगोविन्दसिंहचरित' के चतुर्थ सर्ग में हम देखते हैं कि दशमगुरु जी अपने दो बड़े पुत्रों अजीत सिंह, जुझार सिंह तथा कुछ शिष्यों के साथ चमकौर नामक स्थान पर ठहरे हुए थे। विशाल शाही सेना उन्हें घेर लेती है। उस युद्ध में वीरगति प्राप्त करते करते जब मात्र बीस सिक्ख बचते हैं तो गुरु जी का बड़ा पुत्र अजीत सिंह (आयु 17-18 वर्ष) भी युद्ध में कूदने की अनुमति मांगता है–

'क्षतात्किल त्रायत इत्युदग्रः
क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।'
ततोऽनुजानीहि रिपोश्चमूनां
त्रासाय नाशाय च मां पितस्त्वम्।। 4.19

शास्त्री जी के अनुसार उसने युद्ध में अपने कौशल से अभिमन्यु का स्मरण करवा दिया–

ततः स पित्रानुमतः प्रतस्थे
योद्धुं कुमारोऽजितसिंहनामा।
यथाऽभिमन्युः कुरुयुद्धमध्ये
तथैव सोऽयुध्यत वीरपुत्रः।। 4.21

उसके हाथों अनेक शत्रुओं का विनाश होता देख शत्रु सैनिकों ने मिलकर उसे चारों ओर से घेर लिया। उस के वीरगति को प्राप्त होने का वर्णन शास्त्री जी इस प्रकार करते हैं–

एको ह्यनेकैर्न शशाक योद्धुं
चिरं कुमारः सुकुमारकायः।
घोरैः प्रहारैः क्षतविक्षतश्च
लेकान् स्वपुण्येन जितानवाप। 4.28

जुझार सिंह (आयु 13-14 वर्ष) ने भी बड़े भाई अजीत सिंह का अनुसरण करते हुए युद्ध में मृत्यु को गले लगाया–

सोऽप्येक एवात्र गतोऽरिमध्यं
कार्यं प्रचक्रे बहुभिः सुसाधम्।
प्राणांश्च हृत्वा निजशात्रवाणां
वीरातिवीरः सुरलोकमाप। 4.30

दशमगुरु के दो छोटे बच्चों की न्यायपथदृढ़ता का तो कहना ही क्या!

सरसा नदी को पार करते समय पुत्र गुरुगोविन्दसिंह से बिछुड़ी माता (गुजरी जी) तथा दो छोटे गुरुपुत्रों जोरावर सिंह एवं फतेहसिंह को एक तो शत्रुसैनिकों से भय था, ऊपर से उन्हें भयंकर शीत का सामना करना पड़ रहा था। ऐसे में उन्हें आश्रय मिला उनके एक पुराने सेवक गंगू का जो उन्हें अपने घर ले गया। उन्हें तो उस पर विश्वास था परन्तु उसने लोभ में फंस कर उनकी आभूषणों भरी पोटली चुरा ली। पूछने पर वह उलटा उन्हें ही अकृतज्ञ सिद्ध करते हुए कोसने लगा–

मया कृता ते तव पौत्रयोश्च
प्राणात्ययेनापि शठे! सुरक्षा।
कृतस्य तस्य प्रतिकार एष
दत्तस्त्वया मे हृतभाग्ययाऽद्य।। 4.48

इतना ही नहीं, गंगू अपने चौर्यकृत्य पर पर्दा डालने के लिये गद्दारी तक कर बैठा। सरहिन्द के (मुगल) प्रशासक को उसने गुरुमाता तथा गुरुपुत्रों की सूचना दे दी–

उवाच चैनं मयि सन्ति राजन्!
गुरोश्च माता गुरुपुत्रकौ च। 4.49

उन तीनों को बन्दी बना कर रात भर कष्टदायक स्थान में रखा गया। अगले दिन उन्हें सभा में पेश करना था। पौत्रों के साथ जाने के लिये विलाप करती वृद्धा दादी को वहीं छोड़कर सिपाही दोनों बच्चों को सभा में ले आये। सरहिन्दराज की उस भरी सभा में पहुंच कर 7-8 वर्ष तथा 5-6 वर्ष की आयु के उन गुरुपुत्रों ने अपनी निर्भीकता से सब को आश्चर्य में डाल दिया-

अहो बलं स्थैर्यमहो च सत्त्व-
मित्येवमुच्चैर्वचनं च प्रोचुः।। 4.55

उन्हें भयंकर वध का भय दिखाकर धर्म परिवर्तन के लिये सहमत करने का प्रयास किया गया जिसे शास्त्री जी इस प्रकार प्रस्तुत करते हैं-

बद्धांजली तूर्णमिहाभ्युपेतुं
बालौ युवां यावनधर्मदीक्षाम्।
नो चेद्युवां रोषण एष राजा
क्रूरः पुरा मारयति श्वमारम्।। 4.58

मृत्यु का भय उन बालकों के न्याय्यपथ को छू भी नहीं पाया। क्रूर प्रशासक के मुंह पर उन्होंने जिस स्वधर्मदृढ़ता का परिचय दिया उसे शास्त्री जी ने बड़े मनोहर रूप में निबद्ध किया है-

पिता स्वयं धर्ममुपादिशन्नौ
माता ददौ नौ पयसा च धर्मम्।
धर्माय नौ जीवितमत्र विद्धि
तं धर्ममावां हि कथं त्यजाव।। 4.60

भाव यह कि 'पिता जी ने हमें धर्म सिखाया है, माता जी ने दूध के साथ धर्म का पान कराया है। यह समझ लो कि हमारा जीवन है ही धर्म के लिये। अतः हमें उस धर्म से कोई कैसे विचलित कर सकता है?'

जब वध का भय भी काम न आया तो गुरुपुत्रों को धर्मपरिवर्तनार्थ विविध प्रलोभन दिये गये। शासन की समझ में यह बात आई ही नहीं कि धर्मपुरुष के जिन बच्चों को वध का भय अस्थिर नहीं कर सका, प्रलोभनों की क्या औकात होगी?-

सुतौ कथं धर्ममयस्य पुंस
आवां स्वधर्मं भुवि सन्त्यजाव।
किं नौ सुखेनाथ च वैभवेन
'प्राणैरुपक्रोशमलीमसैर्वा।।' 4.65

सभी प्रयास विफल हो जाने पर सरहिन्द के प्रशासक ने सिपाहियों को आदेश दिया कि इन बच्चों को दीवार में जीवित ही चिनवा दिया जाये। कदाचित् उस नृशस प्रशसक को यह आश थी

कि ज्यों ज्यों दीवार ऊपर आती जायेगी त्यों त्यों बच्चों का धैर्य जाता रहेगा। धीरे धीरे दीवार बच्चों को चिनती हुई उनके गले तक आ गई परन्तु उनकी न्याय्यपथदृढ़ता पर खरोंच भी न आने पाई। दीवार की इतनी ऊंचाई में भी बच्चों ने जो स्वधर्मदृढ़ता दिखाई, शास्त्री जी के अनुसार उसने देवताओं तक को आश्चर्यचकित कर दिया-

आकण्ठमग्नावपि भित्तिमध्य
इस्लामधर्मे न मतिं व्यधत्ताम्।
दिवि स्थिता देवगणा अपीदं
लोकातिगं कर्म तदाभ्यनन्दन्।। 4.72

जब दीवार में चिनवाना भी काम न आया तो दीवार से निकालकर अगले दिन उन पर धर्म परिवर्तन के प्रयास फिर से किये जाने लगे परन्तु दाल गली नहीं। बच्चों की न्याय्यपथदृढ़ता से खिन्न उस क्रूर प्रशासक ने अन्ततः उनके वध का आदेश दे दिया-

क्रूरोऽतिकोपात्सरहिन्दराजो
वधं तयोस्तूर्णमथादिदेश।
आदेशमात्रप्रतिपालकाश्च
भृत्यास्तयोर्हा शिरसी अकृन्तन्।। 4.74

अपने जिगर के टुकड़ों का ऐसा अन्त कानों में पड़ते ही वृद्धा दादी के प्राण कैसे टिके रह सकते थे?

अतः स्पष्ट है कि भारत माता का गौरवमय मस्तक ऊंचा रखने में शस्त्र तथा शास्त्र में कुशल गुरुगोविन्दसिंह जी के सुकृत्यों तथा शूरवीरता का अद्वितीय योगदान तो है ही, उनके परिवार के योगदान की भी कोई सीमा नहीं। प्रो० सत्यव्रत शास्त्री ने दशमगुरुपरिवार की उस अगाध न्यायपथदृढ़ता को हार्दिक नमन किया है। उनके एक श्लोक से इस नमन की सम्पूर्ति करना उचित होगा-

प्रलोभिता भूरि सुखैषणाभिः
कष्टैरनिष्टैः परिवेष्टिता वा।
कल्याणहेतुं सुविनिश्चितार्थं
धीराः स्वधर्मं न परित्यजन्ति। 4.66

• • •

26

प्रो० सत्यव्रतशास्त्री विरचित थाइदेशविलासम्–एक विवेचन

रेणु बाला

प्रोफेसर सत्यव्रतशास्त्री आधुनिक संस्कृत साहित्य के शिरोमणि कवियों में से एक हैं। शायद ही कोई ऐसा विद्वान् होगा जो उनसे परिचित न हो। बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न डॉ० सत्यव्रतशास्त्री के पिता चारुदेव शास्त्री एक महान् वैयाकरण थे, जिन्हें संस्कृत जगत् में अभिनव पाणिनि कहा जाता था। अतः संस्कृत शास्त्री जी को विरासत में ही प्राप्त हुई। शास्त्री जी संस्कृत जगत् में एक कवि एवं साहित्यकार के रूप में तो विख्यात हैं ही, परन्तु इसके साथ ही एक योग्य शिक्षक, महान् चिन्तक, समालोचक तथा एक कुशल प्रशासक के रूप में भी उनकी सर्वत्र प्रसिद्धि है। विभिन्न विषयों से सम्बन्धित असंख्य शोधपूर्ण लेख भी उनके पाण्डित्य के परिचायक हैं। शास्त्री जी ने विदेशो में भी अध्यापन कार्य के द्वारा अपनी विद्वत्ता की अमिट छाप छोड़ी है, जिसमें थाइलैण्ड की राजकुमारी को संस्कृत में अध्यापन कराना विशेष रूप से शामिल है। शास्त्री जी ने अनेक ग्रन्थों–श्रीबोधिसत्त्वचरितम्, इन्दिरागान्धिचरितम्, रामकीर्तिमहाकाव्यम्, बृहत्तरं भारतम् आदि महाकाव्यों एवं श्रीगुरुगोविन्दसिंहचरितम्, थाइदेशविलासम्, शर्मण्यदेशः सुतरां विभाति आदि खण्डकाव्यों तथा पत्रकाव्यादि की रचना कर संस्कृत साहित्य को समृद्ध करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया है। आज भी वे माँ सरस्वती की आराधना में निरत हैं।

'थाइदेशविलासम्' खण्डकाव्य जैसा कि इसके नाम से ही ज्ञात होता है–"थाइदेश का विलास"अर्थात् सौन्दर्य, चारुता, थाइदेश की सभ्यता और संस्कृति पर प्रकाश डालने वाला एक अनूठा काव्य है। इसके साथ ही थाइदेश की ऐतिहासिक घटनाओं एवं भौगोलिक स्थलों का वर्णन भी कवि ने इसमें अत्यन्त कुशलतापूर्वक किया है। इस खण्डकाव्य का प्रकाशन 1979 ई० में ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली से हुआ है। इसका थाइ भाषा में अनुवाद थाइलैण्ड की राजकुमारी महाचक्री देवरत्न राजसुता सिरिन्थौर्न ने किया है। पाश्चात्य सभ्यता और संस्कृति पर प्रकाश डालने वाला संस्कृत साहित्य में यह प्रथम ग्रन्थ है, जिसका श्रेय डॉ० सत्यव्रतशास्त्री को जाता है। इस काव्य रचना का प्रयोजन कवि ने "स्वान्तःसुखाय" माना है।[1] इस काव्य की समाप्ति कवि ने

1. थाइदेशविलासाख्यं स्वान्तःप्रेरणया कृतम्।
थाइदेशमुपेतेन मया काव्यं समासतः।। थाईदेशविलासम्, 117

भारत और थाइलैण्ड के मैत्री सम्बन्धों की कामना की है।[1] "थाइदेशविलासम्," में कुल 121 पद्य हैं। इस काव्य में कवि ने थाइदेश के जनजीवन, उनके आचार-व्यवहार, वेशभूषा, थाइराजवंश और धर्म आदि को बखूबी पद्यात्मक शैली में निबद्ध कर अपनी अद्भुत प्रतिभा का परिचय दिया है। इस काव्य का प्रारम्भ थाइदेश के परिचय से हुआ है जो कि पुराणों में 'श्याम' नाम से वर्णित है–

अस्त्येशियानामनि सुप्रसिद्धे, द्वीपे विशालेऽतिशालकीर्तिः।
आग्नेयदिङ्मण्डलमौलिभूतो, देशोऽतिरम्यो भुवि थाइलैण्डः।।
श्यामेति नामातिपुराणमस्य, ख्यातं पुराणादिषु यद्विहाय।
थाईतिजात्यध्युषितत्वहेतोर्यं थाइलैण्डं कथयन्ति लोकाः।।

थाइदेशविलासम् 1,2

विवेच्य काव्य में थाइदेश के परिचय के अनन्तर कवि ने अत्यन्त सूक्ष्म एवं पैनी दृष्टि से निरीक्षण कर थाइ लोगों की जीवनचर्या, धर्म एवं विश्वास, धार्मिक स्थलों, थाइराजवंश तथा वहाँ की भौगोलिक परिस्थितियों का विस्तृत विवरण कर 'गागर में सागर' भरने का काम किया है।

थाइलैण्ड की राजधानी बैंकाक है, जो अपने अद्भुत ऐश्वर्य और सौन्दर्य-विलास के कारण अत्यन्त प्रसिद्ध है[2] और लोगों के आकर्षण का केन्द्र है। इससे पूर्व अयोध्या एवं थौनबुरी थाइलैण्ड की राजधानी रहीं।[3] बैंकाक राजधानी के रमणीय प्राकृतिक सौन्दर्य, दर्शनीय स्थलों और बड़े-बड़े बाजारों का भी कवि ने स्वाभाविक चित्रण किया है, जिन्हें देखकर लोग मन्त्र मुग्ध हो जाते हैं।[4]

विवेच्य ग्रन्थ के अध्ययन से प्रतीत होता है कि थाइ लोगों की भाषा, धर्म और संस्कृति पर भारतीय संस्कृति का गहरा प्रभाव है। थाइ संस्कृति एवं सभ्यता में प्राचीन भारतीय विचारधारा और पश्चिमी सभ्यता की नूतन विचारधारा का सुमेल दिखाई देता है। यह कवि की दृष्टि में थाइलैण्ड की विशेषता ही है, जहाँ पर दो संस्कृतियों का मंजुल समन्वय लोगों को अपनी और आकृष्ट करता है।[5] थाईदेश की पहचान एवं वैशिष्ट्य को कवि ने इस प्रकार परिभाषित किया है–

---

1. एधेत कलया चापि थाइभारतदेशयोः।
यदि सौहार्दमेनेन यत्नो मे स्याद् फलेग्रहिः।। 120
2. देशस्य तस्यास्ति भृशं विशाला, कण्ठे भुवः शुभ्रतरेव माला।
ऐश्वर्यसौन्दर्यविलासधानी, बैंकाकनाम्नी खलु राजधानी।। 13
3. बभूव पूर्वं खलु थौनबुर्या, बैंकाकतश्चापि पुराद्वारेण्यात्।
वर्षाण्ययोध्यैव बहूनि यावद्, देशोत्तमस्यास्य हि राजधानी।। 65
4. यदापणेपु प्रसृतानि नाना, रत्नानि चित्रद्युतिरूषितानि।
रत्नाकराः सम्प्रति तोयशेषा, इति प्रतीतिं जनयन्ति भव्याम्।। 14
5. पुराणमित्येव न साधु सर्वं, न चानवद्यं सकलं नवं च।।

इत्याशयेनैष गुणं कदाचित्, प्रत्नं च नूत्नं च दधाति देशः।। 5

धर्मो राष्ट्रं च राजा च चतुर्थी संस्कृतिस्तथा।
एतच्चतुष्टयं प्राहुः थाइदेशस्य लक्षणम्।।[61]

अर्थात् धर्म, राष्ट्र, राजा और संस्कृति ये ऐसे स्तम्भ हैं जिसके कारण थाइलैण्ड लोगों के आकर्षण का केन्द्र है। जहाँ तक धर्म का विषय है थाइ लोग बौद्ध धर्म के अनुयायी हैं परन्तु हिन्दू धर्म के प्रति भी उनकी अटूट आस्था है। चतुर्मुखी ब्रह्मा के अनेक मन्दिरों का वर्णन कवि ने किया है।[1] राजा भूमिबल भी बौद्ध धर्म के अनुयायी थे।[2] राजा ने थाइ लोगों को भी बौद्ध धर्म का अनुसरण करने के लिए प्रेरित किया।[3] सहस्रों बौद्ध भिक्षुओं द्वारा शास्त्र परिचर्चा एवं थाइलैण्ड की विहार भूमियों में निरन्तर बौद्ध वचनों की अमृतधारा प्रवाहित होने का वर्णन विवेच्य रचना में कवि ने किया है।[4] थाइ लोगों की वेशभूषा भले ही पाश्चात्य है परन्तु अपने धर्म में उनकी श्रद्धा एवं भक्ति-भावना असीम है, उसमें तनिक भी कृत्रिमता नहीं है।[5] थाइ जन-समाज पर राम और रामायण का प्रभाव प्रत्यक्ष देखा जा सकता है। थाइ लोगों द्वारा रामायण पात्रों के नामों पर रखे गए राम, सीता, सुमित्रा आदि नाम हृदय में आनन्दातिरेक को उत्पन्न करते हैं।[6] थाइदेश में भित्ति चित्रों पर अंकित रामकथाएँ आज भी लोगों के आकर्षण का केन्द्र हैं।[7] इतना ही नहीं, थाइ राजा भी स्वयं को राम नाम से सम्बोधित कर अपने प्रशासन को राम-राज्य की तरह चलाने में प्रयत्नशील है।[8] राम भक्त थाइ राजा राम प्रथम द्वारा थाइ भाषा में 'रामकियन' (रामकीर्ति) शीर्षक से लिखा रामकथा से सम्बन्धित महाग्रन्थ है जो कि वाल्मीकि रामायण से ही प्रभावित है।[9] रामकथा से

---

1. चतुर्मुखस्यापि च मन्दिराणि, श्रीब्रह्मदेवस्य पदे पदेऽत्र।
   एकत्र पूजा सुगतस्य भक्त्याऽपरत्र च ब्रह्मण आविरस्ति।। 12
2. राजा प्रजारंजनमादधानः, सर्वात्मना बुद्धवचःप्रमाणः।
   अतुल्यतेजःपदवीं दधानः, प्रशास्ति यं भूमिबलाभिधानः।। 3
3. स्वं मन्यमानश्च नवावतारं, बुद्धस्य सर्वान् स समादिदेश।
   मामर्चयध्वं ननु सर्व एव, कल्याणकामा हृदयेन यूयम्।। 72
4. सहस्रशः सम्प्रति भिक्षवोऽत्र, शास्त्राणि सम्यक् परिशीलयन्ति।
   आवश्यकं वस्तु जनस्तदर्थं, स्वयं ददाति स्वहिताप्तिकामः।।
   उच्चार्यमाणानि पदे पदेऽत्र, विहारभूमिष्वितरत्र चापि।
   वमन्ति शाक्यस्य मुनेर्वचांसि, पीयूषधारां श्रुतिशष्कुलीषु।। 7, 8
5. पाश्चात्यवेषोऽपि जनोऽत्र नूनम्, आचारमङ्गीकुरुते स्वदेश्यम्।
   धर्मे स्वकेऽस्यास्ति निसर्गसिद्धा, श्रद्धा दृढा भक्तिरनुत्तमा च।। 6
6. रामेति सीतेति सुदारुकेति, शोभेति शान्तीति वरेति वापि।
   नामानि रम्याणि जनो दधानो, हर्षप्रकर्षं हृदि वर्षतीह।। 11
7. रामायणादेव कथा अनेका, आदाय यद्भित्तिषु निर्मितानि।
   परःशतानि प्रथितानि चित्राण्याभां विचित्रां विकिरन्ति यत्र।। 20
8. रामेति नामात्मनि सन्दधाति, राजाऽत्र रामात्प्रति राजमानः।
   श्रीरामवत्संश्रयते च वृत्तं, श्रीरामवच्चापि जनान् प्रशास्ति।। 10
9. तद्रामकीर्त्याख्यमिहाद्वितीयं, सहस्रशः पद्यवरैर्निबद्धम्।
   अलंङ्कृतं सारयुतं निपाठं, निपाठमायाति जनः प्रमोदम्।। 35

सम्बन्धित इस मनोरम काव्यामृतरस का पुनः पुनः पान कर भी लोग तृप्त नहीं होते अर्थात् जब भी वे उसका श्रवण करते हैं तो आनन्दित होते हैं[1]। कवियों में अग्रणी राम प्रथम नामक राजा के विद्वान् प्रतिभासम्पन्न पुत्र राम द्वितीय ने अपने पिता द्वारा वर्णित श्रीरामकीर्ति का पुनः संक्षेप में अपनी मधुर वाणी द्वारा गान किया।[2] इसी वंश में उत्पन्न विद्वानों में अग्रणी श्रीराम षष्ठ फ्रमंकुट के नाम से प्रसिद्ध राजा ने अत्यन्त श्रद्धा भाव से रामकथा गान के साथ-साथ रामायण एवं रामकियन से सम्बन्धित गूढ़ विषयों की समीक्षा एवं व्याख्या कर रामकथा से सम्बद्ध महत्वपूर्ण तथ्यों को थाइदेश के समाज में रखा। राजा मंकुट ने इस दिव्य राम कथा के सम्बन्ध में लोगों को अवगत कराया।[3] फ्र मंकुट ने अपने देश को कला और साहित्य की दृष्टि से समृद्ध किया इसीलिए इसके राज्य के काल को स्वर्णयुग के नाम से स्मरण करते हैं।[4] जहाँ इन्होंने अपनी साहित्य और संस्कृति को उन्नत किया, वहीं पाश्चात्य पद्धति की शिक्षा को भी अधिमान दिया। उनके इस प्रयत्न को लोग बहुत महत्वपूर्ण मानते हैं।[5]

नवम राम के रूप में थाइलैण्ड के भूमिबल नामक राजा अपने महनीय गुणों के कारण थाइसमाज में विशेष रूप से प्रसिद्ध एवं सब के प्रिय थे।[6] राजा भूमिबल ने अपनी पुत्रियों में अत्यन्त कुशाग्र बुद्धि, लोगों के हित में संलग्न, लोगों द्वारा प्रशंसनीय, लक्ष्मी स्वरूपा पुत्री देवरत्न राजसुता सिरिन्थौर्न (श्रीधरा)को प्रसन्न होकर 'महाचक्री' की उपाधि से अलंकृत किया।[7] इस

---

1. रामेत्यभिख्यामपरां दधानः, श्रीरामभक्तः स बभूव लोके।
   स्वभाषयाऽगीयत तेन दिव्यं, रामस्य भक्त्या चरितं मनोज्ञम्।। 34
2. अनुत्तमं काव्यमिदं विशालं, रामाधिबद्याख्यनृपस्य दीर्घम्।
   कीर्त्यस्य सत्यं धुरि सत्कवीनां, यशःपताकां विधुनोति दिक्षु।।
   तस्याभवद्विज्ञवरस्तनूजो, रामद्वितीयापरनामधेयः।
   अवर्णयद्योपि निजैर्वचोभी, रामस्य गाथां कविकर्मधुर्यः।। 36, 37
3. अस्यैव वंशे विबुधाग्रगण्यः, श्रीरामषष्ठापरनामधेयः।
   फ्र मंकुटाख्यो नृपतिर्बभूव, रामस्य गाथां निजगाद योऽपि।।
   वाल्मीकिरामायण एष भूयः, कृतश्रमोऽभूत् कृतिनां वरेण्यः।
   ततो गृहीतानि बहूनि तेन, रम्याणि रामस्य कथानकानि।।
4. कलाभिवृद्धिं व्यतनोत्स्वदेशे, साहित्यवृद्धिं च नृपाल एषः।
   वृद्धिद्वयादेव सुवर्णकालं, तद्राज्यकालं प्रवदन्ति सन्तः।। 42
5. भूपालचक्रे खलु चक्रिवंश्ये, यत्पूर्विकैवाभवदत्र शिक्षा।
   पाश्चात्यपद्धत्यनुसारिणीति, महत्त्वमस्य प्रवदन्ति विज्ञाः।। 45
6. तद्वंशजातो नवमोऽस्ति थाइ-लैण्डाधिपो भूमिबलाभिधानः।
   गुणैरनेकैः प्रथितं पृथिव्यां, प्रजा मुदा यं प्रविचिन्तयन्ति।।
   माधुर्यदाक्षिण्यगुणाकरोऽसौ, नक्तन्दिवं दीनजनार्तिहारी।
   लोकाभिरामो नवमोऽस्ति रामः, क्रोधस्य यत्रास्ति सदा विरामः।। 48, 49
7. उपाधेरपरोऽप्यस्ति महाचक्रीति शोभनः।
   अंशोऽस्याश्चक्रिवंश्याया गुणचक्राजितो ध्रुवम्।। 53

प्रकार थाइदेश के चक्री राजाओं का इतिहास और उनके राजवंशों से सम्बन्धित ऐतिहासिक जानकारी उपलब्ध करवाने वाला यह अनुपम ग्रन्थ रत्न है।

इस ग्रन्थ में कवि ने थाइलैण्ड के ऐतिहासिक और सांस्कृतिक दृष्टि से प्रसिद्ध एवं महत्वपूर्ण स्थलों का विवेचन भी किया है। प्रसिद्ध स्थलों में 'मोङ्कोलबुपित्र' नामक विहारभूमि स्मरणीय है जहाँ भगवान् बुद्ध की सबसे बड़ी कांस्य प्रतिमा स्थित है।[1] यहीं पर वीरता और बहादुरी की प्रतीक रानी 'सूर्योथाई' (सूर्योदया) की 'चेदि' विद्यमान है जिसको उसके पति ने अपनी पत्नी की स्मृति में बनवाया था। यहाँ उसके भस्म को रखा गया है।[2] ऐतिहासिक स्थलों में ब्रह्मादेश के राजा बुरिङोङ द्वारा बनवाया गया वत्–फू–खओथोंग नामकू स्तूप उल्लेखनीय है[3]। चांगमइ नामक स्थल भी अपने सौन्दर्य और विहारों के कारण विशेष महत्व रखता है। इन विहारों में से 'दौय्–सुथेप्–विहार' सर्वाधिक प्रसिद्ध है।[4] इन रमणीय स्थलों के अतिरिक्त कवि ने और भी बहुत से प्रसिद्ध स्थलों का विवेचन किया है, जिनमें से 'थाइग्राम' नामक स्थल लोगों को विशेष रूप से अपनी ओर आकृष्ट करता है। इसका मुख्य कारण है– थाइदेश के जन–जीवन की स्वाभाविक झाँकी को प्रस्तुत करना। यहाँ पर नृत्य, वाद्य, गीत–संगीत, भिक्षु सम्बन्धी दीक्षा संस्कार, मुष्टियुद्ध, तलवारबाजी इत्यादि को देखने के लिए लोग दूर–दूर से आते हैं।[5] थाइ स्त्रियों एवं पुरुषों से सम्बन्धित विभिन्न अवसरों पर धारण की जाने वाली वेशभूषा की प्रदर्शनी भी लोगों के आकर्षण का केन्द्र है।[6]

थाइलैण्ड के प्राकृतिक सौन्दर्य का एक अन्य कारण वहाँ पर विद्यमान अनेक उपवन और बगीचे भी हैं। पहाड़ियों की श्रृंखला के मध्य विद्यमान राजप्रसाद का 'फूपिङ उपवन' बहुत

---

1. अत्रैव मोङ्कोल बुपित्रनाम्नी, विहारभूमिः प्रतिभाति यत्र।
बुद्धस्य कांस्यप्रतिमा विशाल–तमा समस्मिन्नपि थाइदेशे।। 82
2. अत्रैव सूर्योथइनामिकायाश्चेदिश्चकास्त्यद्भुतवीरतायाः।
प्रतीकभूता यशसाऽन्विताया, राज्ञ्याः कृता तत्पतिना प्रियेण।। 83
3. अत्रैव वत्–फू–खओ–थोंगनामा, स्तूपोऽस्ति शालद्रुमतुङ्गरूपः।
विनिर्ममे यं बुरिङोङनामा, ब्रह्माख्यदेशाधिपतिर्नृपालः। 87
4. स्थलमतीव मनोहरमन्यतः, पतति सन्दृशि चांग्मइनामकम्।
तदिदमुत्तरथाइभुवो मणिं, सुविमलं प्रवदन्ति मनीषिणः।।
चांगमय्यां सन्ति विहारा, नाना दृश्यत्वकोटिमापतिताः।
तेषु विशेषोल्लेखम्, अर्हति दौय्–सुथेप् विहारोऽत्र। 111
5. रम्यस्थलं तत्र चकास्ति थाइ–ग्रामाभिधं यत्र विलक्षणस्य।
सन्दर्शनं कार्यत आशु थाइ–देशस्य साक्षाज्जनजीवनस्य।।
नृत्यानि वाद्यानि च गीतिकाश्च, दीक्षा च भिक्षोरथ मुष्टियुद्धम्।
निस्त्रिंशयुद्धं च समस्तमेतत्, सन्दर्श्यतेऽत्रानतिविस्तरेण।। 28, 29
6. थाय्यङ्गनानां च विभिन्नवेषा, विभिन्नकालेषु च थाइपुंसाम्।
प्रदर्शिता अत्र विवर्धयन्ति, कुतूहलं, प्रेक्षितुमागतानाम्।। 31

प्रसिद्ध है।[1] इसके साथ ही कवि ने 'जपाप्रसून' नामक उपवन का भी उल्लेख किया है जहाँ पर नाना प्रकार के जपापुष्प उस उपवन की शोभा में चार चाँद लगा देते हैं, और यात्रियों की आँखों को असीम आनन्दानुभूति का अनुभव करवाते हैं।[2]

थाइ देश में एक ऐसे जलाशय का उल्लेख भी कवि ने किया है जो बड़े-बड़े दर्शनीय मगरमच्छ से सुशोभित है, जिसे कवि ने नामत: 'मकरालय' कहा है। इन मगरमच्छों के चर्म से निर्मित अनेक प्रकार की वस्तुओं को लोग अत्यन्त चाव से खरीदते हैं।[3] विवेच्य ग्रन्थ में एक अन्य स्थल की ओर कवि ने संकेत किया है जहाँ पर विभिन्न जातियों से सम्बन्धित साँपों को पाला जाता है और उनके विष को निकालकर, वैद्यों के द्वारा उसका प्रयोग रोग चिकित्सा के लिए किया जाता है।[4]

थाइदेश की प्रसिद्धि और लोगों के आकर्षण का केन्द्र वहाँ की प्राकृतिक सुषमा तो है ही साथ में इसके समुद्र तटों के प्राकृतिक संसाधानों से भरपूर शोभा थी। इस दृष्टि से थाइलैण्ड के विशाल 'पतया' और 'फूकेट' समुद्रतट (Beaches) बहुत प्रसिद्ध है।[5] थाइदेश के प्रसिद्ध आयलैण्ड "कोरल द्वीप" का वर्णन भी कवि ने किया है जहाँ पर लोग सुखपूर्वक अपना समय व्यतीत करने के लिए आते है।[6]

प्रो० सत्यव्रत शास्त्री विरचित 'थाइदेशविलासम्। खण्डकाव्य की भाषा अत्यन्त सरल एवं सुबोध है। कोमल-कान्त-पदावली होने के कारण कोई भी व्यक्ति इस काव्य की भाषा को अत्यन्त सरलता से हृदयङ्गम करने में समर्थ है, क्योंकि क्लिष्ट समास पदावली, शब्द-आडम्बर और

---

1. इह विभाति गिरे: शिखरे स्थितं, नृपतिसद्म हि फूपिङनामकम्।
   उपवनेन वरेण सनाथितं, सुमसुगन्धसुवासितदिक्तटम्।। 107
2. जपाप्रसूनोपवनाभिधानं, चकास्ति यत्रोपवनं निधानम्।
   जपाप्रसूनोपचयस्य नाना-छवेर्ध्रुवं नेत्रयुगोत्सवस्य। 271
3. जलाशयो यत्र विभाति यस्मिन् सम्पुष्टिमाप्ता मकरा लसन्ति।
   याथार्थ्यतोऽयं मकरालय: संस्तन्नामतो वक्तुमशक्य एव।।
   तच्चर्मणा संरचितानि नाना, क्रीणाति वस्तूनि जन: प्रहृष्ट:।
   भस्त्रा मनोज्ञा अथ मेखलाश्च, मंजूषिकाश्चापि विचित्ररूपा:।। 22, 23
4. सरीसृपाणां परिपालनार्थं, यत्रास्ति केन्द्रं बहुजातिकानाम्।
   विषं विनिकृष्य यतस्तु वैद्या:, प्रयुंजते रोगचिकित्सिकायाम्।। 24
5. स्थानानि सन्ति रमणीयतमान्यनेकान्यन्यान्यपीह नयनद्वयतर्पणानि।
   तेष्वेकमस्ति पुलिनं जलधेर्विशालं, ख्यातिं परामुपगतं भुवि पत्तयेति।।
   फूकेट्समाख्यमपरं पुलिनं विशालं, वारांनिधेर्लसति नेत्रसुखं ददानम्।
   तद् द्रष्टुमप्युपगता: कुतुकाज्जनौघा:, तत्रालुठन्ति जलधिं च निभालयन्ति। 100, 104
6. एवं सुखेन समयं व्यतियाप्य तत्र, द्वीपं समापतति कोरलनामधेयम्।
   तत्प्राप्य दर्पणगतप्रतिबिम्बकान्तिं, जीवान् स पश्यति च विस्मयमभ्युपेत:।। 103

दुरूह अलंकारों का प्रयोग कवि ने नहीं किया है। कवि ने विविध वर्ण्य-विषयों के विवेचन में अनेक छन्दों–इन्द्रवज्रा, वसन्ततिलका, उपेन्द्रवज्रा, उपजाति, अनुष्टुप्, भुजङ्गप्रयात, द्रुतविलम्बित, आर्या, विद्युन्माला आदि का आश्रय लिया है।

निष्कर्षत: थाइदेश की सभ्यता और संस्कृति पर प्रकाश डालने वाला थाइदेशविलासम् खण्डकाव्य संस्कृत साहित्य में विशेष महत्व रखता है। प्रो० सत्यव्रत शास्त्री ने इस काव्य में थाइदेश के प्राकृतिक सौन्दर्य के साथ-साथ धर्म, राष्ट्र, राजवंश, ऐतिहासिक एवं सांस्कृतिक स्थलों एवं वहाँ के लोगों के कला-कौशल का अत्यन्त कुशलता पूर्ण चित्रण किया है। इतना हीं नहीं थाइदेश की स्त्रियों के सौन्दर्य की चर्चा भी कवि ने विशेष रूप से की है। कोई भी ऐसा पक्ष नहीं जो कवि की लेखनी से अछूता रह गया हो। थाइदेश से सम्बन्धित सम्पूर्ण जानकारी उपलब्ध कराने वाला 'थाइदेशविलासम्' दक्षिण पूर्व एशिया के किसी भी देश पर संस्कृत मे लिखा जाने वाला पहला काव्य है। इसलिए संस्कृत काव्य परंपरा में इसका विशेष स्थान है। इसका तेलुगु अनुवाद 2015 में प्रकाशित हुआ था। अनुवादक डॉ० के साम्ब शिवमूर्ति ने इस के प्रत्येक श्लोक के सामने उसमें वर्णित दृश्य भी प्रस्तुत किया है। संस्कृत काव्यों में यह एक अनूठा प्रयोग है। 121 पद्य और 121 चित्र। इस कृति का अंगेजी अनुवाद कृतिकार ने स्वयं किया है जो कि मूल के साथ प्रकाशित हुआ था।

• • •

27

बृहत्तरं भारतम् : समीक्षात्मकम् अध्ययनम्

उपेन्द्र राव

भारतराष्ट्रस्य विशालमैतिहासिकञ्च स्वरूपं बृहत्तरं भारतमित्यस्मिन् काव्ये कविः सोत्साहं विशदीकरोति। भारतराष्ट्रस्य प्रसिद्धं प्रकृष्टं च स्वरूपं विस्मृत्य पाश्चात्यभावदासाः केचन भारतीयाः स्वाभिमानरहिताः। तेभ्यस्सर्वेभ्यः भारतस्य वास्तविकं ज्ञानं प्रददाति काव्यमिदम्। भारते नास्ति किमपि महत्त्वपूर्णमिति भावयतां भारतीयानां नयनविकासं करोतीदं काव्यं बृहत्तरं भारतम्।

बहुप्राचीन एव काले भारतीयाः स्वदेशात् प्रस्थिता भूत्वा बहुपु द्वीपेषु प्राविशन्। अन्येऽपि स्वसाम्राज्यवृद्धिमिच्छन्तः शासका अन्येषु द्वीपेषु प्राविशन्। एवमन्यद्वीपेषु प्रविष्टाः भारतशासकाः विजिगीषवः सन्त एव तत्र प्रविष्टाः, एतेषां लक्ष्यं विजय एव आसीत्। परन्तु तं विजयं ते शस्त्रेण, युद्धेन सेनया विनैव साधितवन्तस्ते कीदृशः विचित्रः विजयः एषः[1]?

प्रचुरमेधासम्पन्नाः काव्यकर्तारः सत्यव्रता अपि स्वजीवने शान्तिकामुकाः। अतो दुष्टेष्वपि कृपामेव प्रदर्शयन्तं प्राचीनभारतीयानां शान्तिप्रियत्वं सुविशदं वर्णयन्ति। तेषां कथनानुसारेण भारतीयाः शान्तस्वभावाः कदापि रक्तपातं नेच्छन्ति स्म[2] सततशान्तचित्ताः भारतीयाः परधनापहरणकामना-विरताः। सर्वदा शास्त्राभ्यासधुरीणाः, विविधकलाचुञ्चवः स्वीयस्य धार्मिकजीवनस्य प्रचारं, प्रचारं च ते कृतवन्तः।

भारताद् बहिः अन्येषु देशेषु प्रवृत्ताः प्राचीनभारतीयाः किमपि महत्त्वपूर्णं प्रयोजनं विचिन्तितवन्तः स्युः। भारतीयधर्मप्रचारं तु ते कृतवन्त एव, परन्तु केवलं धर्मप्रचारार्थं गतवन्तः किम्? इत्थं विविधैः मनीषिभिः विविधप्रकारैः चिन्तनं कृतम्। वस्तुतः सर्वेऽपि मनोः वाक्यं सर्वथा विस्मृतवन्त इति प्रतिभाति। तथाहि मनुना निगदितम्–

एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः। स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः।। इति।

कविना शास्त्रिवर्येणापि इदमेव कारणं प्रदशितम्।

---

1. विना युद्धं विना शस्त्रं विना सेनाश्च भीषणाः। विना नीतिं पुरा द्वीपा भारतीयैर्विनिर्जिताः।। बृ. भा. 12.
2. किं मुधा रक्तपातेन किं वा नो भूमिकाम्यया।
इत्येवं धर्मजिष्णुत्वं कामयामासिरे हि ते।। बृ. भा. 13.

स्वं स्वं चरित्रं भुवि भूमिदेवाः प्रशिक्षयन्तः किल सर्वपुंसः।
पुरा प्रयाता इह देशजाता यवादिदेशान् दिशि दक्षिणस्याम्।।[1]

वस्तुतः अन्यदपि-एकम् ऐतिहासिकं कारणं जगद्विदितं वरीवर्ति। क्रीस्तोः-प्राक् षष्ठे शतके तथागतेन यः धर्मप्रचारः कृतः तेन समग्रमपि भारतवर्षं भृशं प्रभावितमासीत्। भगवतो बुद्धशिष्याः बुद्धोपदेशान्-विविधेषु सम्मेलनेषु समाहृतवन्तः। परन्तु क्रीस्तोः-प्राक् तृतीये शतके पाटलीपुत्रे सम्राजः अशोकस्य आध्यक्ष्ये या तृतीयबौद्धसङ्गीतिस्समायोजिता, तस्यां भारताद् बहिः समीपवर्तिषु विभिन्नेषु द्वीपेषु बुद्धशिष्याः धर्मप्रचारकाः प्राप्ताः। ते सर्वेऽपि बुद्धोपदेशनिष्णाताः, धर्मप्रचारधुरन्धराश्च। यद्यप्येते सिंहल-यव-बाल्यादिषु द्वीपेषु प्राविशन्-तथाप्येतेषां सर्वेषां वचनेषु तथागतधर्मोपदेशसाम्यमासीत्। विषयमेतमैतिहासिकं कविरित्थं प्रतिपादयति।

तथा नियुक्ताः प्रियदर्शिना प्राक्
सम्राडशोकेन सहस्रशो ये।
शाक्यस्य सन्देशहरा मुनेस्ते
द्वीपान् यवादीन् मुदिताः प्रयाताः।।[2]

तदर्थमेव तैस्तेषु देशेषु अत्यन्तविशालमन्दिराणि विनिर्मितानि। मन्दिरेषु प्राचीनैतिहासिकतथ्य-मुपदिशद्भिः शिलालेखैः उपयुक्ताः बहवा विषयाः स्पष्टाः भवन्ति। एते शिलालेखाः संस्कृतप्रतिपादकाः च।

सत्यव्रतशास्त्रिमहाभागैः अपि एते देशाः प्रविष्टाः। तत्र च संस्कृतमयशिलालेखाः तै दृष्टाः परिष्कृताश्च। तेषु मन्दिरेषु भारतीयकलाद्योतकानि बहूनि शिल्पानि विनिर्मितानि। अत्रत्याः एव नृत्यपद्धतयः तत्र प्रदर्शिताः। इन्डोनेशियादेशान्यबालिप्रमुखेषु द्वीपेषु च न केवलं बौद्धधर्मप्रचारः अपि तु रामायणादिभारतीयानि काव्यानि अपि प्रसिद्धानि। विशेषतो रामायणस्य तत्र प्रसिद्धिः। सम्प्रत्यपि तेषु द्वीपेषु रामायणी कथा प्रसिद्धा। सर्वे जनास्तत्रत्याः रामायणीं कथां जानन्ति। तेषां समग्रा संस्कृतिः रामायणेन प्रभाविता। न केवलं रामायणी कथा, संस्कृतस्यापि महान् शब्दराशिः तत्र प्रविष्टः। परं संस्कृतभाषायाः तत्र महानादरः आसीत्। परन्तु गच्छता कालेन यथा भारते बह्व्यः आधुनिकभारतीयभाषाः समुद्भुताः तथा बाल्यादि-द्वीपेष्वपि तत्रस्थाः भाषाः संस्कृतेन प्रभावितास्सत्यः प्रादुर्भूताः। संस्कृतस्यानन्तशब्दराशिः तत्र प्रविष्टः।

सम्प्रत्यपि संस्कृतानभिज्ञैः कदाचित्ते नावगम्यन्ते। वस्तुतः संस्कृतशब्दा एव ईषत्-ध्वनिपरिवर्तनेन तत्र प्रयुज्यन्ते इति ग्रन्थकृता प्रतिपादितम्[3]।

---

1. बृ. भा. II. 23
2. बृ. भा. II. 24–25.
3. बृ. भा. II. 31

कम्बुजद्वीपवर्णनम्

कम्बुजद्वीपवर्णनं (33-81) काव्यस्य विशालभागः। भागेऽस्मिन् कम्बुजद्वीपवर्णनस्य इतिहासः। एषः कम्बुजद्वीपवर्णनकाले 'कम्बोडिया' इति नाम्ना प्रथितः।

प्रकरणस्यास्याध्ययनेन ग्रन्थकर्तुः तद्देशीयं ऐतिहासिकं ज्ञानं संस्कृतश्लोकरचनानैपुण्यमपि ज्ञायते।

कुण्डिनराज्यस्य राजा क्रीस्तोः परं तृतीयशतके भारतीयसंस्कृतिजिज्ञासुस्सन् अतिदूरस्थेषु दक्षिण-पूर्व-राज्येषु प्राविशत्। कम्बोडियन्राजुकुमार्या सह तस्य विवाहो जातः। पश्चात् तस्य मनसि कम्बोडियन्प्रजासु महाननुरागः समजायत। तत्रत्याः जनाः पुरा उदारगुण-रहिताः संस्कार-विहीना वन्यपशवः इव नग्नेनैव वेषेण स्त्री-पुरुष-भेदमजानन्तः त्यक्तलज्जाः विचरन्त आसन्।

भारतात् तत्र समुपागताः बहवः गुणाधिकाः आचार्याः तान् सुसंस्कृतानकुर्वन्। इत्थं शनैः शनैः तेषु देशेषु स्थातुमिच्छद्भिः आर्यकुलोद्गतैः सम्पृक्ताः जाताः कम्बुजदेशवासिनः।[1] तस्यैवार्यराजस्य वंशोद्भवाः केचन कुलपुत्राः पश्चात् "लोओस्" देशमविशन्। अन्ये मलयचीनदेशान् प्राविशन्। एते प्रभाववन्तो राजानः अतिप्राचीन एव काले भारत-चीनदेशयोर्मध्ये राजनैतिकेन सम्बन्धेन उभयोः राष्ट्रयोः जनानां कल्याणमाश्रयन्।

कम्बुजद्वीपे क्रैस्तवीये षष्ठे शतके जयवर्माख्यो राजा राज्यमकरोत्। तस्य पुत्रः रुद्रवर्मा, पत्नी कुलप्रभावती च। जयवर्मणः राज्यकालः स्वर्णयुग इति प्रसिद्धः। एतस्य कारणं तस्य राज्ञः शासनपद्धतिरेव। बहूनि भवनानि, मन्दिराणि च विनिर्मितानि तस्य साम्राज्यलक्ष्मीं संसूचयन्ति। द्वितीयजयवर्मणः शासनकालानन्तरं यशोवर्मणः शासनकालः समागतः। यथा तस्य नाम, तथैव तस्य कर्माप्यासीत्। सः स्वजीवनकाले एव सुश्लाघ्यं यशः प्राप्तवान्। न केवलं शासने, विविधासु कलासु अपि तस्य समुचितः प्रवेशः आसीत्। शक्तियुक्त्योः एकं निवासस्थानमासीत् सः।[2] तस्य व्याकरणशास्त्रप्रावीण्यमद्भुतम्। वास्तुविद्याज्ञानमपि तस्य श्लाघनीयमासीत्। राजायं न केवलं कलाप्रियः महात्मनां यतीनां, सन्यासिनाञ्च हितचिन्तक आसीत्। तेभ्यः परिव्राजकेभ्यः, यतिभ्यः बहूनि चैत्यानि मन्दिराणि च तेन विनिर्मितानि। एतत्सर्वं शास्त्रिवर्यैः स्वकाव्ये वर्णितम्।

सत्यव्रतशास्त्रिणः न केवलं काव्यरचनायाम् अलङ्कारशास्त्रेऽपि कृतभूरिपरिश्रमाः। अतएव तैर्विरचितेऽस्मिन् काव्ये काव्यशास्त्रोचिताः विविधाः श्लोकाः दृश्यन्ते। एतेषु श्लोकेषु गुणालङ्काररीतिवृत्तयः समुचितरूपेण समुपलभ्यन्ते। बहुषु श्लोकेषु कवेः उत्प्रेक्षार्थालङ्कारप्रयोग-नैपुण्यं दृश्यते। यशोवर्मणः शासनवैभववर्णनावसरेऽपि विविधालाङ्काराः प्रयुक्ताः।[3] ततः सः राजा तस्य नगरस्य कम्बुपुरीति नाम ददौ। पश्चात् गच्छता कालेन सा पुरी यशोधरेति नामावाप।

---

1. कम्बुजद्वीपवर्णनम्, बृ. भा. 36-37.
2. बृ. भा. 44-50.
3. बृ. भा. 55.

पश्चात् तत्र राजा सूर्यवर्मा शासनमकरोत्। राजायं श्यामादि-देशान् विजित्य राज्यलक्ष्मीं समृद्धामकरोत्। पश्चात् द्वितीयसूर्यवर्मा शक्तिमान् राजा चम्पानगरस्योपरि आक्रमणमकरोत्। परन्तु मध्ये एव सः मृतो जातः। तदनन्तरं तस्य पुत्रः सप्तमजयवर्मा सिंहासनाधिरूढो जातः। सः कर्तव्यनिष्ठः क्षत्रियः आसीत्। सर्वगुणसम्पन्नः, शत्रुजनभयङ्करः सः बहुदूरचिन्तकः आसीदत एव सः चम्पां सम्पूर्णरूपेण विजित्यात्मवशीकृतवान्। न केवलं चम्पामपि त्वन्याननेकान् देशान् विजित्य राजविस्तारमकरोत् सः। राजधानी सुन्दरी। इयमनेकैः सुदृढप्राकारैः परिवेष्टिता शत्रुजनदुर्जया आसीत्। नगरमेतं परितः बहुयोजनविस्तीर्णाऽऽसीत् काचित् परिखा निर्मिता। राजायं न केवलं पराक्रमी, अपितु उदारस्वभावः अपि आसीत्। बहुभ्यः अर्थिभ्यः बहूनि वस्तुवाहनानि सम्प्रादात्।

राजायं शिबिचक्रवर्तिनं स्मारयति स्म। सुन्दरमन्दिरनिर्माणेऽयं प्रभूतं धनं व्ययीचकार। सहस्राधिकान् ब्राह्मणान् मन्दिरेषु तेषु नियोजयामास। अस्य राज्ञः शिलाशासनेषु स्थितादेकात् शिलाशासनात् ज्ञायते यदनेन 798 मन्दिराणि विनिर्मितानीति। तत्र मार्गेषु प्रजानां सौकर्यार्थं विश्रामस्थानानि तेन कल्पितनि। अस्य महात्मनो राज्ञः द्युलोकगमनानन्तरं क्रैस्तवीये चतुर्दशे शतके कम्बोडिया राष्ट्रं पतनावस्थां प्राप्नोत्। यद्राष्टमेकदा सुसमृद्धं वीर्योपेतञ्चासीत् तदेव पश्चात् फ्रेञ्चजनैरधिष्ठितं जातम्।

प्रकरणस्यास्यान्ते कविः सालंकारं सुन्दरं श्लोकमुपस्थापयति-

अहो विधेश्चित्रविचेष्टिता बत
स यो विधाता सदयः स शोभते।
कथं सा दत्वा स्वयमुन्नतिं परां
पुनर्हरंस्तां विषमीभवत्यहो।।[1]

तदनन्तरं काव्येऽस्मिन् लघुतमो भागः "शैलेन्द्रराज्यवर्णनं" समागच्छति। प्रकरणेऽस्मिन् सन्ति नव श्लोकाः। शैलेन्द्रराज्यं बहुप्रशस्तमासीत्। स्वर्णद्वीपमलयादि-देशेषु तस्य सममन्यत् नासीत्। यदि तीव्रवेगगार्मिना पोतेन प्रदक्षिणं कुर्मः तर्हि द्वीपस्यास्य परितः भ्रमणे सम्पूर्णवर्षद्वयात्मकः कालः समपेक्षितः भवति। चीनादिराष्ट्रैरपि राज्येनानेन सत्सम्बन्धः स्थापितः। तत्र लब्धानि बहूनि शासनान्यपि राज्यस्यास्यौन्नत्यं प्रतिपादयन्ति।

पश्चात् काव्येऽस्मिन् "बालि-द्वीपवर्णन" मित्याख्यः भागः प्रदत्तः। भागोऽयं यद्यपि लघुतरः तथापि सुन्दरः। काव्यभागेऽस्मिन् भुजङ्गप्रयातं वृत्तं स्वीकृतं कविना। कविनात्र राज्ञामस्थिरता प्रतिपादिता। तत्र समागतेन केनचिद्राज्ञा मुसलमान-धर्मस्थेन तत्रस्थाः शान्तिकामुकाः राजानः विजिताः।

---

1. बृ. भा. 81.

चतुःसागरावेष्टितायाः शुभायाः गतायाः परां कोटिमृद्धेर्जगत्सु।
बलेनैव बाह्वोः सुखं निर्जिताया अभूवन् पुरा ये भुवः शासितारः।।[1]

पश्चात् तत्र महम्मदीयधर्मप्रचारो जातः। पश्चात् तद्राज्ञा चिन्तितं यत् यद्यहमत्रैव वत्स्यामि, महम्मदीयै-धर्मान्तरितो भविष्यामीति। इत्थं धर्मभीरू राजा तस्माद्राज्यात् बालिद्वीपं सम्प्राप्तः क्रीस्तोः पश्चात् 15 तमे शतके। प्रजा अपि बालिद्वीपं गतवत्यः। अत एव अद्यापि तत्रत्याः राजानः रामायणं पूजयन्ति। बालीद्वीपः अद्यापि हैन्दवधर्मपूर्णः।

• • •

1. बृ. भा. 92–94.

28

प्रो० सत्यव्रतशास्त्रिप्रणीतेन्दिरागान्धीचरिते प्रकृतिविच्छित्तिः

बृजेश कुमार शुक्लः

आधुनिककविताकामिनीप्रसाधनप्रभासकः संस्कृतसाहित्यतरङ्गिणीप्रवाहको गुणालङ्कार-रसविच्छित्तियोगसायकः काव्यदोषप्रशोधकः कविकुलकमलकमलेशः विहितचरितविमलवेषः काव्यनिकरप्रणयनप्राणेशो महाकविवरः प्रो० सत्यव्रतशास्त्रिमहोदयो लाहौरनगरे 1930 तमे खिस्ताब्दे जन्म लेभे। तत्रभवतः पितुर्नाम श्रीचारुदेवशास्त्रीत्यासीत्। श्रीचारुदेवशास्त्रिमहोदयः पाणिनीयव्याकरणे लब्धप्रतिष्ठो विद्वान् आसीत्। तत्रभवतः प्रारम्भिकी शिक्षा पितुः सन्निधाने एवाऽभूत्। ततोऽयं जालन्धरनगरेऽम्बालानगरे चोषित्वा स्वकीयमध्ययनं चकार। उच्चशिक्षां पञ्जाब-विश्वविद्यालयादयमधिगतवान्। काशीहिन्दूविश्वविद्यालयादनेन पी-एच.डी. शोधोपाधिरलम्भि[1]। संस्कृतहिन्दीगौराङ्गभाषाऽनेकभारतीयभाषाविभूषितरसनः सदाशुभ्रवेषो नैकवारं विदेशयात्राभिः कृतविदेशवसतिरयं विद्वज्जनः दिल्लीविश्वविद्यालये संस्कृतविभाध्यक्षपदमलञ्चकार। पुर्यां श्रीजगन्नाथसंस्कृतविश्वविद्यालयेऽयं महानुभावः कुलपतिपदवीमपि लेभे। प्रो० शास्त्रिमहोदयः अनेकसंस्कृतसस्थानां सदस्यः अभवत् अस्ति च।

डॉ० सत्यव्रतशास्त्रिमहोदयानां ग्रन्था अनेके सन्ति। तत्र स्वरचितकाव्यग्रन्थाः समालोचनात्मकग्रन्थाश्च द्विविधाः कृतयो वर्तन्तेतराम्।

अथ च प्रकृतविषयमाश्रित्य वक्तुमुत्सहते मे मतिः। श्रीमत्या इन्दिरागान्धीमहोदयाया नाम को न जानाति। सैवाऽस्ति पद्यकाव्यस्याऽस्य नायकभूता नेत्रीति सकलकाव्यशास्त्रेषु वर्णितात् काव्यनायकविलक्षणत्वात्। न खल्वस्मिन्विषये विचारा अपेक्षन्ते भिन्नविषयत्वादस्य। अस्मिन् महाकाव्ये महाकविना यत्र-तत्र प्रकृतिविच्छितिश्चित्रिता। प्रकृतिमाधुरीवर्णनस्याऽधोलिखितानि स्थलानि सन्ति प्रमाणभूतानि-

(अ) प्रयागवर्णने प्रकृतिविच्छितिः- कविः प्रयागतीर्थस्य वर्णनं कुर्वन् गङ्गायमुनयोः सङ्गमे प्राकृतिकच्छविमेवं विशदीकुरुते यत्तत्र नदीनां गङ्गायमुनाविलुप्तसरस्वतीनां सङ्गमनाज्जलं तदन्वर्थतां भजते। अस्य स्थलस्य वैशिष्ट्यं किमपि वर्तते यत्सङ्गमनामधेयं स्थलमेतन्नेत्रयोरासेचनकं

---

1. अर्वाचीनसंस्कृतमहाकाव्यानुशीलनम्, पृ० 18

मनोहारि दृश्यमुपस्थापयति। अत्र ध्वन्यते यन्मनोहारिदृश्यं तदेव भवितुमर्हति, यदा तत्र प्रकृतिसुषमा राजतेतराम्। यथोक्तं कविना–

यत्र प्रियस्सङ्गमनान्नदीना–
मन्वर्थनामा खलु तोयराशिः।
नेत्रद्वयासेचनकश्चकास्ति
विलक्षणः सङ्गमनामधेयः।।[1]

प्रयागतीर्थसङ्गमे गाङ्गं जलं श्वेतं यामुनञ्च जलं नीलं दृश्यते। कविरत्र कथयति यदुभयोर्जलयोः स्पष्टता परिलक्ष्यते वर्णसङ्केतितत्वात्। अत्र सोऽलङ्कारं कलयति यद् यदि गङ्गाजलं यमुनाजलेन सह मिलति तर्हि प्रतिभात्येवं यच्चन्द्रमसो मयूखाः शुभ्राः श्यामायमानेषु सान्द्रवनस्थलेषु प्रविशन्ति–

यत्र स्फुटं भाति विभिन्नरूपं
गाङ्गं जलं यामुनमेव चापि।
श्यामासु शुभ्राः शशिनः प्रविष्टाः
पादा यथा सान्द्रवनस्थलीषु।।[2]

अत्र महाकविना प्राकृतिकच्छविरवर्णि। सङ्गमजलानि हृद्यानि, शीतलानि पुण्यानि पावनानि च वर्तन्ते।[3] स कविः सङ्गमस्थलस्य प्रकृतिशोभाविषये कथयति यत्र केवलमहमपितु कविता कामिनीविलासभूतो महाकविः कालिदासोऽपि यस्य प्रयागसङ्गमतीर्थस्य प्राकृतिकसौन्दर्यमवलोक्य हृतहृदयो रघुवंशे स्वकीये काव्ये चतुर्भिः श्लोकैरस्य परमां शोभां वर्णयामास–

यदीयसौन्दर्यहृतान्तरङ्गो
यत्कालिदासः कविताविलासः।
अवर्णयच्छ्लोकचतुष्टयेन
तीर्थं स्वकाव्ये रघुवंशनाम्नि।।[4]

महाकविकालिदासेन प्रयागस्य वर्णनं कुर्वता मुख्यतया चत्वारः श्लोकाः प्रकृतिवर्णनात्मका व्यरचिषत।[5] एतांच्छ्लोकान् प्रति प्रो० शास्त्रिमहोदयः सङ्केतितवान्।

---

1. इन्दिरागान्धीचरिते 1/11
2. तत्रैव 1/12
3. पुण्यानि हृद्यानि च शीतलानि; यदीयतोयानि सुपावनानि।
4. इन्दिरागान्धीचरिते 1/13 (इन्दिरागान्धीचरिते 1/14)
5. क्वचित्प्रभालेपिभिरिन्द्रनीलैमुक्तिमयी यष्टिरिवानुविद्धा।।
अन्यत्र माला सितपङ्कजानामिन्दीवरैरुत्खचितान्तरेव।। (13/54)

(ब) शर्मण्यदेशस्य स्विट्जरलैण्डदेशस्य च प्रकृतिविच्छितिः-महाकविरस्य काव्यस्य दशमसर्गे शर्मण्यदेशस्य 'ब्लैक फारेस्ट' इत्यस्य श्यामवनस्य वर्णनं कुर्वन् प्रकृतिचित्रणं चकार। क्षयरोगेण ग्रस्ता सतीन्दिरायाः माता यदा स्वास्थ्यलाभाय शर्मण्यदेशं गतवती, तदा सा श्यामवने स्थिते प्रासादे वसतिं कृतवती। एतच्छ्यामवनं कीदृशमासीदित्यस्य वर्णनं विदधाति कविः-

झरैश्च रम्यैरनुनादितानि
सुखं गवाध्यासितशाद्वलानि।
जलप्रवाहैः परिशोभितानि
स्त्रोतस्विनीभिश्च विभूषितानि।।[1]

एतस्मिन् वने निर्झराः सुन्दरा अतीव झरझरायमाणा अवलोक्यन्ते स्म। तत्र शष्पविरञ्जितविचित्रभूमौ गावः सुखं तस्थुः। नदीनां जलप्रवाहैस्तानि वनानि रमणीयतामापुः। एतानि वनानि नेत्रद्वयस्याऽऽसेचनिकारूपाणि दरीदृश्यन्ते स्म।[2]

ततो महाकविः 'स्विट्जरलैण्ड' इत्याख्यस्य देशस्य वर्णने लाउसनगरस्य च चित्रणे प्रकृते रामणीयकवर्णनं व्यधात्। 'स्विट्जरलैण्डदेशे खलु सस्यानि कर्षणेन विनाऽपि सुरूपाणि पक्वानि च बभूवुः। तत्र पृथिवी शाद्वलैः परिपूर्णा मनोहरा च दृश्यते। नम्रतामानीता वृक्षाः फलभृता अथ च तत्रोद्यानानि पुष्पादिसमृद्धिप्रदानि सुन्दराण्यासन्-

अकृष्टपच्यं खलु यत्र सस्यं
रम्यास्तथा शाद्वलभूमिभागाः।
पूर्णाः फलानां तरवोऽतिनम्राः
उद्यानजातानि समृद्धिमन्ति।।[3]

अत्र देशे नद्यो वारिपूर्णा मनोरमदृश्याश्च विराजन्ते। अत एच पवनः शिशिरो हृद्यश्च प्रवहति। ये जनाः स्विट्जरलैण्डदेशमागच्छन्ति तेषां तासाञ्च चेतांसि रमयति निश्चप्रचमेवाऽत्रत्यो वायुरिति-

---

क्वचित्खगानां प्रियमानसानां कादम्बसंसर्गवतीव पङ्क्तिः।
अन्यत्र कालागुरुदत्तपत्रा भक्तिर्मुवश्चन्दनकल्पितेव।।
क्वचित्प्रभा चान्द्रमसी तमोभिश्छायाविलीनैः शबलीकृतेव।
अन्यत्र शुभ्रा शरदभ्रलेखा रन्ध्रेष्विवालक्ष्यनभःप्रदेशा।।
क्वचिच्च कृष्णोरगभूषणेव भस्माङ्गरागा तनुरीश्वरस्य। (13.55-57)

1. इन्दिरागाँधीचरिते 10/5
2. तत्रैव 10/6
3. तत्रैव 10/12

यदीयनद्यो जलराशिपूर्णा
यदीयदृश्यानि मनोरमाणि।
यदीयवाताः शिशिराश्च हृद्या
आगन्तुकानां रमयन्ति चेतः।।[1]

स्विट्जरलैण्डाख्यस्य देशस्य एल्प्साख्याः पर्वतशृङ्खलाः अद्भुतं सौन्दर्यं वितेनुः। एता हिमाच्छादिता उच्चशिखराश्च पृथिव्यां प्रथिता अवर्तन्त। यथोक्तमिन्दिरागाँन्धीचरिते-

एल्प्साभिधानाः प्रथिताः पृथिव्यां
सदा हिमाच्छादिततुङ्गशृङ्गाः।
यस्योपकण्ठे वलया गिरीणां
सौन्दर्यमाश्चर्यकरं वहन्ति।।[2]

कविः स्विट्जरलैण्डदेशस्य सुषमां वीक्ष्य कथयति यदेष यूरोपभूमण्डलमध्ये विद्यमानः स्विट्जरलैण्डदेशः साक्षान्नन्दनवनमिव रेजे यतो ह्यस्य सौन्दर्यं नेत्रयुगललोभनीयं हृदयहारि च समवलोक्यते।[3]

(स) कश्मीरदेशस्य प्रकृतिविच्छित्तिः-महाकविना सत्यव्रतशास्त्रिमहोदयेन कश्मीर-वर्णनमकारि। यदा इन्दिरागाँधीमहोदयायाः फीरोजगाँधीमहोदयेन साकं विवाहोऽभूत्तदा पाणिग्रहणानन्तरं तावुभावपि मधुयामिनी-समुत्सवार्थं कश्मीरदेशं जग्मतुः। तत्रत्या सुषमा उभयोरपि मनसी जहार। तस्मिन् काले कश्मीरदेशे वासन्ती पुष्पच्छविरतितरां शोभते स्म। शीतकालेऽतीते सति पादपेषु किसलयोद्भेदाः उभयोरिन्दिराफीरोजयोः प्रसभं हृदयमहार्षुः। यथाऽऽह कविप्रवरः-

कश्मीरेष्वतिकमनीयसौरभाढ्या
वासन्ती कुसुमसमृद्धिरद्वितीया।
उद्भेदास्तरुषु हिमात्यये च हृद्या
दम्पत्योः प्रसभमहार्षुरन्तरङ्गम्।।[4]

तत्र सुन्दरनिर्झराणां निनादो दिगन्तरं यावद् गुञ्जन् गुञ्जन् कूजद्भिः पक्षिभिः सार्द्धं नितरां नाद-सौन्दर्यं वितेने। तत्राऽधिकांशा भूभागाः शाद्वलहरिता रेजिरे। एतैः सर्वैरुभावापि विनोदमन्वभवताम्। यथोक्तं महाकाव्ये-

1. तत्रैव 10/20
2. इन्दिरागाँधीचरिते 10/21
3. यदीयसौन्दर्यमतीव हारि, यद्वैभवं लोचनयुग्मलोभि।
योरूपभूमण्डलमध्यवर्ती, यो भात्यहो! नन्दनतुल्यरूपः।। (इन्दिरागाँधीचरिते 10/18)
4. इन्दिरागाँधीचरिते 16/1

स्त्रोतोभिर्मुखरितदिक्तटैश्च रम्यैः
कूजद्भिर्विहगगणैश्च सम्प्रहृष्टैः।
भूभागैर्नयनसुखैश्च शाद्वलैश्च
तौ सम्यग् विदधतुरात्मनो विनोदम्।।[1]

कश्मीरेषु हिमाच्छादितपर्वतानां श्वेतशिखराणि नदीषु च गृहसज्जाविभूषिता इव नौकाः प्रतिदिशं रमणीयतां प्रसारयन्ति स्म। अत एव प्राकृतिकसौन्दर्यस्याऽऽनन्देनाऽभिभूयमानौ तावुभावपि क्वचित्पर्वतनदीतटेषु व्यहरताम्, क्वचिच्च वनप्रदेशेषु गच्छन्तौ सुन्दरेषु निझरेषु स्नानं चक्रतुः। एवं प्रकृतिशोभाया वर्णनं तदाऽभूत्–

अद्रीणां खलु हिमखण्डपाण्डुराणि
शृङ्गाणि प्रतिदिशमक्षिलक्षितानि।
नौपङ्क्तिर्गृहमिव सज्जिता स्त्रवन्त्यां
दम्पत्योर्मनसि मुदं परामकुर्वन्।।[2]

भ्राम्यन्तौ गिरितटिनीतटीषु तावद्
गच्छन्तावथ विपिनस्थलीषु तत्र।
प्रस्नान्तावतिरमणीयनिर्झरेषु
स्वं कालं सुखिततरौ विनिन्यतुस्तौ।।[3]

एवं प्रसङ्गेनाऽत्र महाकविः कश्मीरदेशस्य प्रकृतिविच्छित्तिं वर्णयामास। तत्र प्राकृतिकसुषमा खल्वेतादृशी वर्ततेऽद्यापि यदत्रागत्य युवानो मधुयामिनीषु सन्तुष्या भवन्ति। प्रो० सत्यव्रशास्त्रि-महोदयेनाऽत्र प्रकृतिशोभावतीषु मधुयामिनीषु कथमिन्दिराफीरोजयोर्दम्पत्योः सन्तुष्टिरभूदिति श्लोकोऽलेखि–

कुर्वन्तौ मधुरतराः प्रियाः कथास्तौ
विस्रब्धं खलु मधुयामिनीषु तुष्टौ।
आनन्दं परममुपागतौ रसज्ञौ
स्वं कालं क्षणमिव निन्यतू रसेन।।[4]

अत्र पवनः शीतलः, हरितानि वनानि, पुष्पितोद्यानानि, जलनिर्भरा नद्यो ह्रदाश्च, हिमशोभिताः पर्वतशृङ्खलाः, पीयूषनिर्झरा निर्झराश्च कस्य कस्या वा मनांसि नाकर्षयन्ति। कविरिन्दिराफीरोजयोर्विषये खलूक्तवान् यदेतौ कश्मीरेषु–

---

1. इन्दिरागाँधीचरिते 16/2
2. तत्रैव 16/4
3. तत्रैव 16/3
4. तत्रैव 16/5

एवं तौ परमरसाप्लुतौ युवानौ
कश्मीरेष्वधिगतसर्वसौख्यसारौ।।[1]

इत्थं कश्मीरदेशो निश्चप्रचमेव सुखसर्वस्वभूतः सर्वेषां कृते प्राकृतिकसौन्दर्यसारत्वात्तस्य। प्रो० सत्यव्रतशास्त्रिमहोदयस्य महाकाव्येऽस्मिन् विभिन्नस्थलेषु प्रकृते रमणीयता वर्णिताऽस्ति। प्रथमं तावत्प्रयागवर्णने ततश्च शर्मण्यदेशस्य स्विट्जरलैण्डदेशस्य च वर्णनेऽथ च कश्मीरप्रदेशवर्णनप्रसङ्गेन तत्रस्थानां नदीवृक्षपर्वतहिमोद्यानर्निझरपक्षिनादादीनां चित्रणे प्राकृतिकं सौन्दर्यमनायासेन कवितायां समागतम्। 'शर्मण्यदेशः सुतरां विभति'' थाईदेशविलासम्' इत्येतयोः काव्ययोरपि वैदेशिकप्रकृतिसुषमा तत्रभवता प्रो० शास्त्रिमहोदयेन सुष्ठु प्रावर्णि।[2] अन्येषु महाकाव्येषु प्रसङ्गानुकूलं प्रकृतिदृश्यं मनोहरं दरीदृश्यतेऽस्य महाकवेः।

न केवलं प्रो० शास्त्रिमहोदयस्य प्रकृतिवर्णनं मनोहारि, अपितु रसपरिपाकः, छन्दसां प्रयोगः, भाषामाधुरी, व्याकरणचातुरी, गुणालङ्कारप्रयोगमाधुरी च नितरां काव्यशास्त्रानुकूलशोभां वितन्वन्ति। प्रतिपदं महाकवेरस्य योग्यता शब्दकोशदृष्ट्या व्याकरणदृशा च माघं भारविं चाऽतिशेते। यत्र तत्र सूक्तिभी रञ्जिताऽस्य महोदयस्य कविता मोदं विधत्ते। सुरभारतीसंवाहकः कवितामञ्जरीद्विरेफो विद्वद्वरेण्यश्च प्रो० सत्यव्रतशास्त्रिमहाभागोऽद्यापि स्वलेखनीं प्रचालयन् समवतिष्ठते राराज्यते देदीप्यते च। तस्मै हृदा धन्यवादं तच्चरणारविन्दयोः प्रणामं चार्पयति मे मनोभ्रमर इति शम्।

• • •

---

1. इन्दिरागांधीचरिते। 16/9
2. द्रष्टव्यम् - काव्ययुगलं 'शर्मण्यदेशः सुतरां विभाति' थाईदेशविलासं च।

29

डॉ० सत्यव्रत शास्त्री की पद्यात्मक कृतियाँ–एक सर्वेक्षण

लेखराम शर्मा

डॉ० सत्यव्रत शास्त्री की पद्यात्मक कृतियों में तीन महाकाव्य, तीन खण्डकाव्य, एक प्रबन्धकाव्य तथा दो खण्डों का पत्रकाव्य प्रमुख हैं। जिनका विवतरण इस प्रकार है–

1. श्रीबोधिसत्त्वचरितम्

यह 14 सर्गों में उपनिबद्ध सहस्र पद्यात्मक महाकाव्य है जिसमें अत्यन्त मधुर, कोमल-कान्त पदावली में अनेक जातक कथाओं को काव्य रूप दिया गया है। आर्यशूर की जातक माला के बाद जातकों पर संस्कृत में उपनिबद्ध यह एक महत्त्वपूर्ण रचना है। इसका प्रथम संस्करण 1960 में प्रकाशित हुआ था जिसमें मूल संस्कृत पद्य ही थे। इसका द्वितीय संस्करण 1973 में प्रकाशित हुआ जिसमें पद्यों का हिन्दी अनुवाद भी था। प्रथम संस्करण ग्रन्थकार ने स्वयं प्रकाशित किया था जबकि द्वितीय संस्करण मेहरचन्द लक्ष्मणदास प्रकाशन संस्था द्वारा प्रकाशिन किया गया था। इस द्वितीय संस्करण में प्रसिद्ध समालोचक डॉ० धर्मेन्द्रकुमार गुप्त द्वारा रचित लगभग 20 पृष्ठों की सोदहरण समीक्षा भी सम्मिलित है। प्रसाद गुण इस काव्य की विशेषता है। उदाहरणरूप–

आपातरम्या विषयाः स्फुरन्तः समन्ततोऽन्ते परितापयन्ति।
न बुद्धिमांस्तेष्वधिकं रमेत सुदुस्त्यजांस्तान्न च रोचयेत।।
ज्वलत्स्फुलिंगाः प्रदहन्ति कामं तृणोल्मुका यान्त्यचिरादपायम्।
स्वप्नोपमाः सन्ति घनान्धकाराः कामादयोऽनिष्टकरा विकाराः।।

अनुप्रास भी इस काव्य की एक विशेषता है जिसका प्रमाण निम्नलिखित पद्य हैं–

मया हि दृष्टा रमणी प्रकृष्टा विशिष्टलावण्यमयी प्रहृष्टा।
अविप्रकृष्टेऽत्र पुरे निविष्टा सैवास्त्यभीष्टा हृदि मे प्रविष्टा।।
तदोन्मदन्ती कलिकाग्रदन्ती रतिं हसन्ती हृदयं हरन्ती।
सर्वाञ्जनान् कामवशं नयन्ती देवाङ्गनेवाऽऽस्त विमोहयन्ती।।

इसकी अलंकार योजना भी अत्यन्त उत्कृष्ट है। निम्नलिखित पद्य मालोपमा का अति सुन्दर उदाहरण है–

सौदामनीवाश्रितचन्द्रशाला लावण्यवत्युत्पलिनीव बाला।
प्रसन्नपूर्णेन्दुमतीव राका समुज्ज्वलद्दीपशिखेव सा का।।

2. श्रीगुरुगोविन्दसिंहचरितम्

इस काव्य का प्रकाशन 1967 ई० में गुरु गोविन्द सिंह फाऊण्डेशन, पटियाला द्वारा किया गया। डॉ० सत्यव्रत ने इसे चार अध्यायों में विभक्त किया है। इसमें गुरु गोविन्द सिंह के जीवन एवं चरित पर प्रकाश डाला गया है। प्रथम अध्याय में गुरु गोविन्द सिंह के जन्म, औरंगजेब के हिन्दुओं पर अत्याचार, गुरु तेग बहादुर का दिल्ली जाना तथा वहाँ उनकी शहीदी एवं गुरु गोविन्द सिंह को सिक्खों के दशम गुरु की पदवी प्राप्ति आदि घटनाओं का वर्णन है। द्वितीय अध्याय में नाहन के राजा के निमन्त्रण पर गुरु जी का वहां जाना व नादौन के युद्ध का वर्णन है। तृतीय अध्याय खालसा पंथ की स्थापना से सम्बद्ध है तथा चतुर्थ अध्याय में 40 सिक्खों तथा गुरु जी के पुत्रों की शहीदी, औरंगजेब की मृत्यु तथा अन्त में गोविन्द सिंह के देहान्त का वर्णन है। इस काव्य के प्रारम्भ में ही गुरु जी को धर्म, गाय, ब्राह्मणों आदि का रक्षक तथा दुष्टों का हन्ता बताया गया है–

धर्मस्य गोप्ता सुजनस्य पाता गोब्राह्मणानां परिरक्षिता च।
विद्वन्मनोमोहयिता गुणैः स्वैर्दुष्टस्य यो दण्डयिता जनस्य।।

(1/2)

गुरु गोविन्द सिंह द्वारा अपने पिता को धर्म-रक्षा के लिए प्रेरित करने का वृत्तान्त अत्यन्त वीर रस से परिपूर्ण है–

तत्क्रोधवह्नौ शलभायते चेद् भवेत्स्वधर्मस्य ततोऽभिरक्षा।
कोऽन्यो धरायां त्वदृतेऽस्ति तात यो दुष्करं कार्यमिदं विदध्यात्।।

(1/46-47)

3. थाइदेशविलासम्

121 पद्यों वाले इस खण्डकाव्य में 116 पद्य पर्यन्त थाई देश का वर्णन है। इस काव्य का प्रकाशन ईस्टर्न बुक लिंकर्स, दिल्ली द्वारा सन् 1979 में किया गया। इस काव्य का थाई अनुवाद राजकुमारी महाचक्री देवरत्नराजसुता सिरिथौर्न (Sirindhorn) द्वारा किया गया तथा अंग्रज़ी अनुवाद कवि ने स्वयं किया है। काव्य की भूमिका Prof. Visudh Busyakul, Chulalongkorn University, Bangkok द्वारा लिखी गई है।

इस खण्डकाव्य की विषयवस्तु दक्षिण दिशा में स्थित थाइलैण्ड नामक देश के इतिहास एवं वहां के लोगों की संस्कृत एवं सभ्यता से सम्बद्ध है। इस काव्य के अनुसार वहां के लोग हिन्दू तथा बौद्ध धर्म के प्रति निष्ठावान् हैं तथा रामकथा के प्रति लोगों में अत्यधिक आस्था है। वहां के

भित्तिचित्रों में रामायण के कथानक देखे जा सकते हैं। विहारभूमि में स्थित बुद्धप्रतिमा भी दर्शनीय

है। कवि ने इसमें अयोध्या, पत्तया समुद्रतट, चांगमई, कोरल द्वीप आदि भौगोलिक स्थलों एवं उनकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का विवेचन किया है। थाईदेशीय लोगों की धर्म के प्रति रुझान, राष्ट्र व राजा के प्रति श्रद्धा तथा अपनी संस्कृति के संरक्षण को कवि थाईलैंड का प्रतीक मानते हैं-

धर्मो राष्ट्रं च राजा च चतुर्थी संस्कृतिस्तथा।
एतच्चतुष्टयं प्राहुः थाईदेशस्य लक्षणम्।।

(16)

कवि के अनुसार यद्यपि थाईवासियों की वेशभूषा पश्चिम की हो गई है, तथापि उनकी अपने धर्म तथा संस्कृति में अगाध श्रद्धा है-

पाश्चात्यवेषोऽपि जनोऽत्र नूनम्
आचारमङ्गीकुरुते स्वदेश्यम्।
धर्मे स्वकेऽस्यास्ति निसर्गसिद्धा
श्रद्धा दृढा भक्तिरनुत्तमा च।। (6)

भारतीय प्रभाव का उल्लेख करते हुये कवि का कहना है कि वहां वाल्मीकि रामायण का प्रभाव पग-पग पर लक्षित होता है तथा नामकरण पर भी भारतीय प्रभाव स्पष्ट है। यथा राम, सीता, शोभा, शान्ति आदि-

रामेति सीतेति सुदारुकेति
शोभेति शान्तीति वरेति वापि।
नामानि रम्याणि जनो दधानो
हर्षप्रकर्षं हृदि वर्षतीह।। (11)

बौद्ध विहारों के अतिरिक्त हिन्दू देवी देवताओं के मन्दिरों में ब्रह्मा के मन्दिर उल्लेखनीय हैं-

चतुर्मुखस्यापि च मन्दिराणि
श्रीब्रह्मदेवस्य पदे पदेऽत्र।
एकत्र पूजा सुगतस्य भक्त्या-
ऽपरत्र च ब्रह्मण आविरस्ति।। (12)

4. इन्दिरागान्धीचरितम्

इस काव्य में इन्दिरागान्धी द्वारा स्वतन्त्रता प्राप्ति हेतु किए गए संघर्ष का वर्णन किया गया है। श्रीमती इन्दिरागान्धी के जन्म से लेकर उनके हृदय में देश के लिए कुछ करने की इच्छा उत्पन्न होना, संगठन बनाना, फिरोज़ गान्धी के प्रति इन्दिरा के हृदय में प्रेम उत्पन्न होना तथा दोनों का परस्पर विवाह, लखनऊ में एक राष्ट्रीयध्वज समारोह में पुलिस द्वारा विद्यार्थियों तथा इन्दिरा पर लाठियां बरसाना, इन्दिरा की गिरफ्तारी, देश का विभाजन व भारत की स्वतन्त्रता, जवाहरलाल

नेहरू तथा लाल बहादुर शास्त्री की मृत्यु के पश्चात् श्रीमती इन्दिरागान्धी का प्रधानमंत्री बनकर देश के प्रगति हेतु अनेक कार्य करना तथा 'भारतरत्न' की उपाधि से विभूषित होना, भारत-पाकिस्तान युद्ध के पश्चात् आपातकाल की घोषण करना तथा श्रीमती इन्दिरागान्धी द्वारा बीससूत्रीय एवं श्री संजय गांधी द्वारा पञ्चसूत्रीय कार्यक्रम चलाना आदि घटनाओं का वर्णन कवि ने इस महाकाव्य में किया है। निम्न पद्य में कवि की कल्पना देखें-

नेत्र्यस्याः सेनाया दृढसङ्कल्पेन्दिरा ·सतां धुर्या।
अहमपि निजदेशार्थं किमपिकरोमीत्यधात्परां तुष्टिम्।।

5. श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम्

यह महाकाव्य पच्चीस सर्गों में निबद्ध है। थाईलैण्ड में बुद्धयोद्फा नामक चक्रिवंशीय राजा प्रसिद्ध विद्वान् थे, उन्होंने थाई भाषा में सहस्रों श्लोकों के माध्यम से रामकीर्ति (रामकियन) नामक अति विस्तृत काव्य का सृजन किया। इस ग्रन्थ का आधार श्रीराम कथा है। उनके बाद राजा बुद्ध नाइ लर्त ला ने रामकथा को गेय नाट्य रूप दिया, उसके आधार पर आज भी रामकथा का अभिनय किया जाता है। थाईलैण्ड में प्रचलित रामकथा को आधार बनाकर ही डॉ० सत्यव्रत शास्त्री ने इस 'श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम्' की रचना की। राम को 'नारायण' का रूप प्रदर्शित करते हुए कवि ने कहा है-

कौसल्यातः प्रजातोऽभूत् स्वयं नारायणः प्रभुः।
रामरूपेण हरितवर्णो वर्ण्यो विपश्चिताम्।। 3/20

इस महाकाव्य के अन्त में भगवान् शङ्कर की आज्ञा से सीता तथा राम पुनः एक साथ रहना प्रारम्भ कर देते हैं।

6. पत्रकाव्यम्

पद्यात्मक पत्रकाव्य की दृष्टि से कवि का यह अनुपम प्रयास है। इस काव्य का प्रकाशन ईस्टर्न बुक लिकंर्स, दिल्ली द्वारा सन् 1994 में किया गया है। पद्यों में विदेशों से भारतीयों को तथा भारत से विदेशियों को लिखे गए 100 से अधिक पत्र हैं। इस काव्य में कवि की अनुभूतियां स्पष्टतः परिलक्षित होती हैं। इस काव्य में भारतीय व विदेशों के रमणीय व धार्मिक स्थलों का वर्णन, सांस्कृतिक पक्ष विशेष महत्व रखता है। उदाहणार्थ 28-4-1984 के डॉ० कृष्णलाल जी को लिखे गए पत्र में जगन्नाथ पुरी का वर्णन तथा थाईलैंड के चांगमाइ नगर आदि का वर्णन द्रष्टव्य है।

काव्य का प्रारम्भ कवि ने पितृपाद आ० चारुदेवशास्त्री जी को लिखे दो पत्रों से किया है-

आशिषो गुरुजनैर्हृदयेन हारिता लघुदलद्वितयेन।
आप्य हर्षमतुलं प्रतिपन्नः साञ्जलिश्चरणयोः प्रणमामि।। (1)

काव्य की समाप्ति पर भी पितृपाद के प्रति श्रद्धाभाव व्यक्त किया गया है–

इति श्रीचारुदेवाख्यविद्वत्तल्लजसूनना रचितः पत्रकाव्याख्यः सत्यव्रतेन शास्त्रिणा।

इसका द्वितीय भाग 2009 में प्रकाशित हुआ था।

7. शर्मण्यदेशः सुतरां विभाति

जर्मनी यात्रा के समय की यादें इस खण्डकाव्य की कथावस्तु का आधार हैं। इन यादों में कवि ने जर्मनी के विभिन्न नगरों, शहरों तथा गांवों की सुन्दरता का वर्णन करने के साथ-साथ अपने वहां पर दिए गए व्याख्यानों तथा वहां के विद्वानों की प्रतिक्रियाओं को निबद्ध किया है। अखिल भारतीय संस्कृत परिषद्, लखनऊ द्वारा इस खण्डकाव्य का प्रकाशन 1976 ई० में किया गया।

• • •

30

‘भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र’ (प्रथमो भागः)

आत्मेतिवृत्तं सत्यव्रतशास्त्रिणाम्

सदाशिवकुमारो द्विवेदी

संस्कृतविद्यायाः मूर्धन्यानां वैयाकरणशिरोमणीनां सहृदयकवीनाम् आचार्याणां सत्यव्रतशास्त्रिमहोदयानां सारस्वतावदानचरितमस्ति सर्वविदितम्। भारतशासनस्य सर्वोच्चपुरस्कारैः सम्मानैश्चालङ्कृतानामाचार्याणां सम्पूर्णमपि जीवनं सारस्वतसेवामयमिति जानन्त्येव तत्र भवन्तो भवन्तः सर्वेऽपि साहित्यसेवाधुरीणा विश्वस्मिन्। सम्पूर्णेऽपि भूतले संस्कृतभाषायाः सम्प्रसाराय सम्यगध्ययनाध्यापनाय समर्पितजीवनानां शास्त्रिवर्याणां आत्मेतिवृत्तत्वेन प्रकाशिते **‘भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र’** इत्यस्य ग्रन्थस्य प्रथमभागे उपनिबद्धमेतेषां जीवनचरितं वैयक्तिकं, प्राशासनिकं शैक्षणिकं मधुरमधुरञ्चानुभवं समेषामेवास्ति संस्कृतशिक्षाक्षेत्रे संरक्तचेतसां प्रेरणास्पदम्।

१८२प्रकरणात्मिकायाः आत्मकथाया अस्या ३०४ पृष्ठात्मकः प्रथमो भागः २०१५ ख्रीष्टाब्दे प्रकाशतामगात् ‘विजयाबुक्स’ इत्यस्मात् प्रकाशनसंस्थानात् भारतराजधान्याः। सत्यव्रतशास्त्रिमहाभागानां सम्पूर्णमपि जीवनं समाक्रान्तमस्ति अप्रत्याशिततत्वेन समुपस्थिताभिः घटनाततिभिर्नित्यम्। तदेतत् सर्वं संक्षेपतः स्वयमेवोद्गिरन्ति शास्त्रिचरणाः ग्रन्थस्यास्य आदावेव। तद्यथा—

अघटितघटितं घटयति सुघटितघटितानि दुर्घटीकुरुते।
विधिरेव तानि घटयति यानि पुमान्नैव चिन्तयति।।

सुप्रथितेयं प्राचामुक्तिर्मज्जीवने सर्वथा चरितार्थतां गता। तादृशं बहु मज्जीवनेऽघटिष्ट यन्मया स्वप्नेऽपि न चिन्तितमासीत्। पञ्चनदेषु लब्धजनिर्मादृशो जनो वाराणसीमुपेत्य प्रातःस्मरणीयेभ्यो वैयाकरणधुरन्धरेभ्यः पण्डितशुकदेवझाशर्मभ्यः सम्पूर्णं महाभाष्यमधीयीत, तथैव चाधीयीत सम्पूर्णं वाक्यपदीयं तद्गूढरहस्योद्भेत्तृभ्यः पण्डितपुंगवेभ्यः श्रीरघुनाथशर्मपाण्डेयमहाभागेभ्यः; दिल्लीस्थ-हंसराजकालेजे नियुक्तिं लब्ध्वापि, तत्परित्यज्य पुनरपि तत्रैव नियुक्तिं लभेत; दिल्लीविश्वविद्यालये वरीयांसमुपाचार्यं व्युत्क्रम्याचार्यपदे प्रतिष्ठापितो भवेत्; अकस्मादेव बैंकाकनगरेऽभ्यागताचार्यपदनियुक्तिसूचनामधिगच्छेत्, तत्र च तेन राजदारिकाऽध्यापनीया भवेद्राजगुरुपदप्रतिष्ठा चाप्ता भवेत्, तत्र स्थितिमता च श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यसदृशं परःसहस्रपद्यनिबद्धं पञ्चविंशतिसर्गात्मकं नानावृत्तमयं

नानावृत्तप्रतिपादकं थाईरामकथां निरूपयन्महाकाव्यं विरचयेत् ; थाईदेशविषये इदम्प्रथमं थाइदेशविलासमिति काव्यं प्रणयेत् ; शर्मण्यदेशीयट्यूबिंगनयात्राप्रसङ्गे च सर्वथाऽसंस्तुताज्जीवितकिंवदन्तीरूपेणाख्यातान् मिहिरसेनसदृशाज्जनात्सर्वविधं साहाय्यं विन्देत्। एतत्सर्वमनुध्यायैव 'भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्रेति' कलिदासीया पंक्तिरेवैतदात्मकथाशीर्षकरूपेणोपात्ता।''

आत्मकथेतिवृत्तत्वेनोपनिबद्धेऽस्मिन् ग्रन्थे शास्त्रिमहाभागैः स्वकीयस्य सारस्वतोपक्रमस्य उपस्थापनक्रमे दैवस्यानुक्रमेण प्रेरणास्पदता क्रमेणोपस्थापिताऽस्ति प्रतिपदम्। स्वकीयं पुत्रं शरच्चन्द्रं सम्बोध्य बैकाकनगरतः महाकविरसौ उपस्थापयति स्वकीयाननुभवान् अनुक्रमेण स्वजीवनस्वरूपनियामकान् ग्रन्थेऽस्मिन्। जिज्ञासितमासीदाचार्यचरणानामेतदितिवृत्तं तत्पुत्रेण शरच्चन्द्रेण बहुशः। तदीयां जिज्ञासामेवोपशमयितुमुपनिबद्ध्नाति महाकविरसौ स्वेतिवृत्तं प्रेरणायै संस्कृतज्ञानां संस्कृताधीतिनाञ्च-च्छात्राणाम्।

पाकिस्तानदेशाङ्गभूते लवपुराख्ये पुरे १९३० ईसवीये संवत्सरे लब्धजनिरसौ महाकविः शैशवे प्रतिवेशिनः कस्यापि यवनस्य एकया पारसीकपत्न्या महता स्नेहेनासीत् संवर्धितः। गर्भस्थोऽसौ शिशुः अविकलं वाल्मीकीयं रामायणं पितृचरणमुखात् श्रुत्वाऽवाधारयत् पार्थिवं चैतन्यं वपुः। तत्प्रभावादेवासीदस्य रामायणकथाशोधविषयिणी महती प्रवृत्तिः। तत्परिणामभूतमेवास्ति एतेषां कृतिद्वयं - **'दि रामायण-ए-लिंग्विस्टिक स्टडी'** इति शीर्षकेण आङ्ग्लभाषायामुपनिबद्धः ग्रन्थः थाईदेशीया रामकथायाः पञ्चविंशतिसर्गात्मकत्वेन परःसहस्रपद्यात्मकेन **'रामकीर्तिमहाकाव्य'** - त्वेनोपनिबन्धनञ्च।

सत्यव्रतशास्त्रिमहाभागानां पितृचरणाः महावैयाकरणा अभिनवपाणिनिरिति विरुदेन सुविख्याताः पण्डितचारुदेवशास्त्रिणः लवपुरस्थस्य डी.ए.वी.कालेजे संस्कृतस्य प्राध्यापका आसन्। सम्पूर्णाऽपि अष्टाध्यायी अमरकोषश्च तत्प्रेरणयैव सत्यव्रतशास्त्रिभिः कण्ठस्थीकृतौ सम्यगधिगतौ च। पितृचरणानामेव प्रेरणया एते आङ्ग्लभाषायाः सम्यगध्ययनं विधाय तत्रापि स्वकीयमप्रतिमं सामर्थ्यं ग्रन्थरचनादिमुखेन प्राकाशयन्।

मध्यमापरीक्षायां 'भवितव्यानां द्वाराणी'ति महाकवेः कालिदासस्य सूक्तिवचनं चरितार्थतामलभत जीवने एतेषाम्। मध्यमापरीक्षायामासीत् प्रधानविषयः व्याकरणम्। अन्ये अवान्तरविषया अप्यासन् परीक्षायामस्यां निर्धारिताः। तेषु नक्षत्रशास्त्रमित्येकः। तत्कृते होराशास्त्रमिति ग्रन्थः नासीदेतेषां उपलब्धः। परीक्षायाः मध्ये होराद्वयात्मकः यः समयान्तरालः एभिरुपलब्धः तस्मिन्नेव काले कस्यापिच्छात्रस्य होराशास्त्रपुस्तकेन कतिपयानि पद्यानि कण्ठस्थीकृत्य तदर्थं चावगम्य परीक्षायां प्राविशन्। प्रश्नपत्रे स एव विषयः प्राश्निकेनासीदुपस्थापितः। होराशास्त्रविषये होराद्वयकालेन यदधीतं तदेवोपस्थाप्य परीक्षा समुत्तीर्णा। भाग्यं फलति सर्वत्रेत्येषा उक्तिरत्र अवितथत्वेन चरितार्थतामगात्।

प्राच्यप्रतीच्योभयविद्याध्ययनक्रमेण परीक्षाः समुत्तीर्य एभिः दिल्लीस्थे हंसराजकालेजे संस्कृतप्राध्यापकपदे नियुक्तिः सम्प्राप्ता। हंसराजकालेजे प्राध्यापयन्तोऽप्येते कक्षा अध्यापयन्ति स्म दिल्लीविश्वविद्यालये। तदनन्तरमेते दैवानुकूल्यात् कुरुक्षेत्रविश्वविद्यालये वरिष्ठसंस्कृतप्राध्यापकपदे

नियुक्तिमलभन्त। तत्रासन् प्राश्निकरूपेणोपस्थिताः होशियारपुरस्थस्य वैदिकशोधसंस्थानस्य निदेशका आचार्या विश्वबन्धुमहाभागा येभ्यः अधिका अङ्काः लवपुरस्थस्य विश्वविद्यालयस्य स्नातकपरीक्षायां शास्त्रिमहाभागैः प्राप्ता आसन्। एतदेवाधिगम्य प्राश्निकैः प्रश्नोऽपि नोपस्थापितः कोऽपि; मौनमेवावलम्बमानानामेतेषां विनयवतां पदेऽस्मिन् तत्र नियुक्तिः सञ्जाता।

'क्षणशः कणशश्चैव विद्यामर्थञ्च चिन्तयेदिति' उक्तिरेतेषाम् आङ्ग्लभाषाभ्यासक्रमविषये चरितार्थतामायाति। नासीदेतेषां कश्चनाप्यभ्यास आङ्ग्लभाषायाः। पितृचरणा एतेषामासन् आङ्ग्लभाषाविज्ञाः। तैरेते आङ्ग्लभाषां प्रति प्रेरिताः। बहुना परिश्रमेणैभिः मैट्रिक्युलेशनपरीक्षा आङ्ग्लभाषामाध्यमेनैव समुत्तीर्णा छात्रवृत्तिरप्यधिगता। वर्षद्वयावधिकेनैव कालेन एभिः महानधिकारोऽधिगत आङ्ग्लभाषायम् इति संस्कृतज्ञानां संस्कृतमात्रैकपरायणानां प्रेरणायै अत्रोल्लिख्यते।

१९४७ वर्षस्य अतिविषमे भारतविभाजनकाले दैववशाद् एते स्वपितृचरणैः सह ग्रीष्मावकाशे सम्प्राप्ता आसन् स्वकीये होशियारपुरमण्डलान्तर्गते पैतृके 'अहियापुरग्रामे'। अस्मिन्नेवान्तराले हिन्दूमुसलमानयोर्मध्ये महानुपप्लवः सञ्जातः। दावाग्निरूपेण प्रसृतेऽस्मिन् उपप्लवसमये लवपुरं प्रति प्रतिप्राप्तिर्नासीत् सम्भवा। एतेषां पितृचरणानां सर्वेऽपि ग्रन्थाः लवपुरस्थगृहे एवासन्। तैः यथाकथञ्चिद् दुर्दिनेऽस्मिन्नपि लवपुरं गत्वा ग्रन्था आनीताः सैनिकानां साहाय्येन। दैवानुकूल्यात् १९४८वर्षे अम्बालानगरस्य डी.ए.वी.महाविद्यालये पितृचरणैरेतेषाम् अध्यापनकार्यं पुनरपि प्रारब्धम्। समय एष आसीद् दुष्करतमः शास्त्रिवर्याणां जीवनक्रमे। सर्वविधाभावाक्रान्तिकालेऽस्मिन् अत्यन्तं काठिन्येन पैतृकं जीर्णमपि निवासं परिष्कृत्य यथाकथञ्चित् कश्चित् कालो यापितस्तत्रैभिः।

१९५१ वर्षे जालन्धरनगरे एम.ए. कक्षायाम् अध्ययनार्थं सम्प्राप्ताः शास्त्रिमहाभागाः। किन्तु प्रतिग्रीष्मावकाशं वाराणसीं प्राप्य तत्रत्येभ्यः श्रीशुकदेवझाशर्मभ्यः शास्त्राध्ययनं कुर्वन्ति स्म। अनपत्या गुरुचरणाः एतानध्यापयन्ति स्म अपत्यप्रीत्या परिश्रमेण। कथयन्ति स्वयमेव शास्त्रिवर्या एवम् – "वाराणसीनिवासकालेऽहं नानागुरुभ्यः शास्त्राण्यशीलयम्। पूर्वाह्णे सन्यासिसंस्कृतमहाविद्यालयं गत्वा पण्डितमहादेवोपाध्यायेभ्यः काव्यशास्त्रमपाठिषम्, अपराह्ण एकवादने पण्डितशुकदेव-झाशर्मभ्यस्तद्गृहमुपेत्य व्याकरणशास्त्रं सायञ्चोदासीनपीठं प्राप्य स्वामिसुरेश्वराचार्य्येभ्यो वेदान्तमध्यगीषि। एवम् एकस्मिन्नेव दिने मम नाना शास्त्राध्ययनं प्रावृतत्। न केवलं विविधशास्त्राध्ययनम् एवापितु गमनागमनयोरपि मम भूयानायासोऽभूत्। तथापि क्षणशो विद्यां चिन्तयेदिति सिद्धान्तं परिपालयन् विद्योपार्जनैकदृगहं नायासमन्वभूवम्। प्रसन्नेऽन्तरात्मनि सत्यप्यायासे तद्बोधो मे नाभूत्। यत्किञ्चिदहं सम्प्रति जानामि तत्तस्यायासस्यैव फलम्। कया गिरा तानहं गुरूनभिष्टुयाम्। ते ह्यासन् शेवधयो विद्यानां निधयश्च गुणानाम्। तैरहं शिष्यत्वेन स्वीकृत इति परमं मे भागधेयम्।"

सर्वाण्यपि शास्त्राणि शुकदेवझाशर्ममहोदयानां कण्ठगतान्यासन्। सम्पूर्णमपि महाभाष्यं तैरधीतवन्त इमे गभीरतया। अनितरसाधारणमासीत् तेषां पाण्डित्यम्। जालन्धरतः एम.ए. इत्येनमुपाधिं सम्प्राप्य काशीहिन्दूविश्वविद्यालये पीएच्.डी. उपाधये प्रवेशं गृहीत्वा **'भर्तृहरिदृष्ट्या दिक्कालमीमांसा'** इत्यस्मिन् शोधविषये शोधकार्यं शास्त्रिवर्याः प्रारभन्त।

शोधकार्यार्थं वाक्यपदीयमध्येतव्यमिति राजकीयसंस्कृतमहाविद्यालयस्य संस्कृतप्राध्यापकान् पण्डितरघुनाथशर्ममहाभागानुपगता इमे। काशीहिन्दूविश्वविद्यालयादतिदूरं स्थिते कबीरचौरास्थाने निवसद्भी रघुनाथशर्ममहाभागैः ग्रन्थग्रन्थिभेदेन अत्यन्तं दुरूहं वाक्यपदीयम् अध्यापितम्। अध्यापनात् पूर्वमाचार्यचरणैः विद्योपार्जनलालसा सुपरीक्षिता एतेषां येन केनापि मिषेण बहुधा अध्ययनाय गृहं प्राप्तानप्येतान् पराकृत्य। **'पात्रप्रतिगता विद्या पात्रप्रतिगतं धनम्'** इति प्राचीना उक्तिरत्र चरितार्थतामगात्। शर्ममहाभागाः समयमनाकलय्य अनवरतं पाठयन्ति स्म होरात्रयम्। छात्रत्वेनोपस्थिताः शस्त्रिवर्याः श्रान्तिमनुभवन्ति स्म, न पुनः विषयोद्भेदनक्रमे प्रवर्तमानाः गुरवः पण्डितश्रीरघुनाथशर्माणः। शिष्यानुरागोऽप्यासीत्तथैव स्वगुरौ। एकदा मध्ये मध्यरात्रमाकारितः शिष्यः शैत्यमनाकलय्य छात्रावाससंरक्षकाणामनुमतिं यथाकथञ्चिदधिगम्य द्विचक्रिकामारुह्य गरुचरणं प्राप्नोति ततः निर्देशमुपलभ्य प्रत्यागच्छति छात्रावासं गुरुगृहादतिदूरस्थं पुनरपि। नाहं पाठयिष्यामि कतिपयं दिवसं यावत् स्वगृहं प्रति गमनोद्योगादित्येवासीत् तेषामादेशः।

१९५५ वर्षे काशीहिन्दूविश्वविद्यालयतः शोधकार्यं समाप्य अम्बालानगरं प्रति प्रस्थितैः शास्त्रिमहाभागैः दिल्ल्यां यात्रां स्थगयित्वा हंसराजकालेजस्य प्राचार्यैः गोवर्धनलालदत्तैः सम्पर्कः संस्थापितः। तेषामनुमत्या तत्रैव संस्कृताध्यापनक्रमः समारब्धः। संस्कृतविभागाध्यक्षाः नासीदधिकमनुकूलाः। वर्षानन्तरं नियुक्तेः सम्पुष्टिकाले विभागाध्यक्षेण शास्त्रिमहाभागानां नियुक्तेः सम्पुष्टिर्न विहिता। एतैरध्यापितानां छात्राणां परीक्षापरिणामः अत्यन्तम् उत्कृष्ट आसीदिति ज्ञात्वा प्रधानाचार्येण एतेषां नियुक्तेः सम्पुष्टिः स्वयमेव सम्पादिता।

प्रधानाचार्यमहाभागाः भौतिकशास्त्रस्य प्राध्यापका आसन्। तैरस्मिन् विषये एका श्रुतिः समुद्धृता एतान् सम्बोध्य एवम् – श्रुतिराह 'मित्रादभयममित्रादभयं ज्ञातादभयमज्ञातादभयमि'त्यादि। तत्रामित्रादभयमिति तु बुद्धिमुपारोहति। कथं मित्रादभयं प्रार्थ्यतेऽत्र। यदि कश्चिन्मित्रं तर्हि तस्माद् भयं न भवेदेव। यावत् शास्त्रिवर्याः प्रश्नमिमं समादधति तावत्तैः स्वयमेवोक्तमित्थम् -

'यदि मित्रं प्रतिकूलतां याति तर्हि यावतीं हानिं स कर्तुं शक्नोति न तावतीममित्रम्। तस्मात्तु वयं सावधाना एव। मित्रं पुनर्द्वितीयमिव हृदयं भवति। गुह्याद् गुह्यतरमपि रहस्यं स जानाति। तदुद्भेदे जनस्य सर्वथा विनाश एव। अत उक्तं मित्रादभयमिति। न केवलमिदमेव। अमित्रादभयमित्यतः पूर्वं तदुक्तम्। एतद् व्याख्यानं श्रुत्वा चमत्कृत इवाहमभूवम्। नातः पूर्वमयं विषयो मया विचारितोऽपि।'

यन्निषेधं विना स्वास्थ्यस्य गतिर्नास्ति तन्निषेद्धव्यमित्यपि तैरुपदिष्टः स्वास्थ्यस्य रहस्यविशेषः।

दैवानुकूल्येनैव समपद्यत एतेषां सौभाग्यवत्या उच्चशिक्षाविभूषितया शीलसंस्काराभ्यां सम्पन्नया उषःसंज्ञया कन्यकया उपयमः लक्ष्मणपुरस्थया। स्नातकोत्तरकक्षायाम् अनया संस्कृतविषयमधीत्य पीएच्०डी० शोधोपाधिरप्युपलब्धो विवाहानन्तरम्।

संस्कृतज्ञाः पुस्तकीभवन्तीति वचनं शास्त्रिमहाभागानां विषये चरितार्थमभवत्। संस्कृतग्रन्थानां

पत्रपत्रिकाणाञ्चास्ति एतेषु महान् संग्रहः। सम्प्रत्यपि संस्कृतपत्रिकाणां प्रकाशनाय अनुदानमेभिर्दीयते मुक्तहस्तेन। संस्कृतपत्रिकाणां प्रकाशनमनुभूय एभिरुच्यते –

लेखस्य कष्टं च धनस्य कष्टं कष्टं तथा मुद्रणसंविधायाः।
संचालनं संस्कृतपत्रिकाणामसंशयं कष्टपरम्परैव।।

१९५७ वर्षे कुरुक्षेत्रविश्वविद्यालये वरिष्ठप्राध्यापकपदे एतेषां नियुक्तिः संजाता। नवीनोऽसौ विश्वविद्यालयः प्रथमश्चासौ संस्कृतविभागः। स्थापनादारभ्य तत्रगतेः सम्पूर्णमप्यासीद् दायित्वमेभिः वोढम्। कुरुक्षेत्रं नासीदनुकूलमेतेषां कृते। तत्परित्यज्य एते दिल्लीं प्रति प्रस्थिताः। दिल्लीविश्वविद्यालयस्य संस्कृतविभागे प्रवाचकपदे कृतावेदना अप्येते प्रवक्तृपदे नियुक्तिमलभन्त। दिगन्तविश्रान्तयशसां शास्त्रपारावारपारदृश्वनां तत्रस्थानां तदानीन्तनानां कुलपतिमहोदयानां दैवानुकूल्यं वचः सम्प्रत्यपि स्मरन्त्येते महाभागा एवम् – "भवतो विषये तु यथाऽहं पश्यामि भवांस्तत्सर्वमप्युत्कृष्टतममधिगमिष्यति यन्नियत्या भवदर्थे कल्पितं भवेत्।" (As for you, I am sure you will get all the very best that destiny has to offer you)

एतेषां नियुक्तिसमये दिल्लीविश्वविद्यालयस्य संस्कृतविभागे नासीच्छात्राणां संख्या भूयसी। एतेषामध्यापनाध्ययनोद्योगेन संस्कृताध्येतॄणां छात्राणां संख्या वृद्धिमगात्। एतन्नियोक्तॄणां विभागाध्यक्षाणाम् आचार्यनरेन्द्रनाथचतुर्धुरीणानां साहाय्यं विदधद्भिरेभिः संस्कृतविभागस्य सम्पूर्णा प्राशासनिकी कार्यपद्धतिः सम्यगधिगता। १९६९ वर्षे प्रोफेसरपदमधिगम्य एभिः संस्कृतविभागस्य विभागध्यक्षपदमप्यलङ्कृतम्। तत्रस्थैः प्राध्यापकैः आचार्यरसिकविहारिजोशिमहाभागैः सह आसीदेतेषां प्रतिद्वन्द्वः। जोशिमहाभागा वरिष्ठा आसन् रीडरपदनियुक्तिक्रमे कार्यवाहकाध्यक्षाश्चासन् चौधुरीमहाभागानां सेवातो निवृत्तेरनन्तरम्। चौधुरीमहाभागानां सेवानिवृत्तेरनन्तरं मुम्बईतः समागतानामाचार्यमाइणकरमहाभागानां प्रोफेसरपदे नियुक्तिः सञ्जाता तत्प्रभावेण च संस्कृतविभागस्य स्थायिविभागाध्यक्षत्वेन। किञ्चित्कालानन्तरं माइणकरमहोदया अन्यत्र नियुक्तिं लब्ध्वा विभागतः प्रतिनिवृत्ताः, जोशिमहाभागाश्च मैक्सिकोदेशं प्रति प्रस्थिताः, शैक्षणिकमुद्योगं कमपि तत्र स्वीकृत्य। १९६९ वर्षस्य अक्तूबरमासे दिल्लीविश्वविद्यालयस्य संस्कृतविभागस्य आध्यक्ष्ये अस्थायित्वेन नियोजिताः शास्त्रिवर्याः।१९७० वर्षस्य अगस्तमासे एते प्रोफेसरपदे नियुक्ताः। तत्रासीत् कारणमेतेषामप्रतिमा शास्त्रविषयिणी व्युत्पत्तिः। १९७० वर्षस्य सितम्बरमासस्य एकादशतारिकायां शस्त्रिवर्याणामभिनन्दनमभवद् विभागाध्यक्षपदग्रहणमभिलक्ष्य। समारोहेऽस्मिन्नेभिः संस्कृतपद्यमयी स्वकीया कार्यवृत्तयोजना प्रकाशिता विभागस्य उन्नत्यै एवम् –

सुहृद्वर्यैर्विपश्चिद्भिर्भाषणार्थं निमन्त्रितः।
श्लोकैः कतिपयैरेव वचः स्वं वक्तुमुद्यतः।।१।।

परीवारेण मम यो मयि स्नेहः प्रदर्शितः।
कृतज्ञताभराक्रान्तस्तेनास्मि सुखितो भृशम्।।२।।

स्निग्धोऽस्मि भवतां स्निग्धा भवन्तः सर्व एव मे।
स्नेहः परस्परमयं प्रत्यहं वृद्धिमश्नुताम्।।३।।

संस्कृतस्य प्रचाराय बद्धोद्योगा वयं समे।
उन्नतिं हि गिरस्तस्याः सन्ततं कामयामहे।।४।।

विभागविषये साध्वी व्यवस्था सम्प्रवर्तताम्।
एतदर्थं भवत्साह्यव्यपेक्षा सुतरां मम।।५।।

सर्वे सञ्चिन्त्य सञ्चिन्त्य कार्यं कुर्याम शोभनम्।
दृढं संग्रथिता भूत्वा सूत्रे मणिगणा इव।।६।।

दिल्लीविश्वविद्यालयस्य प्रोफेसरपदे नियुक्तेः पूर्वमेभिः सम्प्राप्ताऽसीन्नियुक्तिः काशीहिन्दूविश्वविद्यालयस्य संस्कृतविद्याधर्मविज्ञानसङ्कायस्य प्रोफेसरपदे। पितुराज्ञां शिरोधार्य नियुक्तिरेषा एभिः सविनयं त्यक्ता दिल्लीविश्वविद्यालये प्रोफेसरपदमधिगत्य।

विभागाध्यक्षरूपेण एभिः **'इण्डोलाजिकल स्टडीज'** नाम्न्याः संस्कृतविभागीयायाः शोधपत्रिकायाः प्रकाशनं समारब्धम्। संस्कृतविभागे संस्कृतनाट्योत्सवस्य संस्कृतकविगोष्ठीनाञ्च आयोजनस्य एतेषां सदुद्योगेन कश्चन उपक्रमः सञ्जातः। संस्कृतनाट्यप्रयोगे एते संस्कृतपद्यमयं स्वागतभाषणं कुर्वन्ति स्म आङ्ग्लभाषायां नाट्योत्सवसंक्षेपमपि उपस्थापयन्ति स्म तत्कथायाः अनभिज्ञेषु प्रचाराय।

एभिः प्रथमवारं संस्कृतयोषित्कवीनां महत्सम्मेलनं समायोजितम्। अनुत्साहैः संस्कृतज्ञैः प्रथमं नानुमोदितमेतत् किन्तु - क ईप्सितार्थस्थिरनिश्चयं मनः पयश्च निम्नाभिमुखं प्रतीपयेद् - इति महाकविकालिदासवचनप्रामाण्याद् एते अत्यन्तं साफलीं लेभिरे आयोजनेऽस्मिन्।

संस्कृतनाट्यप्रयोगोद्घाटनप्रसङ्गे एभिः बर्लिननगरस्थस्य अलेग्जेण्डर फान हूम्बाल्ट विश्वविद्यालीयस्य भारतीयविद्यासंस्थानस्य निदेशका विद्वच्छिरोमणयः वोल्फगांगमार्गनराथमहाभागाः आमन्त्रिता आसन्। कार्यक्रमेऽस्मिन् मूर्धाभिषिक्ताः रामचन्द्र-नारायण-दाण्डेकरमहाभागा अप्यासन् आमन्त्रिताः। नाट्योत्सवस्य उद्घाटनाय मुख्यकार्यकारिपार्षदाः श्रीराधारमणमहाभागा मुख्यातिथिरूपेणामन्त्रिता आसन्। अवसरेऽस्मिन् शास्त्रिमहाभागैः समेषामभिनन्दनं विलक्षणेन पद्यात्मकेन स्ववक्तव्येन उपस्थापितम् –

योरूपभूमाविटलीतिनामा ख्यातिं गतो देशविशेष एकः।
गतोऽहमासं गतवर्ष एव तत्र स्वराष्ट्रप्रहितः सुखेन।।१।।

ट्यूरीनपुर्यां खलु तत्र देशे दिग्भ्यो विदिग्भ्यः समुपागतानाम्।
बभूव सप्ताहमतीव रम्यं सम्मेलनं संस्कृतपण्डितानाम्।।२।।

उपस्थितोऽत्रान्यतमोऽयमेषु ख्यातिं गतो मार्गनराथनामा।
शास्त्रेष्वधीती निपुणप्रतीतिर्विपश्चितां प्राग्रहरस्तदाऽऽसीत्।।३।।

श्रीबापनाम्ना पिशलेन चापि विदां वरेण्येन च वेबरेण।
आचार्यपीठं जगति प्रसिद्धमध्यासितं विज्ञवरैर्यदास्त।।४।।

तदेव विद्वानधुनैष सौम्योऽध्यास्तेऽतिसूक्ष्मेक्षिकयोपपन्नः।
विद्वद्वराणां धुरि कीर्तनीयः कीर्तिं गतश्चापि परां जगत्याम्।।५।।

ट्यूरीनपुर्यां प्रथमं बभूव विपश्चितैनेन मदीयसंगः।
आभाषणं चापि बभूव तत्र क्षणान् प्रगाढं कतिचिन्मनोज्ञम्।।६।।

सम्बन्धमाभाषणपूर्वमाहुरित्येतदाख्यत् कविकालिदासः।
वचो यथार्थं सुतरां तदस्ति क्रान्तं कवेर्दर्शनमत्र भाति।।७।।

सम्बन्ध आभाषणपूर्वकोऽभूद् विपश्चितैनेन ममापि तत्र।
सम्बन्धबन्धे सति च प्रजातं मैत्र्यं मनोमोदकरं प्रकामम्।।८।।

मैत्र्येण तेनैव हृदि स्थितेन मुख्यातिथित्वाय निमन्त्रणं स्वम्।
प्रादामहं विज्ञवराय चास्माययं च तत्सत्वरमभ्युपागात्।।९।।

सोऽयं सुधीवर्य उपस्थितोऽस्मास्वद्येति सत्यं कृतिनो वयं स्मः।
सत्संगतिः पुण्यवशेन जाता कृतार्थतां निश्चितमादधाति।।१०।।

१९७६ वर्षस्य नाट्योत्सवस्यापि स्वागतवक्तव्यं पद्यमयमासीत् शास्त्रिवर्याणामेवम् –

समेभ्योऽत्रभवद्भ्योऽत्र सादरं प्रणताञ्जलिः।
नाट्योत्सवे सुरम्येऽद्य स्वागतं व्याहराम्यहम्।।१।।

उत्सवोद्घाटनार्थाय स्वीकृत्य प्रार्थनां हि नः।
रवीन्द्राख्या विदां वर्या अस्मास्वद्य समागताः।।२।।

सम्प्रति किञ्चिदुच्यते वचनं सुधियो विभावयन्तु तदु।
आयोज्यते त्रिदिवसोऽस्माभिर्नाट्योत्सवो ह्येषः।।३।।

त्रिष्वहःसु प्रयोक्ष्यन्ते रूपकाणि नवात्र वै।
तानि सन्तो निरीक्षन्तां सदसद्व्यक्तिहेतवः।।४।।

अभिनेत्र्योऽभिनेतारः सर्वेऽस्मच्छात्रका इह।
कुशीलवकलायां हि न तेषां कौशलं भवेत्।।५।।

तथाऽपि कृतयत्नास्ते स्वं प्रयत्नं भवत्पुरः।
समुपस्थापयिष्यन्ते भवन्मोदो भवेद्यतः।।६।।

इत्याशंसन् बुधा नात्र विषये बहु वच्म्यहम्।
सर्वेभ्योऽपि भवद्भ्योऽत्र स्वागतं व्याहरामि च।।७।।

आङ्गल्या वाचाऽधुना विज्ञा वचोऽहं स्वं प्रवर्तये।
मुख्यातिथीनामन्येषां सौकर्यं परिलक्षयन्।।८।।

कविराजशेखरवच उद्धृत्याहं समापये स्ववचः।
उक्तिविशेषः काव्यं भाषा या भवति सा भवतु।।९।।

गुरुगोविन्दसिंहचरितमहाकाव्यस्य रचनायां दैवस्य आनुकूल्यं प्रमाणयन्ति शास्त्रिवर्या आत्मेतिवृत्ते। एभिर्महाभागैः रामायणभाषापरिच्छेदविषयकः स्वकीयः अभिनवग्रन्थः **'दि रामायण – ए लिंग्विस्टिक स्टडी'** इति नामधेयः यदा पंजाबीविश्वविद्यालयस्य कुलपतिमहाभागाय श्रीकृपालसिंहनारंगमहोदयाय उपायनीकृतस्तदा कुलपतिमहोदयैः एतेषां विषये डा०सुनीतिकुमार-चटर्जीमहोदयैः ग्रन्थप्रशंसायां लिखितं यदेते परिनिष्ठिता संस्कृतकवय इति तत्पठितम्। एतेषां काव्यरचनानैपुण्यमवधार्य कुलपतिमहोदयैरेते विनिवेदिताः - 'किं कर्मण्येकस्मिन् भवानस्मत्सहाय्यं विदध्यात्।'

'भवदादेशं प्रतीक्ष' इति शास्त्रिवर्याणामुत्तरं श्रुत्वा तैः पुररुक्तम्–

'आगामिनो जनवरीमासस्य (१९६७ वर्षे) सप्तदशो दिवसो गुरुगोविन्दसिंहस्य जन्मनस्त्रिशतीपूर्तिवत्सरः। तस्मिन्नवसरे वयं गुरोश्चरितं नानाभाषाभिरुपनिबन्धुमीहामहे। तेषु संस्कृतेनाप्युपनिबद्धं यदि तत्स्यात् तत्रापि च काव्यरूपेण, तदस्माकमीप्सितत्तमम्। नानाभाषोपनिबद्धान् गुरुचरितग्रन्थान् वयं भारतशासनस्य राष्ट्रपतिभ्यो डा.सर्वपल्लीराधाकृष्णन्-महाभागेभ्यः समर्पयितुमीहामहे। तेषु संस्कृतपद्यबद्धो गुरुचरितग्रन्थस्तेभ्यो विशेषेणाभिरोचेत। तं ग्रन्थं भवान् अस्मत्कृते निबध्नात्विति।'

शास्त्रिवर्यैः गुरुग्रन्थकथा तद्विषयकाश्च अन्ये समीक्षाग्रन्था आसादिताः। तत्पठने रात्रिन्दिवं व्यधाय्येभिः अक्टूबरमासस्य प्रथमदिवसादारभ्य दिसम्बरमासपर्यन्तं महाकाव्यममिदं पूर्तिमानायि। गुरोः प्रसाद एष इति स्वीकुर्वद्भिराचार्यचरणैः पद्यमेतदादावेवोपनिबद्धं महाकाव्यस्य–

तस्य प्रभोर्ब्रह्ममयस्य पुंसः कः शक्नुयाद्वर्णयितुं चरित्रम्।
तथाऽपि तद्गौरवमेव मां तच्चरित्रगाने मुखरीकरोति।।

मुद्रितस्यास्य गुरुगोविन्दसिंहचरितमहाकाव्यस्य प्रतिः जनवरीमासस्य सप्तदशे दिवसे राष्ट्रपतिमहाभागेभ्यः समर्पिता। एकवर्षाभ्यन्तर इदमेव काव्यं दिल्लीस्थया सहित्यअकादेमीसंस्थया साहित्यअकादमीपुरस्कारेण पुरस्कृतमासीत्। आसीदसौ प्रथमः राष्ट्रियः पुरस्कारः शास्त्रिवर्याणाम्।

एतेषां विदेशयात्राक्रमः १९७५ वर्षे इटलीदेशे टोरीननगरे समायोजिताद् विश्वसंस्कृत-सम्मेलनादारब्धः। सम्मेलनानन्तरं शर्मण्यदेशस्य (जर्मनी) यात्रापि एतैः सम्पादिता, अस्मिन्नेव यात्राप्रसङ्गे विश्वसंस्कृतसम्मेलने विलक्षणं शोधपत्रमेभिः समुपस्थापितमासीद् यत्र संस्कृतपर्यायवाचिनः शब्दाः समानार्थका न भवन्तीति प्रमाणितमेभिः सोदाहरणं सोपपत्तिकञ्च। एतेषां मते वाल्मीकिरामायणे अनेकेषां पर्यायवाचिनां सहप्रयोगः समुपलभ्यते। तद्यथा – 'स पपात हतो भूमौ विटपीव महाद्रुमः, तां विनाऽथ विहंगोऽसौ पक्षी प्रणदितस्तदा, वने वनेचरांश्चान्यान् खेचरांश्च विहंगमान्, विराजयन्ती तं देशं विद्युत्सौदामनी यथा, रराज राजपुत्री सा विद्युत् सौदामनी यथा, काञ्चनाभं नभश्चक्रे विद्युत्सौदामनी यथा' इत्यादीनाम्।

शोधपत्रवाचनानन्तरं एतेषां शोधपत्रविषये या होराद्वयपरिमिता महती चर्चा सञ्जाता तेन सम्मेलनशोधपत्रप्रस्तुतिसम्बन्धिनी सम्पूर्णाऽपि व्यवस्था व्यवच्छिन्ना अभूत्। कोषकाराः येषां शब्दानां समानार्थकतामुद्घोषयन्ति तत्रापि भवत्येव तत्त्वतो भेद इति उदाहरणततिभिरेभिः सम्यक्प्रतिपादितं शोधपत्रेऽस्मिन्। अनेनैव शोधपत्रेण एतेषां ख्यातिः अन्ताराष्ट्रियसंस्कृतक्षेत्रे अभूत्।

अतः परं सम्पादितायाः शर्मण्यदेशस्य यात्रायाः सम्पूर्णोऽपि वृत्तान्त एभिः पद्यरूपेणोपनिबद्धः – **'शर्मण्यदेशः सुतरां विभाति'** इत्यस्मिन् स्वकीये काव्ये।

१९७७ **वर्षे** फ्रान्सदेशस्य पेरिससमाख्यायां राजधान्यां समायोजिते विश्वसंस्कृतसम्मेलने समुपस्थिता आसन् शास्त्रिवर्याः। ततः एते पूर्वपश्चिमशर्मण्यदेशद्वयकं, पोलेण्डदेशं, हंगरीदेशं इटलीदेशञ्च भाषणाय सम्प्राप्ताः। अस्मिन्नेव समये एभिः बैकांकनगरे अभ्यागताचार्यरूपेण-कार्यकरणार्थमामन्त्रणमुपलब्धम्। यूरोपयात्रां शीघ्रं समाप्य राष्ट्रं प्रत्यागतैरेभिः १९७७ वर्षस्य अक्टूबरमासस्य सप्तमतारिकातः प्रारब्धा स्वकीया बैकांकनगरस्य द्विवर्षात्मिका यात्रा। आग्नेयभूखण्डस्य थाइलैण्डदेशे स्थिते अस्मिन् नगरे आसीत् संस्कृताध्यापनकेन्द्रं शिल्पाकरविश्वविद्यालये यत्र प्रवर्तते पीएच्.डी. इत्युपाधिपर्यन्तं संस्कृताध्ययनम्। अत्रास्ति भूयसी संख्या भारतीयानाम्। अनेकधर्मानुनायिनः अत्र सामरस्येन निवसन्ति। अत्र विष्णुमन्दिरं, गुरुद्वारा, आर्यसमाजमन्दिरादीनि देवस्थानानि विराजन्ते। मन्दिरे कबीर-तुलसीदास-सूरदासादीनां सन्तशिरोमणीनां चित्राणि अङ्कितानि सन्ति। तत्र देवस्थाने प्रवचनं भवति। शास्त्रिमहाभागैः रविवासरे गीताप्रवचनं विहितं हिन्दूधर्मसभाप्रधानानुरोधेन। गीताश्रम आसीत् तत्र बैकांकनगरे यतः 'गीतासन्देश' नाम्नी पत्रिकाऽपि प्रकाश्यते। तत्र प्रकाशिताः सन्ति शास्त्रिवर्याणां नैके निबन्धाः गीतातत्त्वावबोधकाः। संस्कृतज्ञानाय समर्पितभावना थाइदेशस्य राजदारिका एभिरध्यापिता। अध्यापनक्रमे कानिचन पद्यानि स्वरचितानि एभिरुपस्थापितानि -

अस्त्येशियानामनि सुप्रसिद्धे
द्वीपे विशालेऽतिविशालकीर्तिः।
आग्नेयदिङ्मण्डलमौलिभूतो
देशोऽतिरम्यो भुवि थाइलैण्डः।।

श्यामेति नामातिपुराणमस्य
ख्यातं पुराणादिषु यद्विहाय।
थाईतिजात्यध्युषितत्वहेतो-
र्यं थाइलैण्डं कथयन्ति लोकाः।।

राजा प्रजारञ्जनमादधानः
सर्वात्मना बुद्धवचःप्रमाणः।
अतुल्यतेजःपदवीं दधानः

प्रशास्ति यं भूमिबलाभिधानः।।

अकृष्टपच्यं बहु यत्र सस्यं
रम्यास्तथा शाद्वलभूमिभागाः।
मन्दं प्रवान्तश्च यदीयवाता
आगन्तुकानां रमयन्ति चेतः।
देशस्य तस्यास्ति भृशं विशाला
कण्ठे भुवः शुभ्रतरेव माला।
ऐश्वर्यसौन्दर्यविलासधानी
बैंकाकनाम्नी खलु राजधानी।।

उक्तं च परिद्यवि सायाह्ने भवद्देशविषये रचितानि मयेमानि पद्यानि राष्ट्रियसंग्रहालये पाण्डुलिपिविभागध्यक्षाज्ज्ञात्वा यत् थाईदेशविषये संस्कृतेनोपनिबद्धः प्रकाशितो मातृकारूपो वा नैकोऽपि ग्रन्थोऽस्ति, भवद्भिरेव च स निबद्धव्यो भवेदित्युत्स्मयामानस्य तस्य वचः श्रुत्वा। तद्ग्रन्थप्रारम्भरूपाणीमानि पद्यानिसस्वरं प्राचीनपद्धत्या प्रस्तुतानि राजकुमार्यायत्यन्तमरोचन्त प्राह च सा ग्रन्थमिमं काव्यरूपं निबध्नन्तु भवन्तः, अहमिमं थाईभाषयाऽनुवदिष्यामीति।

सैषा एतेषां कृते अतर्कितोपनता प्ररोचना आसीत्। संस्कृतभाषया थाईदेशस्य वैशिष्ट्यं प्रकाशयितुं 'थाइदेशविलासम्' इति नाम्ना स्वतन्त्रमेकं काव्यं विरचितम् एभिः। काव्यमेतत् राजदारिकया कृतेन थाइभाषानुवादेन सह पश्चात् प्रकाशतामगात्।

थाइदेशस्य सर्वेऽपि चक्रिराजवंशपुरुषाः 'राम' इति नाम्ना ख्याता आसन्। साम्प्रतिको नृपालो अतुल्यतेजा नवमो रामोऽस्ति। अत्रत्या थाइभाषयोपनिबद्धा रामकथा 'रामकियन्नि'-ति नाम्नी (रामकीर्तिरिति संस्कृतरूपान्तरणमस्य) अत्यन्तं प्रसिद्धा बुद्धयोद्फेति नाम्ना विद्वच्छिरोमणिना रामप्रथमेन भूपेन विरचिता। इमामाश्रित्य शास्त्रिवर्यै रचितं 'श्रीरामकीर्तिमहाकाव्यम्'। सम्पूर्णेऽपि एशियाभूखण्डे येन केनापि रूपेणास्ति रामकथा व्याप्ता। वाङ्मये, चित्रकलायाम्, अभिनये, पुत्तलिकानृत्ये, लोककथास्वप्येषा रामकथा प्रचलिता। भगवता प्राचेतसेन मुनिना अस्या विषये पूर्वमेवोद्घोषितमस्ति-

यावत् स्थास्यन्ति गिरयः सरितश्च महीतले।
तावद् रामायणकथा लोकेषु प्रचरिष्यति।।

दैवप्रभावादेव रामकथायाः प्रवर्तने प्रवर्तिता आसन् शास्त्रिवर्याः। वाल्मीकिरामायणाद् बहु भिद्यते थाइदेशरामचरितम्। एतदनुचिन्त्य सत्यव्रतशास्त्रिमहाभागैः कृतमस्य संस्कृतभाषायां प्रकाशनम् अनुसन्धित्सूनां कृते सम्प्रत्यपि अमृतायते।

थाइदेशे स्थितानामनेकेषामभिलेखानां संस्कृतपद्यबद्धानां प्रस्तरखण्डेषु थाइभाषायामुत्कीर्णानां संस्कृतरूपान्तरमपि आचार्यवर्यैः विहितं, येन समुद्घाट्यते देशस्यास्य महती काव्यसमृद्धिः। नानावृत्तेषु कतिपयेष्वभिलेखेषु यमकानुप्रासदृष्टान्तोपमोत्प्रेक्षार्थान्तरन्यासादीनामलङ्काराणां प्रयोगः सुतरामावर्जयति सहृदयानां चेतांसि। तद्यथा –

नमध्वं हरदेहार्धहारिणीं हिमवत्सुताम्।
अम्बा न वेति साशङ्कं पश्यति स्म गुहोऽपि याम्।।

प्रथमपङ्क्तिनिबद्धः हकारानुप्रासोऽत्र चमत्कृतिं जनयति। एवमेव सकारजकारयोरनुप्रासचमत्कारः प्रस्तूयते एवम् – **'यज्जाज्वलीति ज्वलनक्षमाम्भःभास्वन्नभस्वन्मृगवन्नभस्सु।'**

अलङ्कारेषु रुचिरस्योत्प्रेक्षालङ्कारस्योदाहरणमपि चमत्काराय सहृदयचेतसामत्र प्रस्तूयते एवम्–

नमः शिवायास्तु शिवाय वो यो मन्ये शशांकानलसूर्यनेत्रः।
उष्णत्वशीतत्वसमत्वमीप्सुस्स्वास्ये बिभर्त्यद्भुतजह्नुजाताम्।।

भारतवंशीयैरेव सन्ति एतानि पद्यानि विरचितानि तत्रस्थैः इति स्वीकुर्वन्ति शास्त्रिवर्याः। रामकीर्तिमहाकाव्यस्य लोकार्पणं शिल्पाकोर्नविश्वविद्यालयस्य प्रेक्षागृहे सञ्जातं महाराजकुमार्या आदेशात् २९ सितम्बर, २०१३ दिवसे सायं षड्वादने। आसीदसौ विशिष्टः कार्यक्रमः शासकीयः संस्कृतमहाकाव्यलोकार्पणमुखेन संस्कृतसंवर्धनविषयकः।

थाइदेशे कृताधिवासैः शास्त्रिमहाभागैः अनुसन्धानप्रसङ्गेन तत्र अनेकानि प्राचीनानि हिन्दूमन्दिराणि गमिकर्मीकृतानि अनेकानि स्थलानि थइदेशीयसंस्कृताभिलेखानुसन्धानान्वेषणप्रसङ्गेन च। थाइदेशे राजचिह्नं गरुडः, नरेशाश्चक्रिवंशीयाः, चक्री च भगवान् विष्णुः तद्वाहनञ्चास्ति गरुडः। थाइदेशकलाविभागस्य प्रतीकचिह्नमस्ति गणेशः। अस्य सर्वशुक्लो विग्रहः संस्थापितोऽस्ति तत्रस्थाया राष्ट्रियरङ्गशालायाः पुरतः। हिन्दूधर्मो थाइदेशे 'ब्राह्मणधर्म' इत्याख्यायते। थाइदेशे द्वितयेऽप्युत्सवा भारतीयाभ्यामुत्सवाभ्यां संवदतः। भारतीयः होलिकोत्सवः अत्र 'सौङ्क्रान्' समाख्यया प्रवर्तते।

आत्मकथात्मकेऽस्मिन् ग्रन्थे ७९प्रकरणादारभ्य १२२प्रकरणं यावत् शास्त्रिमहाभागैः १९७७ वर्षस्य अक्तूबरमासस्य सप्तमदिवसादारभ्य १९७९वर्षान्तं यावज्जायमानः थाइदेशयात्रानुभवः विस्तरेण उपनिबद्धोऽस्ति। स्वदेशं प्रत्यावृत्तैरेतैः कलासंकायाध्यक्षपदम् अलङ्कृतम्। संकायाध्यक्षरूपेण एभिरनेके नवीनाः सारस्वतोपक्रमाः संस्तुताः संकायस्य विकासाय। अस्मिन्नेव काले स्नातककक्षायाम् अनधीतसंस्कृतविषयायाः कस्या अपि छात्रायाः संस्कृताध्ययने अभिरुचिं पूर्ववर्तिनं संस्कृताध्ययनस्य तस्याः दृढं संस्कारञ्चावेक्ष्य संस्कृतस्य स्नातकोत्तरकक्षायां प्रवेशः एतेषां प्रशासनमतिचातुर्येणैव दिल्लीविश्वविद्यालये समपद्यत। प्रवेशस्य संस्तुतिरेषा कक्षाक्रमेण विहितं पूर्वाभ्यासं न प्रामाणयतेत्यद्भुतमेव।

१९८२वर्षस्य अक्तूबरमासे एते शर्मण्यदेशं प्रति प्रस्थिता अतिथिप्राध्यापकत्वेन नियुक्तास्तत्रस्थेन शासनेन। तत्रापरिचितेन एकेन भारतीयेन फ्रेंकफर्तवायुयानपत्तनात् ट्यूबिंगनगरं प्रति गमनप्रक्रियायां सर्वथा अनभिज्ञानामेतेषां महत् साहाय्यं विहितम्। आसीदसौ मिहिरसेन इति नाम्ना प्रसिद्धः भारतीयः येन ब्रिटिशचैनेल इत्याख्यो समुद्रः दोर्भ्यां प्रतीर्णः, तेन चासौ सम्पूर्णेऽपि भूतले प्रसिद्धिं गतः। ट्यूबिंगननगरस्य रामणीयकं शास्त्रिमहाभागैरेवमुपवर्ण्यते पद्येषु –

योरूपभूमण्डलमध्यवर्ती पारं समुद्रैः परमभ्युपेतः।

नानानदीप्रस्रवणैः सुरम्यः शर्मण्यदेशः सुतरां विभाति।।

विराजमानं गिरिमेखलासु सौन्दर्यमत्यद्‌भुतमादधानम्।
नेकारनद्या निकटे निविष्टं टयूबिंगनाख्यं पुरमस्ति तत्र।।

विराजितं पादपराजिभिर्यद् विभूषितं श्यामलभूमिभागैः।
अभ्रंलिहाग्रैर्भवनैरनेकैरलङ्कृतं नेत्रसुखं ददाति।।

आकीर्णपुष्पस्तबका वसन्ते दीर्घा अपूर्वां सुषमां दधानाः।
पूर्णैः फलानां तरुभिः प्रपूर्णा विभान्ति यत्रत्यविहारवीथ्यः।।

ट्यूबिंगननगरे अध्यापनक्रमे नैके तद्देशीयाः शिष्याः संस्कृतभाषायां तथा निष्णाताः संजाता यथा तेषां पद्यरचनायामप्यभवदभूतपूर्वा प्रवृत्तिः। एकेन शिष्येण अभिनन्दिता एते पद्मभूषणपुरस्कारप्राप्त्यनन्तरं पद्यात्मकेनाभिनन्दनपत्रेण एवम् –

ज्ञानपीठप्रदीपेन दीपितं भुवनं त्वया।
गुरो! साम्प्रतमास्से त्वं पद्मभूषणभूषितः।।१।।

पद्मेन भूषितोऽसि त्वं पद्मं चा भूषितं त्वया।
इति मे नास्ति सन्देहः पद्मं त्वं समभूषयः।।२।।

स्मृतिपथे दिवसा मम यान्ति ते सुखकरा गमितास्तव येऽन्तिके।
त्वमसि शास्त्रचणो निपुणेक्षणः सकलशिष्यगणप्रियतां गतः।।३।।

विविधशास्त्रचयं समबोधयोऽनतिबुधं निजशिष्यचयं मुदा।
अपि दुरूहतमं विशदं गुरो! श्रमगतो विषयं त्वमचीकरः।।४।।

स्मितमुखालपनेन सदा जनान् परिचयं न गतानपि मोहयन्।
प्रकटयन् निजसात्त्विकवृत्तितां त्वमभवो भुवि सत्त्वभृतां वरः।।५।।

स्मरामस्ते गुणान्नित्यं तव शिष्या वयं समे।
चर्चयामो मुदा तांश्च परस्परमुपागताः।।६।।

तव शिष्या इति वयं धन्यतां कलयामहे।
भाग्यादेव हि लभ्यन्ते त्वादृशा गुरवो भुवि।।७।।

भारते भारतोऽसि त्वं वयं शर्मण्यवासिनः।
तव शर्म सदा देवं प्रभुं सम्प्रार्थयामहे।।८।।

सदा स्वस्थस्सदा तुष्टस्सदा पुष्टश्च कोविद!
सुखेन सकुटुम्बस्त्वं शतं जीव समा गुरो!।।९।।

इतोऽपि भूयसो लब्ध्वा सम्मानाँल्लोकहर्षदान्।
यशो वितन्वँल्लोकेषु जीवितं व्यतियापय।।१०।।

ट्यूबिंगननगरात् प्रत्यावृत्ता एते विश्वविद्यालयानुदानायोगेन राष्ट्रियव्याख्यातृपदे चिता:। तदनन्तरमेतेषां नियुक्ति: श्रीजगन्नाथसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य कुलपतिपदे १९८१ वर्षस्य जुलाईमासस्य सप्तमे दिवसे संजाता। सम्पूर्णस्यापि विश्वविद्यालयस्य स्थापनाया: सम्पूर्णोप्युपक्रम: एतेषां नेतृत्वे समपद्यत। नासीत् विश्वविद्यालये भूमिर्भूमिखण्डो वा। नवीनोऽसौ विश्वविद्यालय: शास्त्रिमहाभागानां प्राशासनिकेनोद्योगेन भूमिखण्डमलभत, भवननिर्माणोपक्रमश्च तत्र प्रावर्तत। १९७७ वर्षे पेरिसनगरे समायोजितस्य तृतीयविश्वसंस्कृतसम्मेलनस्यावसरे एतै: हालैण्ड, बैल्जियमादीनां योरोपदेशानां शैक्षणिकी यात्रा सम्पादिता। तत्रस्थै: अनेकै: संस्कृतविद्भि: सह एतेषां सम्पर्क: सञ्जात: यात्राक्रमेऽस्मिन्। एतेषु एगरमाण्ट महोदया: हिटलरस्य शासनकाले वर्षत्रयं कारागारे निरुद्धा यातनाततिभि: सम्पीडिता आसन्। असौ कारागारे अवरुद्धोऽपि श्वसिति इति स्वानुरागिणामवगमयितुमसौ कारागारस्य भित्तिकासु तत्रस्थेभ्योऽपरिचितायां संस्कृतभाषायां प्रतिदिनं किमप्यलिखत्। कर्णाकर्णिकया समाचार एष तत्परिजनै: सम्प्राप्य सन्तोषोऽनुभूत: यज्जीवति तेषां प्रियसुहृन्निरुद्धोऽपि कारागारे क्रूरशासकै:। एकदा तेन कारागारे प्राप्तमेकं पत्रं यत्र मेघदूतस्य पद्यमेवमुत्कीर्णमासीत् अभिप्रायविशेषस्य सम्प्रेषणाय तन्मित्रेण–

शापान्तस्ते भुजगशयनादुत्थिते शार्ङ्गपाणौ
शेषान् मासान् गमय चतुरो लोचने मीलयित्वा।
पश्चादावां विरहगुणितं तं तमात्माभिलाषं
निर्वेक्ष्याव: परिणतशरच्चन्द्रिकासु क्षपासु।।

अत्र यत् परिवर्तनं संदृश्यते तत्र ध्वन्यर्थेन संकेतितोऽस्ति हिटलरशासनस्य पतनकाल: हिटलरशासनस्य सैन्यबलस्य क्रमेण पराजयोन्मुखीभवनञ्च।

बैल्जियमदेशस्य ल्यूवननगरे स्थिते कैथोलिकविश्वविद्यालये स्वकीयाध्यापनप्रसङ्ग: ग्रन्थेऽस्मिन् उपवर्ण्यते शास्त्रिपादै:। १९८४ वर्षे बैल्जियमदेशादेते दिल्लीं सम्प्राप्ता:। बैल्जियमविश्वविद्यालये कालिदासस्य काव्यमध्यापयतामेतेषां मनसि अनेके पाठभेदा: प्रस्फुरिता: पाठौचित्यनिर्धारणक्रमे। एतेषां विचार: ग्रन्थेऽस्मिन्नाचार्यै: प्रस्तूयते विस्तरेण।

१९८७ वर्षे एतेषां पितृपादा: अभिनवपाणिनय: शिवसायुज्यं गता:। महाराजस्य रघोर्यशोविषये यदुक्तं महाकविना कालिदासेन तच्चरितार्थतां लभते एतेषां पितृचरणानां यश:कायविषये –

आरूढमद्रीनुदधीन् वितीर्णं भुजङ्गमानां वसतिं प्रविष्टम्।
ऊर्ध्वं गतं यस्य न चानुबन्धि यश: परिच्छेत्तुमियत्तयाऽलम्।।

यदा शास्त्रिचरणा: कुरुक्षेत्रे आसन् तदा एतेषां पितृचरणैर्यदुपदिष्टं पत्रमुखेन तदत्र प्रस्तूयते–

"इदमेव तु विवक्षे – स्वे कर्मणि सर्वात्मना व्याप्रियस्व, आर्जवेन च गुरुषु वर्तस्व, विनेयेषु च हार्देनातिरिक्तेन प्रवर्तस्व। नान्यच्चिन्तय, न च रुष्य, न वाऽपरागमर्हति जने समीरय"।

वाग्व्यवहारादर्शादीनां व्याकरणप्रयोगव्युत्पादकानाम् अप्रतिमवैदुष्येण विद्योतितान्त:करणानामनेकेषां

ग्रन्थरत्नानां प्रवर्तकानाम् आचार्यचारुदेवशास्त्रिणां संस्मरणमुपनिबध्नन्ति आत्मकथेतिवृत्तात्मकतया शास्त्रिचरणाः अत्र विस्तरेण। शोकाक्रान्तचेतोभिरेतैः अत्मवेदना निगद्यते एवम् –

यावज्जीवं समाराध्य शब्दब्रह्म विशेषतः।
तातपादा अन्तकाले तत्रैव विलयं गताः।।

अनाथं संस्कृतजगदनाथा च सरस्वती।
अनाथं चापि वैदुष्यमनाथा प्रतिभाऽपि च।।

तादृशेऽथ महाभानावस्ताचलमुपेयुषि।
तामिस्रमिव भात्येतज्जगत्कृत्स्नं चराचरम्।।

१९८१ वर्षे काशीहिन्दूविश्वविद्यालये समायोजिते पञ्चमविश्वसंस्कृतसम्मेलने डी.लिट्. इति मानदोपाधिप्राप्त्यनन्तरं मया कृतमासीद् पितृचरणानामेतेषां दर्शनम्। स्नातकक्षायामधीयानोऽसौ बटुः सौभाग्यादुपलब्धेन तेषाम् आशीर्वादेन आत्मानमद्यापि कृतकत्यं मन्यते। श्वेतोष्णीषाणां चारुदेवशास्त्रिणां सौम्याकृतिः सम्प्रत्यपि मम मनसि विराजते। संस्कृतसेवायै प्रेरितोऽयं जनः सम्प्रत्यपि स्मरति तेषां पीयूषवर्षिणीं वाणीम्। तत्प्रसादप्रभावेण मन्ये अद्य मया अवसरोऽयं लब्धः तच्चरितप्रकाशकस्य आत्मकथावृत्तस्योपरि लेखनस्य।

१९८४ वर्षे शास्त्रिवर्याः अमेरिकादेशस्य पेन्सिल्वेनियानगरे समायोजिते विश्वसंस्कृतसम्मेलने समुपस्थिता आसन्। प्राक्तनसंस्कृतवाङ्मयादाधुनिकसंस्कृतवाङ्मयस्य भेदविषयिणी या चर्चा तत्र प्रावर्तत अन्तिमे सत्रे तत्र शास्त्रिमहाभागा आसन् अध्यक्षाः। अन्यैः समाधानम् अपश्यद्भिरेभिर्यत् समाधानं प्रस्तुतं तदरोचत सर्वेभ्यो तत्रस्थेभ्यो विद्वद्वरेण्येभ्यः।

ग्रन्थस्यास्य पर्यवसानं स्वयमेवोद्गिरन्ति शास्त्रिवर्याः स्वस्य जीवनेतिवृत्तस्य विषये –

"मया कुत्र कुत्र न गतं, कुत्र कुत्र वा न भाषितं, कुत्र कुत्र न वाऽध्यापितं, कैस्कैर्न वा संगतं, किं किं न वा दृष्टं, कैस्कैर्न वाऽऽलपितम्। विश्वयात्र्यहम्। नाना देशा मया गमिकर्मीकृताः। अद्य वर्षीयानहं संवृत्तः। बहु दृष्टं मया, बहु चानुभूतम्। तस्य सर्वस्य स्मृतितितिर्मे मनोऽनेकश उद्वेल्लयति। दूरङ्गमं जविष्ठं ज्योतिषां ज्योतिरिति श्रुत्या कीर्तितं तन्मां स्मृतिमाध्यमेन दूरस्थांस्तान् देशान् पुनरपि प्रापयति, पूर्वदृष्टैर्विद्वद्भिः संगमयति, तैः सम्भाषयति, तत्स्नेहेन मां स्नपयति, मदीयां रिक्ततामपनीय पूर्णतां मय्यादधाति। तदा हठान्निःसरति मे मुखाच्छ्रुतिवचः -

पूर्णमिदं पूर्णमदः पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते।।

अथोपसंहारवचः -

पूर्णोऽहं, पूर्णकामोऽहं पूर्णो मे हृदि संस्थितः।
कृपया तस्य पूर्णस्य ग्रन्थोऽयं पूर्णतां गतः।।

ग्रन्थेऽस्मिन् शास्त्रिवर्याणां जीवनस्य अध्ययनकालः, अध्यापनकालः विदेशयात्रावृत्तान्ताश्च विस्तरेणोपनिबद्धाः सन्ति। आत्मेतिवृत्तात्मकोऽयं ग्रन्थः विशिष्टक्रियापदप्रयोगैः प्रतिपदमलङ्कृतः संस्कृताध्येतृणां कृते अत्यन्तं व्युत्पादकोऽस्ति संस्कृतभाषायाः सम्यग्ज्ञानाय। ग्रन्थेऽस्मिन् अनेके अभिनवाः प्रयोगा उपलभ्यन्ते स्वभावप्रकाशनसमर्थाः। व्याकरणशास्त्रस्य सूत्राणि समुल्लिख्य समाधानं विधीयते सर्वत्र दत्तैः पादटिप्पणैः शास्त्रिमहाभागैः व्युत्पादनाय संस्कृज्ज्ञानाम्। तद्यथा-

तवाहं बहुधा स्मरामि इत्यत्र अधीगर्थदयेशां कर्मणि (२.३.५२) इत्यनेन षष्ठी; **त्वां नैकदा प्रत्याशृण्वम्** इत्यत्र प्रत्याङ्भ्यां श्रुवः (१.३.५९) इत्यनेन सूत्रेण परस्मैपदम् ; **केवलं विषयज्ञानप्रति** इत्यत्र सुप् प्रतिना मात्रार्थे (२.१.९) इत्यनेन मात्रार्थेऽव्ययीभावः ; **गङ्गायां वासस्तस्य सुप्रसिद्ध** इत्यत्र गङ्गायां घोष इतिवत्प्रयोगः; **मे मनः उदन्यितस्योदकमिव** इत्यत्र अशनायोदन्यधनाया बुभुक्षापिपासागर्धेषु (७.४.३४) इत्यनेन निपातनात्साधु। उदन्यितस्य पिपासितस्येत्यर्थः ; **लोका अन्योन्यं व्यतिजघ्नुः** इत्यत्र न गतिहिंसार्थेभ्य (१.३.१५) इत्यनेन सूत्रेण कर्मव्यतिहाररूपेऽर्थेऽपि आत्मनेपदनिषेधान्नात्मनेपदम् ; **गृहमात्मन्यधि कृतम्** इत्यत्र अधिरीश्वरे (१.४.९७) इत्यनेन सूत्रेण सप्तमी ; **कदाचिद्दिवापि भूयसेऽन्धतमसाय कल्पते** इत्यत्र प्रयोगे अवसमन्धेभ्यस्तमसः (५.४.७९) इत्यनेन समासान्तेऽचि रूपम् ; **तच्छ्रुत्वोमिति चोक्त्वा** इत्यत्र प्रयोगे ओमाङोश्च (६.१.९५) सूत्रेण पररूपम् ; **तानविनयार्थं क्षमां भिक्षमाणोऽहं** इत्यत्र अकथितं च (२.४.५१) सूत्रप्रयोगेण द्विकर्मकतायां द्वितीया; **मनः प्रमोदभरणेऽपिपः** इत्यत्र पृ पालनपूरणयोरित्यस्य लङि प्रथमपुरुषैकवचने रूपम् ; **कदाचिदात्मम्भरिः सा स्यादेव न तु परमुखापेक्षिणी** इत्यत्र फलेग्रहिरात्मम्भरिश्च (३.२.२६) इत्यनेन निपातनम्। आत्मानं बिभर्तीत्यर्थः ; **मशकाश्च यूकालिक्षं चापि यथेच्छमस्मद्रक्तं पपुः** इत्यत्र क्षुद्रजन्तवः (२.४.८) इत्यनेन समाहारद्वन्द्व एकवद्भावः स नपुंसकम् (२.४.१०) इत्यनेन च नपुंसकत्वम् ; **बहिः स्थिताय स्वपतये कसेवाख्याय यदा तद्धर्मपत्नी** इत्यत्र प्रयोगे पतिः समास एव (१.४.८) इत्यनेन घिसञ्ज्ञायां घेर्ङिति (७.३.१७९) इत्यनेन गुणे रूपम् ; **धर्मकालेजप्राचार्य डा.आर.एन.रायमहाभागनिकाय्यैकदेशोऽवक्रीतः** इत्यत्र गृहार्थकोऽयं शब्दः। तथा ह्यमरः - गृहाः पुंसि च भूम्न्येव निकाय्यनिलयालयाः (२.२.५); **सन्देहपदेषु च वस्तुषु तद्वचांस्येवातिष्ठत** इत्यत्र प्रयोगे प्रकाशनस्थेयाख्ययोश्च (१.३.२३) इत्यनेन स्थेयाख्यायां निर्णेतृत्वेनाश्रयण आत्मनेपदम्, संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते य इत्यादिवत्।

इत्थं प्रतिविशिष्टप्रयोगम् आचार्यवर्यैः तत्सूत्रोल्लेखपूर्वकं ससन्दर्भं समर्थ्यते सम्पूर्णेऽपि ग्रन्थे। व्याकरणशास्त्रस्य विशिष्टप्रयोगाणां प्रशिक्षकोऽसौ ग्रन्थः।

गद्यं कवीनां निकषं वदन्तीति प्राचामुक्तिः। अस्मिन्नात्मकथारूपे गद्यग्रन्थेऽपि तत्तद्वर्णनेषु समुन्मिषति काव्यरसः। निदर्शनार्थं सन्दर्भद्वयमधस्तादुद्ध्रियते–

(1) तत्रारम्भेऽस्त्यभ्रचुम्बि प्रेषणीभवनम् अन्ते च लाट साहब का महल इति ख्यातो राज्यपालावासो यं समयाऽति विशालं नानाद्रुमलतासनाथितं शिमलापहाड़ीत्याख्यं

सततप्रवहदनेकनिर्झरनिनादनिर्ह्रादितं गजानामङ्गे रचिता भक्तिरिव नानाकृतिलघूद्यानततिसमलङ्कृतं लारेंसोद्यानं यन्नेत्रद्वयासेचनकतामावहति। (पृष्ठम् 20)

(2) अस्ति बेल्जियमदेशे नानापादपराजिविराजितं शस्यश्यामलभूमिमण्डनायमानं प्रसादनं चेतसः सुखाकरं देहयष्टे रसायनं नयनयोः 'एर्परहाइद' इति स्थलम्। तत्र सन्ति व्यायामस्थली, सततप्रवहदमलजलप्रस्रवणानि प्रस्रवणानि, उष्णजलबुद्बुदस्नानार्थं विशालं कुण्डम्। (पृष्ठम् 263)

परोक्षभूतात्मकेतिवृत्ते परोक्षभूतक्रियापदानां विलक्षणप्रयोगततिभिः व्याप्तोऽस्ति ग्रन्थोऽयं प्रतिपदम्। भूतपूर्वेतिवृत्तविषये यादृशा विचारा, यादृशः घटनाक्रमः तत्सम्बन्धिनश्च यादृशा भावा एतेषां मनसि जायन्ते तेषां समेषां याथातथ्येन संस्कृतमाश्रित्य विशिष्टप्रयोगनिष्णाता सम्यगुपस्थापनं कुर्वन्त्येते सर्वत्र। संस्कृतभाषायां गद्यरचनाप्रकारस्य अपूर्वोऽसौ ग्रन्थः संस्कृते राराज्यते इति समेषामेवास्माकं कृते महतः प्रमोदस्य विषयः।

• • •

31

संस्कृते प्रथममवतरणम् आत्मकथायाः

भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र (द्वितीयो भागः)

समीक्षात्मकमध्ययनम्

देवर्षिकलानाथशास्त्री

संस्कृते स्ववृत्तकथनपरं नाऽस्ति विपुलं साहित्यम्। आत्मकथानाम्ना गद्यसाहित्यस्यैका विधा विभिन्नासु भाषासु सुपरिचिताऽस्ति, "आटोबायोग्राफीति" तस्या अभिधानमाङ्गल्याम्। चरितवर्णन-समीक्षात्मकमध्ययनपरं गद्यसाहित्यं तु विद्यत एव संस्कृते यथा बाणभट्टादीनां हर्षचरितादयः, किन्तु तादृश्यात्मकथा संस्कृते न सुविदिता यथाऽन्यासु भाषासु हरिवंशरायबच्चनसदृशानां शृङ्खलाबद्धा आत्मकथा ('क्या भूलूं क्या याद करूं' शीर्षकं प्रथमखण्डमारभ्य' नीड का निर्माण फिर' प्रभृतयश्चत्वारः खण्डाः) यथा सुप्रथितास्तथा न कस्यापि महापुरुषस्याऽऽत्मकथा संस्कृते सुविदिता। एतस्या अतिरिक्तेरद्भुतां समर्हणीयां च पूर्तिं विद्वन्मूर्धन्यानां पद्मभूषण प्रो० सत्यव्रतशास्त्रिणां भागद्वये निबद्धया सुतरामभिनन्दनीययाऽऽत्मकथया सञ्जायमानां वीक्ष्य को नाम संस्कृतज्ञो नाऽनुभवेद्धर्षातिरेकम्? आत्मकथाया अस्या अभिधानमस्ति "भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र।" प्रौढे, प्राञ्जले, सुललिते च संस्कृतगद्ये हृदयावर्जिकया शैल्या आत्मकथायामस्यां यथा तैः स्वकीयं जीवनवृत्तं वर्णितं तेन पाठकानां बहुमुख उपकारः सिध्येदिति स्पष्टीभवति। विश्वजनीनानां संस्कृत-सरस्वती- सेवा-सम्बद्धानामनुभवानां वृत्तमनेन परिचाय्येत। देशे विदेशेषु च कथं शास्त्रिवर्यैः संस्कृतवाङ्मयस्य महिमा प्रासारि, कीदृशश्चास्ति संस्कृतस्य विदेशेषु परिवेश इति तु परिज्ञायेतैव पठकैः (शास्त्रिवर्यैः, अध्येतारः पठकशब्देन अध्यापयितारश्च पाठकशब्देन सूच्येरन्निति परोक्षविधया स्वलेखनेन स्वाभिमतं सूचितं प्रतीयते ग्रन्थेषु) सहैव संस्कृते नूतनानां शब्दानां, पाणिन्यागम-परिगृहीतानामल्पज्ञातानां प्रयोगाणां शैल्याश्चाप्यवगमस्तैः क्रियेत, बह्व्यो नूतना उद्भावना अप्यवबुध्येरन्, साम्प्रतिके परिवेशे किं कर्त्तव्यं संस्कृतसेवकानामित्यतिप्रासङ्गिकतया परिलक्ष्येत ग्रन्थेऽस्मिन्।

"भवितव्यानां द्वाराणि भवन्ति सर्वत्र" शीर्षकस्यात्मवृत्तस्य प्रथमो भागः ईशवीये 2015 तमे वर्षे प्राकाशि, द्वितीयो भागस्तु सद्य एव (ई० 2017 वर्षस्यारम्भे) प्रकाशित इति सुमहान् प्रमोदः। ज्ञानपीठपुरस्कारेण, राष्ट्रपति-पुरस्कारेण, साहित्यअकादमी पुरस्कारेण, पद्मभूषणसम्मानेन च सभाजितैः, देशे विदेशेषु च संस्कृताध्यापन-प्रसङ्गे समादृतानि पदान्यधितस्थिवद्भिः, भारतशासनेन स्थापितस्य द्वितीय- संस्कृताऽऽयोगस्याध्यक्षपदमलङ्कृतवद्भिः 86 वर्षवयस्कैः प्रो० सत्यव्रतशास्त्रिभिः दैनन्दिनीरूपेण (डायरी शैल्या) "दिने दिने याति मदीयजीवितम्" शीर्षकवहं

यत् स्वकीयानुभववृत्तं पूर्वप्रकाशिते ग्रन्थे वर्णितं तदपि दैनन्दिनी (डायरी) विधायाः संस्कृते नूतनमवतरणं कथयितुं शक्यते। एवंविधेषु प्रणयनेषु शास्त्रिवर्याणां संस्कृतलेखनशैली बहुत्र व्याकरणस्य पाणिन्युपदिष्टानां किन्तु साम्प्रतमल्पज्ञातानां रुचिराणां प्रयोगाणां दिग्दर्शनं कारयति, एवंविधेषु स्थलेषु पादटिप्पणीरूपेण तैस्तस्य परिचयोऽपि प्रदत्तः सुतरामुपकारी स्याज्जिज्ञासूनाम्। यथा "संगच्छते" इत्यस्य लुङि रूपं "समगत" इत्यपि भवेत् "समगंस्त" इत्यपीति प्रसङ्गवशात् सूचयन् लेखकः पादटिप्पण्यां कथयति (पृ. 243)। पाणिनीयशास्त्रज्ञता सेयं लेखके वंशानुगताऽस्ति। सुप्रथितो विद्वन्मणिर्वैयाकरणाग्रणीः पं० चारुदेवशास्त्री (लाहौर) सत्यव्रत- शास्त्रिणः पिताऽऽसीद्, यो भाषाविदामग्रणीरभूत्। अस्यामात्मकथायामपि प्रसङ्गवशात् पितृचरणैः सह कृतानां कार्याणां स्मरणं कृतं लेखकेन। तयोः ग्रन्थानां प्रकाशनविषये कैश्चन प्रकाशकैः कथमाचरितम् इत्यद्यापि स्मृतमत्र, पुत्रस्य शरच्चन्द्रस्योपनयनसंस्कारादेर्वृत्तमपि, यत्र पूज्याश्चारुदेवशास्त्रिणोऽभूवन् साक्षिणः।

अत्रैव लेखकस्य कतिपयेषां ग्रन्थानामवतरणस्य वृत्तान्यपि सूचितानि, निबन्धादीनां संकलनपुस्तकादीनां प्रकाशनस्याऽपि। लेखकस्य सर्वप्रथमं प्रकाशनमासीद् द्वादशवर्षीयेण तेन 15 पद्येषु लिखितं षड्ऋतुवर्णनं यज्जयपुरीये संस्कृतमासिके "संस्कृतरत्नाकरे" तत्सम्पादकेन भट्टश्रीमथुरानाथशास्त्रिणा सन् 1942 वर्षे प्रकाशितमभूत्। तस्य चित्र-प्रतिलिपिरत्र मुद्रिता। तदनु, "बृहत्तरं भारतम्" "श्रीबोधिसत्त्वचरितम्" प्रभृतीनि सर्जनात्मकसाहित्यप्रकाशनानि, वैदिकव्याकरण-श्रीरामचरिताब्धिरत्न-प्रभृतीनामनुवादाः, मानवमूल्यान्युपलक्ष्य, भारतविद्यामुपलक्ष्य, योरुपीय-विदुषां संस्कृतरचना उपलक्ष्य, थाईदेशीयान् संस्कृताभिलेखानुपलक्ष्य वा लिखितानां विमर्शलेखानां प्रकाशनानि च स्मृतानि।

थाइलैंड-देशे राजगुरुत्वेन शास्त्रिवर्यैर्यत् कार्यं कृतं, तत्रोपलभ्यमानानां भारतीय-संस्कृत्यवशेषाणां यदनुसन्धानं कृतं तद् बहुमूल्यमस्त्येव। तस्य स्मृतीनामनन्तरं सम्प्रति प्रणीयमानानां ग्रन्थानां सूचना, ततः केन्द्रीयसाहित्य अकादम्या यत् सम्मानद्वयमुपायनी-कृतं (1968 ई० वर्षे संस्कृतपुरस्कारः, 2013 ई० वर्षे च महत्तरसदस्यता फेलोशिप) तत्सूचनाः, चीन-देशयात्रा-वृत्तम् (2011 ई०), सर्वमिदं पाठकानामुपकाराय स्यादेव।

ग्रन्थेऽपि प्रसङ्गाः पाठकानामुपकारकाः स्युरिति तेभ्यः कलेवरविस्तरभिया केवलं प्रसङ्गद्वयमेवाधस्तादुद्धरामि-

(1) "चाणक्यनीतेरनुवादविषयेऽस्ति विचित्रो रोचकश्च प्रसङ्ग एकः। तमप्यत्रोपस्थापयितुमिच्छामि।

ममैष स्वभावो यदेतादृशं किमपि पद्यं वा तादृशो गद्यांशो वा यद् वा यो वा मह्यं रोचते तद्वा तं वा कुत्रापि पत्रखण्डे न्यस्ताक्षरं कृत्वा तं पत्रखण्डं कुत्रापि सञ्चिकायां- फ़ाइल इत्याङ्ग्ल्यां-निदधामि, कार्यकाले समुत्पन्ने तदुपलम्भः स्यादिति। तादृशस्यैकस्य पद्यस्यान्वेषणाय नाना सञ्चिका मयाऽवलोकिता नोपलब्धं च तत्पद्यम्[1], परमेकः पत्रपूगो मद्दृष्टिमापन्नो यत्र चाणक्यनीतिग्रन्थो मया हिन्द्याङ्ग्लभाषाभ्यामासीदनूदितः। अनुवादस्तत्राक्रमेणासीत्। पूर्वं प्रथमपद्यं तदनन्तरं तृतीयपद्यं

1. तस्य पद्यस्याशयः- यथाऽहं स्मरामि- इत्थमासीत् - नैकेषु गुरुषु समुपस्थितेषु प्रथममभ्यर्च्चा (=सत्कारः) कस्य गुरोः कर्तव्या। तत्रायमेव निर्णयो यत् सा तस्य गुरोर्भवतु येन जनोऽङ्गुलिग्राहमक्षराभ्यासं कारितः।

तदनन्तरं पञ्चमं पद्यमित्येवम्। कदा वा मया स ग्रन्थोऽनूदितः, किमर्थं वाऽनूदितः, यद्यनूदितस्तर्हि किमर्थं क्रमस्तत्र नाश्रित इति सर्वं मे स्मृतिपथाद्विलुप्तमासीत्। मातृकारूपेण सञ्चिकायां स्थितः सोऽनुवादोऽतर्कितोपनतो धनराशिरिव मां भृशं प्रामोदयद् व्यस्मापयच्च। तदेदं प्रादुरभून्मे मनसि कुतो नासम्पूर्णानुवादमिमं ग्रन्थमवशिष्टांशानुवादसनाथितं विधाय विस्तृतां हिन्द्याङ्गलभूमिकां च तत्र संयोज्य तं प्रकाशयेयमिति। तामेव विचारसरणिमनुसृत्य 2013 वर्षे जूनमासप्रथमदिवसे मया लेखनी हस्ते कृता मध्ये मध्येऽननूदितानि पद्यान्यनूदितानि भूमिका च हिन्द्याङ्गलभाषाद्वयेन विरचिता। कार्यमिदं जूनमासान्तिमदिवसे परिसमापय्य लेखनी मया त्यक्ता। अयमितिहासोऽस्याः कृतेरनुवादस्य। यदि पद्यान्वेषणप्रसङ्गेन नाहं सञ्चिका अन्वेषिष्यं तर्हि ग्रन्थोऽयं मम सर्वथा मातृकारूपेण सञ्चिकायां स्थितो नैव कदाचिदपि प्राकाश्यमयास्यत्। जीवने नैकशोऽद्भुतमेव घटते। तदेवैतद्ग्रन्थविषयेऽप्यभूत्।

कीदृशोऽत्रत्यपद्यानुवाद इति विदुषां मनोविनोदाय पद्यद्वयमाध्यमेनाधः प्रस्तौमि-

कस्य दोषः कुले नास्ति व्याधिना को न पीडितः।
व्यसनं केन न प्राप्तं कस्य सौख्यं निरन्तरम्।।1।।

ऐसा कौन है जिसके कुल में खोट न हो, ऐसा कौन है जो रोग से पीड़ित न हुआ हो, ऐसा कौन है जिस पर विपत्ति न आई हो, ऐसा कौन है जिसे निरन्तर सुख ही सुख मिलता रहा हो।

Which family is there that does not have its loophol/s ? Who is there who has not suffered ailment ? Who is there who has not met with an adversity ? Who has had happiness on end ?

हस्ती स्थूलतनुः स चाङ्कुशवशः किं हस्तिमात्रोऽङ्कुशो
दीपे प्रज्वलिते प्रणश्यति तमः किं दीपमात्रं तमः।
वज्रेणापि हताः पतन्ति गिरयः कि वज्रमात्रो गिरिः
तेजो यस्य विराजते स बलवान् स्थूलेषु कः प्रत्ययः।।3।।

हाथी का शरीर कितना लम्बा चौड़ा है पर वह भी अङ्कुश से बस में आ जाता है, क्या अङ्कुश हाथी के आकार का है? दिया जलने पर अन्धकार दूर हो जाता है, क्या अन्धकार दिये के आकार भर का है? गाज जब उन पर गिरती है तो पहाड़ ढह जाते हैं, क्या पहाड़ गाज भर के आकार के हैं? जिसमें तेज है वही बलवान् है। आकार-प्रकार के बड़े होने से क्या होता है?

An elephant has a big body, even that is controlled by goad. Is the goad of the size of an elephant? With the light of the lamp disappears darkness. Is darkness of the size of lamp? When thunderbolt strikes, fall flat the mountains. Is thunderbolt of the size of mountain? One who has strength is mighty. How does massivity matter?"

(2) "मया वैदिकव्याकरणानुवादकाले यथोचितपदप्रयोगविषये बहु चिन्तितम्। गच्छंस्तिष्ठन्नश्नन् सदैव तच्चिन्तापरोऽहमभूवम्। स्थालीपुलाकन्यायेनास्यैकमुदाहरणमत्र प्रस्तौमि।

मैक्डानलेन प्रकृय, प्रहृय इत्यत्र तकारप्रवेशमालक्ष्योक्तम्- Phonetic *t* is added to *ya*-Phonetic इति पदं कथमनुवदितव्यमित्यासीन्मम पुरतः प्रश्नः। सामान्यतः ध्वन्यात्मकशब्दः इत्येवंरूपेणेदमनूद्यते। परमत्र ध्वन्यात्मकस्तकारो यकारेऽनुप्रयुज्यत इत्युक्ते न किमपि स्पष्टं भवति। पाणिनीयपद्धतौ ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् (6.1.71) इत्यनेन तुगागमे प्रकृत्य-प्रहृत्येत्यादिरूपाणि सिध्यन्ति। परं मैक्डानलस्यात्रान्यविधं चिन्तनम्। भवतु नामात्र तकारागमः (तुगागमः), परं किमर्थं स इति स प्रतिपिपादयिषति। एकस्मिन् दिनेऽकस्मादेव मे मनस्यागतं यद् भगवता पतञ्जलिनैतद्विषये यन्महाभाष्य उक्तं मुखसुखार्थस्तकार इति तदेव मैक्डानलस्यापि मनस्यासीत्। Phonetic इत्यनेन तस्येदमेव तात्पर्यम्। मुखसुखमुच्चारणसौकर्यं नाम। तत्र लोकस्य स्वाभाविकी प्रवृत्तिः। भाषायां लोपागमवर्णविकारास्तत्प्रभवा एव। प्रकृत्य, प्रहृत्य इत्यत्र यथोच्चारणसौकर्यं तथा प्रकृय, प्रहृय इत्यत्र न। अत एव कुतोऽपि तकार आगच्छति-आगच्छतीत्यागमः- आत्मानं च यकारपुरतः स्थापयति। एवं शब्दोच्चारणे मुखं सुखमनुभवति।

हिन्द्यां वानरशब्दो बन्दररूपेणोच्चार्यते। तत्र दकारः (सोऽप्यागम एव) मुखसुखार्थमेव। एवमन्यत्रापि।

तुमुन्नन्ताः शब्दा आङ्गलभाषायां Infinitive इति सञ्ज्ञयाऽऽख्यायन्ते। यदि लोके तुमुन्नेव, तर्हि वेदे तत्स्थानेऽन्येऽपि प्रत्ययाः। पाणिनिना ते सर्वेऽपि तुमर्थे से असेन् अध्यै अध्यैन् शध्यै शध्यैन् तवै तवेङ् तवेनः (3.4.9) इति सूत्रे संकलिताः। से असेन् इत्यादीनां तुमर्थसञ्ज्ञा भगवतैव सूचिता। ते नाम तुमर्थाः प्रत्ययाः। हिन्द्यां तेऽपि तुमर्थ इति सञ्ज्ञया शक्या आसन्नभिधातुम्। परं मैक्डानलः अध्यै इत्यादिष्वर्थदृष्ट्या तुमुनं रूपदृष्ट्या च चतुर्थीविभक्तिं पश्यति। एवमेव नेषणि, गृणीषणीत्यादिषु मातरि पितरीत्यादिवत् सप्तमीम्। अतएव तत्कृते स Dative Infinitive इत्यादिशब्दान् प्रयुङ्क्ते। तत्स्थाने हिन्द्यां चतुर्थीप्रतिरूपक, Locative इत्यस्य स्थाने सप्तमीप्रतिरूपकतुमर्थप्रत्यय इति मया प्रायोजि।

स्थाने स्थाने व्याकरणसम्प्रदाये छन्दःसम्प्रदाये च प्रयुक्ता अतएवास्माकं सुपरिचिताः शब्दा मयाऽनुवादे प्रयुक्ताः। यथा Anaphoric इत्यस्य स्थाने अन्वादेश इति, Positionally long इत्यस्य स्थाने संयोगे गुरु इति। मैक्डानलेन Sonant nasal इति यः शब्दः प्रयुक्तः तत्र तस्य कोऽभिप्राय इति विषयेऽहं बह्वचिन्तयम्। ध्वनितमनुनासिकमित्यनेन न किमपि सिध्यति। डा. सिद्धेश्वरवर्ममहाभागैः सहात्र विषये कृतया चर्चया मया तदाशयोऽवबुद्धः। उपदेशेऽजनुनासिक इत् (1.3.2) इति सूत्रेणाचार्यपाणिनिनाऽनुनासिकस्य इत्सञ्ज्ञा विहिता यद्वशात्तस्याचः तस्य लोप (1.3.9) इति लोपो भवति। उपदेश आद्योच्चारणम्। धातुपाठादिषु यो यो धातुर्यद्वा प्रातिपदिकं यो यो वाऽऽगमोऽनुनासिकाजन्तस्तस्य तस्यानुनासिकाच इत्सञ्ज्ञा भवति। उदाहरणरूपेण काशिकायाम् एध स्पर्ध इति धातू निर्दिष्टौ। एतेन ज्ञायते यत् पुराकाले केचन धात्वादयोऽनुनासिकाजन्ता अप्यासंस्तथा चोच्चार्यन्ते स्म। कालेन तदीयोऽनुनासिकोऽच्यन्तर्भूतः। ते धात्वादयश्चाननुनासिका संवृत्ताः। सम्प्रति तेऽननुनासिकाः परं पूर्वं सानुनासिका आसन्निति सानुनासिकत्वं तेषामभ्युपेयमेव। अत एव प्रतिज्ञानुनासिक्याः पाणिनीया इति पाणिनीयव्याकरणसम्प्रदाये सुप्रथितोक्तिः। तादृशोऽनुनासिको यस्य कालेन स्वरे विलीनता भवेदिति स्वरोन्मुख अनुनासिक इत्यनुवादः सर्वथोचितो हृद्यश्च।

दशलकारेषु लेट्लकारश्छन्दोमात्रगोचर इति प्रकाशम्। स मैक्डानलेन शब्दरूपदृष्ट्याऽर्थदृष्ट्या च Subjunctive&Injunctive रूपेण द्विधा विभक्तः। प्रथमः लेट् (1) इति रूपेण द्वितीयश्च लेट् (2) इति रूपेण मया निर्दिष्टः।

मैक्डानलेन द्वादशधा विभिन्नाशयतां द्योतयितुमक्षराणि टंकितानि। मयाऽपि तथैव कृतम्। अक्षरयोजकावबोधाय विभिन्नवर्णमसीका लेखन्यस्तं तमंशं येन येन प्रकारेण स टङ्कयितव्य इति सूचयितुं प्रयुक्ताः। सोऽभूदनुवादातिरिक्तो मयि कार्यभारः। सोऽपि मया सम्यक् कार्यसिद्धिपरेणानुद्वेगं सोढः।"

एवंविधानामात्मवृत्तानां प्राञ्जल-प्रौढ-संस्कृतनिबद्धं वर्णनमात्मकथाविधां संस्कृते स्थापयतीति भागद्वये प्रकाशितोऽयं ग्रन्थो विशिष्योल्लेखमर्हति। अस्मिन् प्रसङ्गवशाच्चित्ताह्लादकारिण्यः कतिचिद् घटना वर्णिताः सन्ति याः संस्कृताध्येतॄणां ज्ञानमेधयेयुः। विद्वच्चर्चाप्रसङ्गेषु शास्त्रिवर्यैर्मेघदूतीयस्य पद्यांशस्य वल्मीकाग्रात् प्रभवति धनुःखण्डमाखण्डलस्येत्यस्य मध्ये समापततो "वल्मीकाग्र" पदस्यार्थो वस्तुतो नीलमेघादुद्गच्छतो धनुषः (इन्द्रधनुषः) सूचना-प्रदानेन सम्यगन्वेति, वल्मीकस्यार्थो 'नीलमेघ' इत्यपि भवति इत्यादि प्रसङ्गवशात् सूचितमस्ति। एकदा तैः "पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य! महतीं चमूम्" इति गीतायाः प्रारम्भे पठितस्य श्लोकार्धस्यैवमर्थो विवृतोऽभूत् हे पाण्डुपुत्राणामाचार्य! एनां महतीं चमूं पश्य!! एवंविधानि वृत्तानि मनः प्रसादकारीणि सिध्येयुरेव।

आत्मकथाया अयं द्वितीयो भागः समये समये घटितानां घटनानां स्मृतिचित्राणि 156 खण्डेषु (प्रघट्टकेषु) निबद्धानि संगृह्णाति। एषु खण्डेषु पार्यन्तिकाः 133 त आरभ्य 155 संख्यावधि 23 खण्डा द्वितीयसंस्कृताऽऽयोगसम्बद्धानां वृत्तानामङ्कनं कुर्वाणाः सुभृशमुपकुर्युः संस्कृतसेविन इत्यस्माकं विश्वासः। कथं 2014 ई० वर्षे आयोगोऽयं कार्यमारभत, पर्याप्तसुविधानामभावेऽपि कथं संस्कृतस्य संस्कृतशिक्षायाश्च स्थितिं पर्यवेक्ष्य तस्या वास्तविकमङ्कनं व्यधायि आयोगाध्यक्षेणेति प्रसङ्गेष्वेषु स्पष्टीभवति। अत्रैव प्रसङ्गतस्तदिदमपि परिगणितं शास्त्रिवर्यैर्यद् भारते बहवस्तादृशाः प्रशासन-सेवाया उच्चाधिकारिणोऽभूवन्, सम्प्रत्यपि सन्ति, ये संस्कृताध्येतारः संस्कृतविद्वांसश्च सन्ति। संस्कृतज्ञाः केवलं संस्कृताध्यापकत्वेनैव सम्मान्यां स्थितिं बिभ्रति, सेयं धारणा सुतरामतथ्या। अत्रैव प्रसङ्गवशादिदमप्युल्लिखितं तैर्यद् गणितशास्त्रे, चिकित्साशास्त्रे, खगोलविज्ञाने, दूरसंचारपद्धतिषु, बहुषु क्षेत्रेषु संस्कृतस्योपयोगिताऽद्यापि जागर्ति। आयोगस्यास्य प्रतिवेदने संस्कृतशिक्षायाः परिष्काराय बहवः परामर्शाः सन्ति, आगामिनि काले कथं संस्कृतसंवर्धनं राष्ट्रोपकारकं सेत्स्यतीत्यादयो विषया अपि विवृताः। आत्मकथाप्रसङ्गे सेयं स्मृतिपथगा सूचनासामग्री सुतरामुपयोगिनी सिध्येदित्यत्र नास्ति सन्देहः।

इत्थं संस्कृते आत्मकथाविधाया अवतारणां विदधानस्य ग्रन्थद्वयस्योत्तरार्धं प्रतिनिदधानोऽयं द्वितीयो भागः साहित्येतिहासे विशिष्टं स्थानं बिभृयादिति स्पष्टमनुभवेयुः पाठकाः। एतस्य पदार्पणोपलक्ष्ये शतशो वर्धापनवाचः समर्प्यन्ते विद्वद्वर्येभ्यः प्रो० सत्यव्रतशास्त्रिभ्यः।

32

डॉ० सत्यव्रतशास्त्री द्वारा रचित पत्रकाव्यम् का समीक्षात्मक अध्ययन

नीलम यादव

आधुनिक संस्कृत सर्जना में पत्रलेखन को माध्यम बनाकर कवित्व की प्रस्तुति का प्रवर्तन बीसवीं शताब्दी में प्रारम्भ हुआ तथा इसी शताब्दी में इसने साहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान बनाने में सफलता प्राप्त की।

आधुनिक सर्जना में पत्रलेखन को कलात्मक रूप में कम किन्तु साहित्यिक रूप में अधिक महत्व प्रदान किया गया है। यही कारण है कि पत्रलेखन विधा से सम्बन्धित साहित्य प्रकाशित भी हुआ है तथा उसमें समालोचन की अपेक्षा भी दृष्टिगोचर हुई है।

पत्रलेखन मानवीय विचाराभिव्यक्ति की एक ऐसी प्रवृत्ति है जिसमें अप्रत्यक्ष रूप में विचार विनिमय को प्रोत्साहन प्रदान किया जाता है। पत्रलेखन से अभिव्यक्त अपने उद्‌गारों को पढ़कर लेखक तो आत्मसंतुष्टि को प्राप्त करता ही है, पाठक भी पत्र लेखक के व्यक्तित्व से सुपरिचित होने का सुअवसर प्राप्त करता है। लेकिन जब कोई पत्रलेखक साहित्यकार एवं कवि भी हो तो सृजन में प्रवृत्त सामान्य लेखक की अपेक्षा संवेदना एवं भावुकता का पुट तथा साहित्य की अभिव्यक्ति उसके लेखन में अधिक स्पष्ट रूप में प्रतीत होती है। निरीक्षण की शक्ति, भावना की तीव्रता, जीवनानुभवों का प्रस्तुतीकरण, दृष्टिकोण की स्पष्टता एवं चिंतन का अभिनव स्वरूप ये सब ऐसे उल्लेखनीय तत्त्व हैं जो किसी साहित्यकार द्वारा सृजित पत्र में विद्यमान रहते हैं।

आधुनिक पत्रलेखन पद्धति में व्यक्तिगत पत्रों का लेखन भले ही परम्परागत रहा हो किन्तु उनके अतिरिक्त अन्य प्रकार के पत्रों में साहित्य को उभारने की चेष्या पूर्ण रूप से की गयी है।

आधुनिक युग के पत्र लेखकों में से कुछ ही विद्वानों का पत्रसाहित्य प्रकाशित हुआ है। जिसमें भी मुख्य रूप से डॉ० सत्यव्रतशास्त्री की 'पत्रकाव्यम्' प्रकाशित रूप में उपलब्ध होता है। इस 'पत्रकाव्यम्' में सन् 1950 के बाद से लेकर 1993 ईस्वी तक के पत्र संग्रहीत किये गये है। शस्यश्यामला, मलयजशीलता, स्वर्गादपिगरीयसी भारत माँ के विद्वान् के 'पत्रकाव्यम्' में 2222 पद्यों के पद्यमय संस्कृत पत्रों का संकलन है जो संस्कृत वाङ्मय में नूतन विधा का श्रीगणेश करता है।

इस विधा का स्वरूप पत्रलेखन शैली से नितान्त मिलता-जुलता है। अन्तर यह है कि पत्र का सम्पूर्ण प्रतिपाद्य पद्य शैली के माध्यम से लिखा जाता है। संस्कृत विद्वानों, जिज्ञासुओं एवं अध्येताओं के लिए 'कवित्वं दुलर्भं लोके' की विशिष्ट उक्ति को अन्वर्थ सिद्ध करते हुए पद्य में पत्रलेखन की कला अन्यतम वैशिष्ट्य रखती है। पत्रकाव्य की आधुनिक समय में प्रासंगिकता अथवा उपादेयता अत्यन्त महत्वपूर्ण है। पत्रकाव्य नामक नवीन विधा का दिग्दर्शन इस प्रकार के अध्ययन की अपेक्षा रखे हुए था।

पत्रकाव्य नामक इस नूतन विधा में कोई कथानकीय योजना नहीं की जाती अपितु अपने द्वारा प्रेषित संदेश में कथ्यपक्ष के समर्थन के निमित्त किसी भी कथानक को उन्मुक्त रूप से इसमें जोड़ा जा सकता है।

जहां तक पत्रकाव्य सम्बन्धी परिकल्पनाओं का सम्बन्ध है कवि ने सम्भवतया कथासरित्सागर आदि ग्रन्थों में ऐसी कथाओं का अध्ययन किया है जिनमें कबूतर आदि पक्षियों के माध्यम से सूचना सम्प्रेषण किया जाता था-

पुरा कपोतादिशकुन्तसाध्यं
पत्रादिसम्प्रेषणमास्त यत्तत्।
अद्यास्ति नानाविधसाधनैस्तु
साध्यं मनस्तोषकरं विचित्रैः[1]

पत्रकाव्य आधुनिक सृजनधर्मिता के क्षेत्र में नूतन विधा है जिसमें आधुनिक सृजनशील साहित्यकारों का प्रवेश सम्भव है। पत्रकाव्य का मुख्य उद्देश्य संस्कृत वाङ्मय को समृद्ध करना भी रहा है-

इत्येव सञ्चिन्त्य समृद्धिकामैः
प्रेष्याणि पत्राणि सुहृज्जनान् स्वान्।
गीर्वाणवाण्यैव विशेषतस्तान्
ये सन्ति तस्यां सुतरां प्रसक्ताः।[2]

यह कार्य संस्कृत विज्ञों के लिए सृजन सम्बन्धी प्रेरणा करता है। प्राचीन समय की भांति संस्कृत को व्यावहारिक विषय बनाने की दृष्टि से भी पत्रकाव्य का विशिष्ट महत्व है। भाषा विधा में पत्रों से उनमें वर्णित विभिन्न प्रकार के दैनन्दिन कार्यों की विवरणात्मक जानकारी उपलब्ध हो जाती है। संस्कृत के आधुनिक परिदृश्य के प्रति अपनी मानसिक पीड़ा के निवारण का भी पत्रकाव्य एक श्रेष्ठ उपाय है।

---

1. पत्रकाव्यम्, पृ. 260, श्र. 8

2. वही, पृ. 260, श० 11

'पत्रकाव्यम्' कवि के काव्यात्मक पत्रों का संकलन है जो उसके व्यक्तित्व का सुन्दर झरोखा है। अपने मित्रों, सहयोगियों, बन्धुओं तथा विश्व के विभिन्न देशीय संस्कृत विद्वानों को संस्कृत में लिखे गये ये पत्र अनेक विषयों का स्पर्श करते हैं। कवि के अतीत वर्षों में किया गया विभिन्न शास्त्रों का अध्ययन, देशी-विदेशी विश्वविद्यालयों में अध्यापन, विद्वानों की सत्संगति, उनके साथ की गई भेंटवार्तायें तथा उनकी मधुर स्मृतियां, जो कुछ भी कवि ने देखा, सुना, पढ़ा व अनुभव किया वह सब अन्य लोगों तथा जिज्ञासुओं को भी उपलब्ध हो सके, इसी उद्देश्य से प्रेरित हो कवि ने 'सुरभि' के एक कोने में पड़ी इस विचित्र सामग्री को पाठकों को प्रस्तुत किया है-

यत्र यत्र मया यातं यद्वा यद्वा च वीक्षितम्।
यच्च यच्चानुभूतं तत् सर्वं तेषूपवर्णितम्।।
सेयं विचित्रा सामग्री परेषामपि हस्तगा।
भवेदिति धिया तस्याः प्राकाश्यमभिरोचये।।[1]

'पत्रकाव्यम्' पत्रों का संकलन मात्र होते हुए भी, संस्कृत काव्य वाङ्मय में पत्रों द्वारा शिक्षा व ज्ञान के पट खोलता है। इसमें विशिष्ट कथानक के न होने पर भी इतनी प्रभावोत्पादकता है कि पाठक इसमें तल्लीन ही नहीं होता अपितु समानधर्मा बन इन पत्रों में बिखरे सुख-दुःख के मेले में साथ-साथ हंसता व रोता है।

संस्कृतज्ञों का यह अहोभाग्य है कि नानावृत्तोपनिबद्ध, विविधालंकारों से युक्त, माधुर्य व लालित्य से ओतप्रोत प्रचुरज्ञानप्रदायक यह काव्यनिधि उन तक पहुंच गई है। प्रभात की प्रथम किरणों ने इसे आलोकित कर दिया है और इस 'पत्रकाव्यम्' ने असंख्य संस्कृतानुरागियों की मनः कलिकाओं को विकसित कर उन्हें इस तरह नई स्फूर्ति से भर दिया कि वे इन ज्ञानपत्रों को पढ़ते नहीं अघाते।

यह 'पत्रकाव्यम्' कहीं शुभाशंसाएं बिखेरता है तो कहीं वर्धापनों की फुहारों को बरसाता है। कहीं अभिभाषणों को प्रारम्भिक पद्यों से सुसज्जित करता है तो कहीं सौप्रस्थानिक पद्यों से हृदय की वेदना को मुखरित करता है। कहीं मैत्री की मधुरता व्याप्त करता है तो कहीं एकाकीपन की विकलता। कहीं कला की प्रचुरश्लाघा तो कहीं आधुनिक परिवेश की गहनशून्यता। कहीं सम्मेलन की आतुरता तो कहीं वियोग की पीड़ा। ये ही सूक्ष्म अभिव्यक्तियाँ 'पत्रकाव्यम्' की विशिष्टतायें हैं-

उद्घाटयन् मम मनोगतसूक्ष्मभावान्
स्नेहातिरेकसुभगं मयका भवद्भ्यः।

1. पत्रकाव्यम्, आत्मनिवेदनम्

नानादिशाद्रुमलताचितपत्रजालं
हृत्तन्तुजालमिव सङ्ग्रथितं रसेन।।[1]

'पत्रकाव्यम्' में संकलित पत्रों की परिधि सीमित नहीं है, अपितु विशाल है। इसमें जीवन के प्रत्येक पहलू को उजागर किया गया है। ये कवि के निजी पत्र उसके अध्ययन, अध्यापन विदेशगमन, संस्कृति, इतिहास, कला परम्परा, धर्म, वास्तुशिल्प, मन्दिर, देवालय, विहार तथा शिक्षालयों में रुचि व ज्ञान के दीपस्तम्भ बन गये हैं।

इसका नानादेशीय रामकथा का विववरण करने वाला 137 पद्यों में उपनिबद्ध कविमित्र डॉ० रमाकान्त शुक्ल को लिखा गया पत्र संस्कृत वाङ्मय के प्रकाशित पत्रों में सर्वाधिक लम्बा पत्र है। वर्षा ऋतु में बैंकाक नगर का वर्णन, थाईलैण्ड के विविध रसीले फलों का वर्णन, वहां स्थित हिन्दू मन्दिरों का वर्णन, ट्यूबिङ्गन नगर का वर्णन, कनाड़ा अमेरिका देशों की यात्रा का एवञ्च वहां प्रस्तुत व्याख्यानों तथा वहां के विद्वानों से भेंट का वर्णन आदि से युक्त विभिन्न पत्र कवि के भाव, भाषा, कला-सौन्दर्य के साथ-साथ पाठकवृन्द के ज्ञानवर्धन के लिए अमूल्य सामग्री प्रस्तुत करते हैं।

1

रामायणस्य विविधा रुचिराः प्रसङ्गा
देशान्तरेष्वनुभवं सुधियां प्रयान्तु।
एतद्धियाऽऽकलनमत्र निदर्शनाय
केषाञ्चिदेव कृतमस्ति समासबुद्ध्या।
नद्यो यथा विविधदिग्भ्य उपस्रवन्ति
वारांनिधिं च सलिलेन समेधयन्ति।
देशान्तरेषु विततानि कथानकानि
पुष्णन्ति रामचरितं महितं तथैव।। (पृ. 148)

2

ग्रीष्मप्रकोपः कलयाऽत्र शान्तिं
गतोऽस्ति शान्तिं जनयञ्जनेषु।
साभ्रं नभो वाति च शीतवातो
वर्षा इहातिप्रकटप्रकर्षाः। (पृ. 105)

---

1. पत्रकाव्यम् मुख पृष्ठ

3

अन्यान्यपि फलान्यत्रादृष्टपूर्वाणि भारते।
ग्रीष्मर्तोरनुकूलानि दृश्यन्ते पण्यवीथिषु।।
आम्लं च (आ+अम्लम् = ईषदम्लम्)
मधुरं चापि मङ्कुटाख्यं विशेषतः।
समस्तेषु फलेष्वत्र सत्यमेव नृपायते।।
आयोडीन गुणाढ्यं तत्स्वादं स्वादं विलक्षणम्।
मुकुटस्याकृतिं बिभ्रद्रसना सरसायते।।

....

फलेष्वन्येषु 'लुकङो' इत्याख्यमपरं फलम्।
अन्तर्लीचीसमं तावद् भिन्नं तु बहुशो बहिः।।
थुर्यन्नामाऽपरं तात! फलमत्राभिलक्ष्यते।
तीव्रो गन्धो यदीयो नो नो रोचेत कथञ्चन।।
स्वादुङ्कारमिहत्यास्तु फलं तन्नाम भुञ्जते।
अतीव रुच्यं तत्तेषां लोको भिन्नरुचिर्यतः।।

(पृ० 103)

4

मासेऽतीते गतोऽभूवं थाइदेशस्य दक्षिणम्।
भागं यत्र मया दृष्टे पुरे द्वे अतिशोभने।
....
दर्शनीयं मया दृष्टं बहु तत्र मुदावहम्।
देवालयद्वयं तत्र विशेषोल्लेखमर्हति।।
शिवालयस्तयोरेकोऽपरो नारायणालयः।
न पूजा वर्तते तत्र देवयोरुभयोरपि।।

(पृ. 96)

5

विराजमानं गिरिमेखलासु
सौन्दर्यमत्यद्भुतमादधानम्।
नेकारनद्या निकटे निविष्टं
ट्यूबिंगनाख्यं पुरमस्ति तत्र।।

विराजितं पादपराजिभिर्यद्
विभूषितं श्यामलभूमिभागैः।
अभ्रंलिहाग्रैर्भवनैरनेकै-
रलङ्कृतं नेत्रसुखं ददाति।। (पृ. 244)

6

कनाडाशासनेनाहं भाषणार्थं निमन्त्रितः।
तत्रस्थानगमं नैकान् विश्वविद्यालयाञ्शुभान्।।
अमेरिकास्थविद्वद्भिर्विज्ञायागमनं मम।
स्वदेशनिकषा स्नेहादहमासं निमन्त्रितः।।
विश्वविद्यालयास्तात! गमिकर्मीकृता मया।
चतुर्दश सुविख्याता देशयोरुभयोरपि।।
एकोनविंशतिश्चापि भाषणानि ममाभवन्।
यानि तत्रस्थविद्वद्भिः श्लाघितानि पुनः पुनः।
....
निवर्तमानो यात्रातो जापानेऽहश्चतुष्टयम्।
विद्वत्सङ्गसुखाकृष्टः प्रमना व्यत्ययापयम्।।
तत्र दृष्टा मया नाकामूरेत्याख्या विपश्चितः।
ताकाकासीति चाप्यन्ये मायेदाख्यास्तथापरे।।
यूयामेत्यपरे चापि प्राच्यविद्याविशारदाः।
अधीतिनः शास्त्रचये सर्वे पण्डिततल्लजाः।।

(पृ० 31-32)

कवि जब नूतन विषय पर अपनी लेखनी चलाता है तब वह अपने समय का प्रतिनिधित्व करता है। आधुनिक विषयों का समसामायिक दृष्टि से महत्त्व भी है। पत्रों के माध्यम से कवि जिस माहौल में रह रहा है उसकी भी जानकारी उपलब्ध होती है।

पत्रों के माध्यम से कवि के कृतित्व एवं व्यक्तित्व उजागर होते हैं। पत्रों का ऐतिहासिक महत्त्व भी वर्षों पश्चात् उजागर होगा।

जब कोई आत्मीयजनों से दूर रहता है तब वह पत्र सम्प्रेषण करता है। वह अपनी पीड़ा, सुख, दुःख सब का वर्णन पत्र के माध्यम से करता है। जो हमारे एक-दूसरे के मन में आत्मीय भाव जागृत करते हैं।

दूरस्थबन्धूनिदमेव वार्तवृत्तादि-
सम्प्रेषणमाध्यमेन।

कांश्चित्क्षणान् सान्त्वयितुं समर्थ-
मात्यन्तिकोत्कण्ठितचित्तवृत्तीन्[1] ।।

पत्र के माध्यम से हम एक दूसरे के सम्पर्क में रहते हैं, पत्रों के माध्यम से संस्कृत भाषा को जीवित भाषा के रूप में प्रमाणित करते हैं। इस काव्य के माध्यम से इतर भाषाओं में विकसित आधुनिक विधाओं के तुल्य संस्कृत भाषा में साहित्यसर्जना के गौरव के उपस्थापन का प्रयास भी हुआ है।

इन पत्रों की मुख्य विशेषता यह है कि इनके अध्ययन से वैसा ही काव्यानन्द प्राप्त होता है जैसा काव्यानन्द किसी महाकाव्य के अध्ययन से। डॉ० सत्यव्रत शास्त्री द्वारा लिखित पत्र मूलरूप में चार शीर्षकों में विभक्त किये जा सकते हैं–

(क) सामान्य पत्र (ख) अभिनन्दन पत्र

(ग) अभिभाषण पत्र (घ) प्रकीर्ण पत्र

इन शीर्षकों के अन्तर्गत 124 पत्र पत्रकाव्यम् के आधारभूत स्तम्भ हैं।

पत्र लेखन की प्रारम्भिक शैली का मूल उद्देश्य सूचना सम्प्रेषण था। 'पत्रकाव्य' में प्रारम्भिक पत्र सूचनात्मक लिखे गये। इस श्रेणी में इस प्रकार के पत्रों का संकलन किया गया है जिन्हें कवि द्वारा अपने पारिवारिक व्यक्तियों, सगे सम्बन्धियों को इनमें औपचारिक रूप में लिखा है। इन पत्रों में विषयवस्तु संक्षिप्त होती है तथा इनमें सन्देशकथन मात्र समाविष्ट होता है।

इन सूचनात्मक पत्रों का शास्त्रीय दृष्टि से इसलिए महत्व समझा गया क्योंकि इनमें कवित्व के मानदण्डों को अपनाया गया था। संस्कृत काव्यशास्त्र के नियमानुकूल छन्दयोजना, कथ्यप्रस्तुति, अलंकार, काव्यसौन्दर्य, भाषा-शैली, काव्यगुण, रीति, सूक्तिप्रयोग इत्यादि अनेक महत्त्वपूर्ण तत्वों का समावेश इन सूचनात्मक पत्रों में हुआ है।

'पत्रकाव्यम्' के कुछ पत्रों में यात्रावर्णन प्राप्त हैं, जहां कवि ने भ्रमण किया, उस देश एवं संस्कृति को देखा, वे अपने मित्रों को अपने अनुभव के द्वारा उस देश एवं संस्कृति से परिचित कराते हैं। अनेक देशों के विश्वविद्यालयों में दिया गया व्याख्यान अध्यापन उन सब का वर्णन इन पत्रों में किया गया है। इनमें बैंकाक नगर का वर्णन, थॉईदेश के विविध रुचिर फलों का, वहां के हिन्दू मंदिरों का, जर्मनी के ट्यूबिंगननगर का वर्णन प्राप्त होता है।

वर्णनात्मक एवं विवरणात्मक पत्रों के अवलोकन से यह प्रतीत होता है कि प्राथमिक पद्य सूच्यांश को प्रस्तुत करते हैं। वर्णनात्मक एवं विवरणात्मक विषयों में किसी एक अथवा अधिक विषयों को लेकर कवि ने अपने मनोभाव व्यक्त किये हैं। इन पत्रों में प्रयुक्त कवि का कवित्व मात्र छन्दोबद्धता अथवा तुकबन्दी तक ही सीमित नहीं है अपितु काव्यसौन्दर्य के समायोजन से इसमें निखार आया है।

1. पत्रकाव्यम्, पृ० 260, श्० 7

भारतीय धर्म एवं संस्कृति के विविध आयाम 'पत्रकाव्यम्' के रामकथापरक पत्रों में उज्ज्वल मुक्तामणियों की भांति गूंथे गये प्रतीत होते हैं। राम के उज्ज्वल चरित्र के समग्र वैश्विक दृष्टिकोण की काव्यात्मक शैली में सहज अभिव्यक्ति यहां द्रष्टव्य है। कवि उन प्रसंगों का नैसर्गिक चित्रण करता है, जिनमें देशान्तर की रामकथा को प्रकारान्तर से प्रस्तुत किया है। रामकथा के इन प्रसंगों के तुलनात्मक परिप्रेक्ष्य में प्रस्तुत करने का प्रयास कवि की विशेषता है।

शास्त्रचिन्तापरक एवं सृजनधर्मितापरक पत्रों में मुख्यरूप से शास्त्रीय जिज्ञासा के साथ सृजनधर्मिता की भी अभिव्यक्ति हुई है। इन पत्रों में जहां शास्त्रीय महत्व के विषयों पर महत्वपूर्ण उल्लेख किये गये है, वहीं सृजनात्मक प्रवृत्ति के अपनाने का संदेश भी उपस्थापित हुआ है। प्रवासकाल में शास्त्रचिंतन एवं सृजनधर्मिता कवि के अनुकरणीय आदर्श रहे हैं।

समसामयिक घटनापरक एवं ऐतिह्यप्रधान पत्रों में आत्मवृतान्त की परिधि में विषय एवं घटनाओं की जानकारी प्रदान करने में कवि पर्याप्त सक्षम रहे हैं।

पत्रकाव्यम् में संकलित अभिनन्दन, अभिभाषण, एवं प्रकीर्ण पद्य सर्जन के उत्कृष्ट प्रयोग कहे जा सकते हैं। अभिनन्दन पद्य अवसर विशेष पर उन्मुक्त रचना के रूप में सृजित किये जाते हैं। अभिनन्दन पद्यों में विद्वज्जनों की विद्वत्ता की प्रस्तुति कवि की रचना को विलक्षण गरिमा से मण्डित कर देती है। इन अभिनन्दन पद्यों की योजना का उद्देश्य संस्कृत के आधुनिक अध्येताओं को अपने सर्जनात्मक उद्देश्य के प्रति उन्मुख करना रहा है।

कवि ने अभिनन्दनीय पद्यों के लिए अनेक महत्वपूर्ण अवसरों का उल्लेख किया है। उदाहरण के लिए नववर्ष के अवसर पर शुभकामना के रूप में अभिनन्दन पद्य लिखे जा सकते है। किसी मित्र अथवा सामाजिक बन्धु को उसके जन्मदिवस पर, किसी विशिष्ट उपाधि प्राप्ति पर, किसी विशिष्ट समारोह पर भी अभिनन्दन पद्यों की रचना की जा सकती है। इस प्रकार अभिनन्दन पद्यों के समान ही कवि ने अभिभाषण पद्यों की भी रमणीय योजना पत्रकाव्य के अन्त में की है। इन अभिभाषण पद्यों में प्रणति निवेदन सामान्य रूप से अभिव्यक्त होता है तथा किसी समारोह के आयोजन के अवसर पर पठनीय होने से अभिभाषणपरक पत्र परिचयपरक होते है तो कुछ अंशों में समारोह के परिचायक भी होते हैं।

अभिभाषण पद्यों में कवि प्रसंग के अनुकूल तथ्यों का उपनिबन्धन करता है। कथ्य संक्षिप्त हो अथवा दीर्घ हो इससे अभिभाषण पद्यों की प्रस्तुति में कोई बाधा नहीं आती। प्रसंगानुकूल भाव कवि की भाषा में पर्याप्त सजीव हो उठे हैं। अत: यह कहा जा सकता है कि अभिभाषण पद्यों की रचना में कवि को उपयुक्त सफलता मिली है।

अभिनन्दन पद्यों, अभिभाषण पद्यों के समान ही प्रकीर्ण पद्यों की भी रमणीय योजना 'पत्रकाव्यम्' के अन्त में कवि ने की है। इन प्रकीर्ण पद्यों में मुख्यरूप से अनेक महत्वपूर्ण अवसरों का उल्लेख किया है। उदाहरण के लिए पत्रिका के शुभाशंसापरक पद्यों, आशीर्वचनात्मक पद्य, सौप्रस्थानिक

पद्य, विभिन्न काव्यों पर अपने विचार, रूसीक्रान्ति के विषय में विभिन्न उद्घाटनों पर पठित पद्य, हंगरी के एक महाकवि की कविता पर पठित पद्य आदि।

कवि ने एक अवसर पर अनेक छन्दों में प्रकीर्ण पद्य लिखे हैं। जो पूर्वोक्त उन्मुक्त पद्य सर्जन की प्रवृत्ति को लक्षित करते हैं। इस प्रकार पत्रकाव्य के अन्त में समाविष्ट पद्य भले ही पत्रकाव्य न हों किन्तु साहित्य के यथार्थ को स्थापित करने में कम महत्व के नहीं है और इसीलिए कवि ने इनकी योजना कर कवित्व के भावी स्रष्टाओं का उचित मार्गदर्शन किया है जिसके लिए वे धन्यवाद के पात्र हैं।

'पत्रकाव्यम्' के पत्र पढ़ने में रुचिकर हैं। संस्कृत के वाङ्मय में वृद्धि और सृजन सम्बन्धी प्रेरणा, संस्कृत को व्यावहारिक विषय बनाने सम्बन्धी प्रयास, इसके माध्यम से लोक सम्बद्ध घटनाओं का संरक्षण, इतर भाषाओं में विकसित आधुनिक विधाओं के तुल्य संस्कृत भाषा में साहित्यसर्जना के गौरव का उपस्थापन का प्रयास इस काव्य को अतुलनीय बना देता है।

• • •

33
प्रो० सत्यव्रतशास्त्री की गुरु-परम्परा

प्रभुनाथ द्विवेदी

पण्डितश्रीचारुदेवस्य शास्त्रिणः प्रतिभायुतः।
स्वनामधन्यः सत्पुत्रः सत्यव्रतो महीयते।।1।।

'आत्मा वै पुत्रनामासि' श्रुतिवाक्यं यदीर्यते।
सत्यं सत्यव्रतं प्राप्य सत्यभूतं सनातनम्।।2।।

वैदुष्यमथ कर्तृत्वं सद्वृत्तमथ पौरुषम्।
विद्याविनयगाम्भीर्यं यस्य नित्यं प्रशंसितम्।।3।।

अलङ्कारैः पदैर्मानैः पुरस्कारैश्च पुष्कलैः।
देशे देशान्तरे वापि सत्यव्रतः सभाजितः।।4।।

धन्यास्ते गुरवः सन्ति येषां शिक्षाप्रसादतः।
कृतविद्योऽसौ लोकेऽस्मिन् कीर्तिकान्तः प्रसीदति।।5।।

तेषां हि गुरुवर्याणां यशोगाथा प्रगीयते।
सुधियां प्रीतये चात्र मया ज्ञात्वा ततस्ततः।।6।।

प्रसन्नवदनो मान्य आप्तकाम उदारधीः।
शास्त्रिवर्यः सुखं जीवेत्पारं वर्षशतादपि।।7।।

[अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः।।]

अत्यन्त महनीय और श्रद्धेय है 'गुरु' शब्द। कोशकारों ने 'गुरु' शब्द के अनेक अर्थ बताये हैं। उन-उन अर्थों में 'गुरु' शब्द का प्रयोग भी लोक और शास्त्र में हुआ है। सामान्यतः गुरु दो प्रकार के हैं- शिक्षा गुरु और दीक्षा गुरु। यद्यपि क्रिया-भेद से दोनों में भिन्नता है, किन्तु दोनों की एकता की सम्भावना में कोई बाधा भी नहीं है। प्रकृत विषय का सम्बन्ध शिक्षा (विद्या) गुरु से है।

'एकाक्षरगुरुर्गुरुः' जिससे एक अक्षर का भी ज्ञान मिल जाय, वह गुरु है। इस दृष्टि से किसी भी व्यक्ति-विशेष के सम्पूर्ण जीवन काल में अनेक गुरु हो सकते हैं और जिन्होंने विद्याध्ययन किया है, उसके तो अनेक गुरु (शिक्षक=अध्यापक) होते ही हैं। पद्मभूषण प्रो० सत्यव्रत शास्त्री भी इसके अपवाद नहीं हैं। वे स्वयं भी न जाने कितने शिष्य-छात्रों के श्रद्धास्पद गुरु हैं और उनके भी अनेक आदरणीय विद्या गुरु हैं।

कहा जाता है कि किसी भी शिशु का घर-परिवार उसकी प्रथम पाठशाला होती है और उसके माता पिता ही उसके आदिगुरु होते हैं। जैसे अङ्कुर के लिए भूमि, वैसे ही शिशु के लिए उसका घर-परिवार। निःसन्देह, घर-परिवार के आचार और संस्कार का शिशु के ऊपर अमिट प्रभाव पड़ता है। 'बाढ़ें पूत पिता के घर में'-यह लोकोक्ति निश्चय ही चरितार्थ होती हैं और पितृधर्म पुत्र की अभ्युन्नति में निरन्तर सहायक होता है।

प्रो० सत्यव्रत शास्त्री (जिन्हें अब यहां से आगे प्रो० शास्त्री कहा जायेगा) की विद्यागुरु-परम्परा का शुभारम्भ उनके पूज्य पिता पं० चारुदेव शास्त्री से होता है। उनके प्रथम गुरु वे ही थे। प्रारम्भिक पाठशाला में जाने से पूर्व ही उनके पिता जी ने शिशु सत्यव्रत को पढ़ाना प्रारम्भ कर दिया था। पाठशाला में भी उनका अध्ययन केवल चतुर्थ कक्षा तक ही हुआ। इसके पश्चात् उनके पिता जी उन्हें विद्यालय से हटाकर घर पर ही पढ़ाने लगे। पिता की हार्दिक इच्छा थी कि उनका पुत्र उनके जैसा बने। प्रो० शास्त्री जी इसे अपने पिता जी की 'सनक' कहते हैं। वे बालक सत्यव्रत को सदैव अपने साथ रखते थे और वार्तालाप भी उनसे संस्कृत में ही करते थे। यहाँ तक कि जब वे अध्यापन के लिए महाविद्यालय जाते तब भी पुत्र को साथ ले जाते थे। जब वे कक्षा में होते तब बालक सत्यव्रत अध्यापक-कक्ष में चुपचाप अकेले बैठ कर व्याकरण के सूत्र कण्ठस्थ करते रहते थे। प्रातर्भ्रमण के समय भी वे व्याकरण के नियमों को समझाते रहते थे और बीच-बीच में पूछकर परीक्षा भी ले लिया करते कि यह कितना समझ रहा है। वे अपने मित्रों से भी कहते कि मेरा पुत्र पहले संस्कृत पढ़ेगा और फिर कोई अन्य विषय। पं० चारुदेव शास्त्री अन्यन्त विद्वान्, कर्मनिष्ठ और आचारपूत अध्यापक थे। वे अपने पुत्र को भी वैसा ही बनाना चाहते थे।

प्रो० शास्त्री ने दस वर्ष की आयु में पंजाब विश्वविद्यालय की 'प्राज्ञ' परीक्षा उत्तीर्ण कर ली थी। इसके बाद व्यक्तिगत परीक्षार्थी के रूप में वे गवर्नमेण्ट संस्कृत (क्वींस) कालेज, वाराणसी की मध्यमा परीक्षा में सम्मिलित हुए। तत्पश्चात वे ओरिएण्टल कालेज, लाहौर की शास्त्री कक्षा में प्रविष्ट हुए। उस समय वहाँ संस्कृत के प्रधान पण्डित थे श्रीमाधवशास्त्री भण्डारी। वे मूलतः महाराष्ट्र के निवासी थे। वे व्याकरण के अच्छे ज्ञाता थे। उन्होंने महाभाष्य के पस्पशाह्निक की टीका की थी और महाभाष्य पढ़ाते भी थे। प्रो० शास्त्री ने उसने महाभाष्य का अध्ययन किया था। पण्डित माधव शास्त्री भण्डारी, प्रो० शास्त्री के उपनयन गुरु भी थे।

प्रो० शास्त्री ने वैयाकरण सिद्धान्त कौमुदी का अध्ययन पं० जगदीश भट्ट से किया था। भट्ट

जी का शब्दसिद्धि पर असाधारण अधिकार था। वे प्रत्येक शब्द की सिद्धि के एक-एक चरण को अत्यन्त विशद रूप से स्पष्ट करते थे-अनुबन्ध की इत्संज्ञा और लोप से लेकर गुण और वृद्धि तक। शब्दसिद्धि की शास्त्रीय पद्धति उनकी इतनी सिद्ध थी और बोध कराने का मार्ग इतना स्पष्ट था कि छात्र मन्त्रमुग्ध होकर सुनते और समझते थे। जब तक उन्हें यह अनुमान नहीं होता था कि आज का पाठ विद्यार्थियों की समझ में आ गया, तब तक उनको आत्मसन्तोष नहीं होता था। यदि वे आज होते तो लोग उन्हें व्याकरण का चलता-फिरता कम्प्यूटर कहते। धर्मशास्त्र के सुयोग्य अध्यापक पं० रघुनन्दन शास्त्री मनुस्मृति पढ़ाते थे। उनकी पढ़ाने की शैली बहुत मनोरंजक थी। अध्यापन क्रम में प्रसङ्गत: वे और भी ढेर सारी बातें बता दिया करते थे। साथ ही कभी-कभी संस्मरण भी सुनाया करते थे। उन्होंने एक दिन एक संस्मरण सुनाया था, जो उस कालेज के एक पूर्व प्राचार्य से सम्बद्ध था। प्राचार्य का नाम था-मिस्टर मेनार्ड। मेनार्ड साहब संस्कृत के उद्‌भट विद्वान् थे। संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित भी प्राय अपनी जिज्ञासाएँ लेकर उनके पास जाते थे। अधिकांश जिज्ञासाओं का समाधान तो वे तत्काल कर देते थे किन्तु जब तत्काल नहीं कर पाते थे तो उच्च स्वर में (उनकी कद काठी के अनुपात में उनका स्वर काफी मोटा और ऊँचा था) कहते-"विचार्य वक्ष्यामि पण्डितवर्या:!" (पण्डितजी, मैं विचार कर फिर बताऊँगा)।

उस कालेज में साहित्य के अध्यापक थे पं० रामचन्द्र कुशल। वे साहित्य शास्त्र के उच्चकोटि के विद्वान् थे। पं० कुशल जी प्रो० शास्त्री जी के पूज्य पिता जी के अन्तरङ्ग मित्रों में से थे। उनके घर का मार्ग प्रो० शास्त्री जी के आवास से होकर ही था। उनका यह नियम बन गया था कि विद्यालय से लौटते समय कुछ ही समय के लिए सही प्रो० शास्त्री जी के यहाँ रुकते अवश्य थे। और तब, पं० चारुदेव शास्त्री जी के साथ प्रसङ्गत: अनेक विषय पर चर्चा करते थे। पं० कुशल जी साहित्यशास्त्र के गम्भीर ज्ञाता तो थे ही, व्याकरण शास्त्र में भी पर्याप्त कुशल थे। उस समय सर्वत्र ही विद्वज्जनों की चहुँमुखी प्रतिभा होती थी। शास्त्र विशेष में उनकी नदीष्णता तो होती थी वे अन्य शास्त्रों/ विषयों के भी अच्छे ज्ञाता होते थे। जो विद्वान् थे, वे सचमुच विद्वान् थे। उनकी विषय विशेषज्ञता संकुचित क्षेत्र में नहीं होती थी, सामान्यत: अन्य विषयों पर भी उनकी पकड़ रहती थी। पं० कुशल जी भी ऐसे ही विद्वान् थे। उस समय लौहार में संस्कृतपण्डितों की एक संस्था थी- 'सरस्वती-समाज।' उसमें एक बार पं० रामचन्द्र कुशल का व्याख्यान आयोजित हुआ। अध्यक्षता की पं० चारुदेव शास्त्री जी ने। प्रो० शास्त्री जी को आज भी स्मरण है कि उनके पूज्य पिता जी ने अपना अध्यक्षीय वक्तव्य प्रारम्भ करते हुए कहा था- "कुशला ह्यत्र प्रधानवक्तार उपसर्जनं वयम्।" यहाँ 'कुशला:' पद में श्लेष है। और इस उक्ति से पं० कुशल जी की साहित्य विद्या विदग्धता के साथ ही उनके प्रति आदर का भाव भी सूचित होता है।

प्रो० शास्त्री के पिता जी के मन में विचार आया कि बालक को आधुनिक विषयों की भी शिक्षा दिलानी चाहिए। उन्होंने तब ऐसा सोचा जब सत्यव्रत जी शास्त्री कक्षा उत्तीर्ण कर चुके थे। उनके पिता जी ने अपने प्रभाव का उपयोग करते हुए उन्हें डी. ए. वी. स्कूल, लौहार की नवीं कक्षा

में सेक्शन 'ए' में सीधे प्रवेश दिलवा दिया। यद्यपि इनकी प्रवेशार्थ परीक्षा हुई थी किन्तु वह औपचारिकता मात्र थी क्योंकि इनको संस्कृत के अतिरिक्त अन्य किसी आधुनिक विषय का ज्ञान न था। प्रो० शास्त्री जी उस समय का एक मनोरंजक वृत्तान्त बतलाते हैं। उस समय छात्रों के संख्याधिक्य के कारण प्रत्येक कक्षा में कई वर्ग हुआ करते थे -ए, बी, सी, डी इत्यादि। त्रैमासिक परीक्षा में जिसके अङ्क अच्छे आते थे उन्हें ऊपर के वर्गों में और जिनके अङ्क अच्छे नहीं आते थे, उन्हें नीचे के वर्गों में स्थानान्तरित का दिया जाता था। इस तरह प्रत्येक वर्ग में कुछ नये चेहरे आ जाते थे। प्रो० शास्त्री तो सीधे कक्षा नौ के 'ए' वर्ग में प्रविष्ट हुए थे। अतः समझा गया कि यह बालक किसी नीचे वर्ग से आया होगा। वर्ग 'ए' में इस बालक सत्यव्रत को देखकर इतिहास के अध्यापक श्री जगन्नाथ ग्रोवर ने पूछा "Form which section are you?" उस बालक को उस समय अंग्रेजी का नाम मात्र का ज्ञान था। अतः उसने किसी प्रकार बताया-"I come no section, I come home" सुनकर सारी कक्षा हँस पड़ी। कोई भी छात्र उसमें परिचित न था। शिखा-सूत्र धारी, शास्त्री उपाधिधारी संस्कृतज्ञ बालक सत्यव्रत अन्दर से तिलमिला उठा। पिता जी पर भी क्षोभ हुआ। मन ही मन उस समय प्रो० शास्त्री ने संकल्प लिया कि आगे वे अंग्रेजी का ज्ञान प्राप्त कर ऐसा अभ्यास करेंगे कि बड़े-बड़े अंग्रेजी बोलने वाले भी दाँतो तले अँगुली दबाएँगे।

कक्षा नौ में अंग्रेजी के अध्यापक थे श्री दौलत राम। वे बहुत ही लगन से पढ़ाते थे। विद्यालय का समय होने के बाद भी वे वर्ड मीनिंग और स्पेलिंग का अभ्यास कराते थे तथा अंग्रेजी की उत्तर पुस्तिकाएँ जाँचते और विद्यार्थियों को उनकी गलतियाँ समझाते थे। श्री दौलत राम जी ने शास्त्री जी के साथ बहुत परिश्रम किया। शास्त्री जी भी विशेष ध्यानपूर्वक अंग्रेजी का अभ्यास करने लगे। वे अंग्रेजी की पुस्तकों में से नये-नये शब्द देखकर लिख लेते तथा अर्थ और स्पेलिंग सहित याद करते। अंग्रेजी भाषा के व्याकरण के नियम भी उन्होंने कण्ठस्थ किये। उस समय मैट्रीक्युलेशन की परीक्षा में हिन्दी अथवा अंग्रेजी माध्यम का विकल्प था। शास्त्री ने अंग्रेजी माध्यम ही चुना और परीक्षा दी। उन्होंने यह परीक्षा विशेष योग्यता के साथ प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण की और छात्रवृत्ति भी प्राप्त की। इसका श्रेय वे अपने आदरणीय गुरु श्री दौलत राम जी को देते हैं। तथा आज भी उन्हें श्रद्धापूर्वक स्मरण करते हैं।

इसी बीच स्वतन्त्रता प्राप्ति के साथ ही देश का विभाजन हो गया। चारुदेव शास्त्री विस्थापित होकर अम्बाला छावनी में आकर बसे। विस्थापितों के द्वारा गान्धी मेमोरियल नेशनल कालेज स्थापित हुआ। इस कार्य को आगे बढ़ाने वाले रावलपिण्डी के प्रधानाचार्य थे जो विस्थापित होकर यहाँ आये थे। उन्होंने रावलपिण्डी के अपने सहयोगी अध्यापकों को भी साथ में ले लिया। शास्त्री जी ने इण्टरमीडिएट कक्षा में इसी कालेज में प्रवेश लिया। वहाँ उनके अंग्रेजी के अध्यापक थे श्री एन. सी. कँवर और श्रीभीष्म साहनी। श्री साहनी जी प्रसिद्ध फिल्म अभिनेता श्री बलराज साहनी के भाई थे और हिन्दी के नामी साहित्यकार थे। भल्ला नाम के एक युवक अध्यापक इतिहास

पढ़ाते थे। हिन्दी के अध्यापक श्री विद्याधर घस्माना शास्त्री जी से विशेष स्नेह करते थे। प्रो० शास्त्री ने बी. ए. कक्षा में भी इसी कालेज से अध्ययन किया। यहाँ संस्कृत के अध्यापक थे पं० के. एल गौतम। प्रो० शास्त्री ने बी. ए. संस्कृत आनर्स परीक्षा में सर्वोच्च अङ्क प्राप्त कर कीर्तिमान स्थापित किया। इनके परिणाम से पं. गौतम अति प्रसन्न हुए और उन्होंने इन्हें एक योग्यता प्रमाण पत्र लिख कर दिया कि "विश्वविद्यालय से प्राप्त उपाधियां इनकी वास्तविक योग्यता को मापने में अपर्याप्त हैं। अपने वास्तविक जीवन में जो ऊँचाइयाँ इनकी विरासत हैं, उन्हें ये जानते हैं।" पूरा प्रमाणपत्र अंग्रेजी में है।

प्रो० शास्त्री ने बी. ए. (संस्कृत आनर्स) उत्तीर्ण करने के पश्चात् संस्कृत विषय से एम. ए. का अध्ययन करने के लिए पंजाब विश्वविद्यालय से सम्बद्ध डी. ए. वी. कालेज, जालन्धर में प्रवेश लिया। उस समय वहाँ संस्कृत के विभागाध्यक्ष थे डॉ० सूर्यकान्त। शास्त्री जी उनसे वेद और भाषा शास्त्र कुछ ही मास तक ही पढ़ सके थे क्योंकि डॉ० सूर्यकान्त काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी के संस्कृत विभाग में प्रोफेसर नियुक्त होकर चले गये। प्राध्यापक श्री जगन्नाथ अग्रवाल के प्रभाव से अन्य छात्रों के साथ ही प्रो० शास्त्री जी ने भी एम. ए. में विशेष विषय के रूप में अभिलेखशास्त्र का चयन किया। डॉ० सूर्यकान्त के स्थान पर आये संस्कृताध्यापक श्री प्यारे लाल शर्मा अपनी अध्यापन शैली से छात्रों को प्रभावित करते थे।

एम. ए. की परीक्षा उत्तीर्ण करने के पश्चात् प्रो० शास्त्री जी पी-एच. डी. उपाधि हेतु शोधकार्य करने के लिए काशी आये। यहाँ उनका पंजीकरण काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में तत्कालीन संस्कृत विभागाध्यक्ष प्रो० सूर्यकान्त के निर्देशन में हुआ। प्रो० सूर्यकान्त शास्त्री जी को डी. ए. वी. कालेज, जालंधर में एम. ए. कक्षा में कुछ माह पढ़ा चुके थे। उन्होंने शास्त्री जी को स्वयं अपना शोधविषय चुनने के लिए कहा था। उन्होंने विश्वविद्यालय के ग्रन्थालय में जाकर शोधपत्रिकाओं के अनेक अङ्कों की विषय सूचियां देखकर, स्वतः स्फुरित विषय-'वाक्यपदीय में दिक्काल मीमांसा' चुना। शोधसमिति ने यह विषय यथावत् स्वीकृत कर दिया। प्रो० शास्त्री जी कहते हैं कि वे शोधविषय चयन के सन्दर्भ में महामहोपाध्याय डॉ० गोपी नाथ कविराज जी से भी मिले थे और उन्होंने 'Studies in the Vākyapadīya' सुझाया था किन्तु विषय की व्यापकता और समयसाध्यता को देखते हुए वे दिक्-काल तक ही सीमित रह गये। निर्देशन के नाम पर डॉ० सूर्यकान्त से उन्हें कोई सहायता नहीं मिली। उन्होंने कभी भी इस सम्बन्ध में शास्त्री जी से कोई पृच्छा नहीं की। 31 मार्च, 1955 ई० में शास्त्री जी ने परीक्षणार्थ अपना शोध प्रबन्ध प्रस्तुत कर दिया। इस प्रकार, प्रो० शास्त्री जी की अध्ययन धारा का एक क्रम पूरा हुआ। यह धारा परवर्ती थी। साथ ही, परम्परागत संस्कृत अध्ययन की जो अन्य धारा थी, वह पूर्ववर्ती धारा भी अक्षुण्ण रही। दोनों धाराएँ प्रायः समानान्तर चल रही थी। जब कालेज में प्रथम वर्ष की परीक्षा होती थी, तब वे गवर्नमेण्ट संस्कृत कालेज, काशी की शास्त्री और आचार्य के खण्डों की परीक्षा देते थे।

प्रो० सत्यव्रत शास्त्री के उत्तरवर्ती परम्परागत अध्ययन का एकमात्र उद्देश्य था शास्त्रीय प्रौढ़ पाण्डित्य की प्रशस्त भूमिका में स्वयं को स्थापित करना। इस दृष्टि से उन्होंने काशी में उस समय के उद्भट विद्वानों को अपना गुरु बनाया और उनके चरणों में बैठकर ज्ञानामृत का पान किया। वे जब अम्बाला और जालन्धर में अध्ययनरत थे तब भी अवकाश के दिनों में काशी आ जाते थे।

काशी में उनके व्याकरण के गुरु थे पं० शुकदेव झा। इनसे उन्होंने सम्पूर्ण महाभाष्य का अध्ययन किया। पं० झा को पूरा महाभाष्य कण्ठस्थ था। इनसे शास्त्री जी ने व्याकरण महाभाष्य के अतिरिक्त परिभाषेन्दुशेखर, वैयाकरणभूषणसार और लघुमञ्जूषा का अध्ययन किया। वे शास्त्री जी को पुत्रवत् स्नेह देते थे। कदाचित् इसमें कारण था पं० झा जी का सन्तान हीन होना। प्राचीन व्याकरण में महाभाष्य पर उनका विशेष बल था किन्तु नव्य व्याकरण के ग्रन्थ भी उन्होंने इन्हें पढ़ाये। सतत अभ्यास से परिभाषेन्दुशेखर शास्त्री जी को आद्यन्त कण्ठस्थ था और वे उसका वैसे ही पाठ करते थे जैसे कोई नित्य दुर्गा पाठ करता हो।

प्रो० शास्त्री जी को उनके जिन दो गुरुओं ने सर्वाधिक प्रभावित किया, पं० शुकदेव झा उनमें से प्रथम हैं। शास्त्री जी के प्रति उनका आत्मीय स्नेह था। अपने संस्मरण[1] में प्रो० शास्त्री जी लिखते हैं– "एक दिन पाठ चल रहा था। अचानक एक अति वृद्ध व्यक्ति, जिनकी कमर दोहरी हुई जा रही थी, लाठी टेकते-टेकते उनके पास आ गये। उन्हें देखते ही गुरु जी उठे और उन्हें साष्टाङ्ग प्रणाम किया। इसी से मैंने अनुमान लगा लिया कि वे उनके गुरु हैं। उन वृद्ध व्यक्ति ने प्रश्न सूचक दृष्टि से मेरी ओर देखा। गुरु जी समझ गए कि वे जानना चाहते हैं कि मैं कौन हूँ? उन्होंने तुरन्त कहा– "यह आपका पौत्र है।" उनके ये वचन मुझे कहीं गहरे लगे।............विद्या सम्बन्ध से गुरु जी के गुरु का मैं पौत्र ही लगा। कितनी आत्मीयता थी उनके शब्दों में!

प्रो० शास्त्री जी को दही-चिउड़ा विशेष प्रिय है। कई बार पं० झा जी अपने हाथों उन्हें दही-चिउड़ा परोसते थे और पास में बैठकर देखते रहते थे कि वे भरपेट खा रहे हैं कि नहीं? वे स्नेह और वात्सल्य की मूर्ति थे। प्रो० शास्त्री जी विवाह के पश्चात् अपनी धर्म-पत्नी के साथ आशीर्वाद लेने पं० झा जी के यहाँ गये तो उन्होंने हँडिया भर रसगुल्ला मँगाया और उसके सामने रखकर बोले कि खाओ। वह रसगुल्लों की संख्या देखकर घबराई और बोली कि इतना तो नहीं खाया जायेगा। गुरुवर पं० झा ने विस्मित होकर शास्त्री जी से पूछा– "क्या यह किसी गरीब घर की है?" शास्त्री जी सपत्नीक हँस पड़े और आज भी स्मरण करके हँसते हैं। ऐसे थे इनके अविस्मरणीय आदरणीय गुरु पं० शुकदेव झा।

एक और अद्भुत वृत्तान्त है। पं० शुकदेव झा ने वैयाकरणभूषणसार पर एक लघुग्रन्थ लिखा और शास्त्री जी को दिखाकर बोले कि इसका प्राक्कथन तुम्हें लिखना है। शास्त्री जी उस समय

1. अनुकरणीय गुरुः– सम्पादक-डॉ० के.के.शर्मा, आई०बी०ए० पब्लिकेशन्स, अम्बाला कैण्ट, जनवरी, 2001 ई०, पृ० 108 से 11।

आचार्य द्वितीय वर्ष के छात्र थे। वे अवाक् रह गये। सहसा उन्हें अपने कानों पर विश्वास न हुआ। पं० झा जी के साथियों ने कहा कि यह तो आपका छात्र है, प्राक्कथन तो बड़े लोग लिखा करते हैं। किन्तु गुरुवर पं०झा ने कहा कि नहीं, यही लिखेगा। शास्त्री जी बहुत असमञ्जस में पड़े किन्तु गुरु का आदेश मानकर उनकी प्रसन्नता के लिए उस लघु ग्रन्थ का प्राक्कथन इन्होंने ही लिखा। धन्य हैं ऐसे वन्दनीय गुरु जो शिष्य के मस्तिष्क ही नहीं, हृदय में भी अचल श्रद्धामय स्थान बना लेते हैं।[1]

प्रो० शास्त्री जी के दूसरे अविस्मरणीय श्रद्धेय गुरु थे पद्मश्री पं० रघुनाथ शर्मा पाण्डेय जी। वाक्यपदीय से सम्बद्ध शोधविषय लेने के पश्चात् प्रो० शास्त्री ने उनसे वाक्यपदीय ग्रन्थ का अध्ययन किया। यह व्याकरण दर्शन का एक दुरूह ग्रन्थ है और पं० रघुनाथ शर्मा जी उसके अधिकारी उद्भट विद्वान् थे। उन दिनों शास्त्री जी काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के छात्रावास में रहते थे और पं० शर्मा जी कबीर चौरामठ में। शास्त्री जी वाक्यपदीय पढ़ने उनके पास गये। पं० शर्मा जी ने अगले दिन अपराह्ण तीन बजे बुलाया। अगले दिन वे गये तो पण्डित जी सो रहे थे। साढ़े पाँच बजे नींद खुली तो इन्हें देखकर बोले कि आज तो देर हो गयी। कल तीन बजे आ जाना। शास्त्री जी साइकिल से आते-जाते थे। अगले दिन जाते समय पण्डित जी मार्ग में ही मिल गये और बोले कि आज तो कार्यवश एक जगह जा रहा हूँ। कल आना। अगले दिन वे पहुँचे तो भोजन बना रहे थे। बोले कि अभी तो भोजन करूँगा और तब थोड़ा विश्राम भी। तुम कल आ जाना। इस तरह पाँच दिन बीत गए।

अगले दिन पुन: नियत समय पर जब शास्त्री जी पहुँचे तो पण्डित जी इनकी प्रतीक्षा में बैठे थे। फिर क्या था। पढाने लगे। चार बजा, पाँच बजा, छ: बजा और सात बज गए। लालटेन जला ली और पढाते जा रहे थे। वाक्यपदीय जैसा जटिल ग्रन्थ और शास्त्री जी थक गये। वे गुरु जी से बोले- "गुरु जी, समय बहुत हो गया। आप थक गये होंगे"। किन्तु गुरु जी को बौद्धिक थकान कहाँ? वैसे भी आदरणीय पं० श्रीरघुनाथ शर्मा पाण्डेय जी बड़े जीवट के आदमी थे। वे बोले- "नहीं, चलते चलो।" किन्तु शीघ्र ही कुछ सोच कर रुक गये और बोले "अच्छा, आज इतना ही। आगे कल करेंगे।" इसके बाद फिर कभी शास्त्री जी को निराश नहीं होना पड़ा। गुरु जी शिष्य की प्रतीक्षा ही करते मिले।

लगता है इतनी बार लौटाकर वे शास्त्री जी की परीक्षा ले रहे थे कि क्या यह वस्तुत: पढना चाहता है या नहीं? बार-बार लौटने पर भी इसका धैर्य बना है या नहीं? हो सकता है कि प्रो० शास्त्री जी गोस्वामी तुलसीदास की इन पंक्तियों से परिचित रहे हों- 'नाथ बड़न कर इहइ सुभाऊ। साँसत करि पुनि करहिं पसाऊ।।' उन्हें गुरु जी से वाक्यपदीय पढ़ना था। इसलिए बार-बार

1. अनुकरणीय गुरु:- सम्पादक-डॉ० के.के.शर्मा, आई०बी०ए० पब्लिकेशन्स, अम्बाला कैण्ट, जनवरी, 2001, पृ० 108 से 112

लौटाये जाने पर भी बौखलाये नहीं, अन्ततः पढ़कर ही दम लिया। शिष्य की योग्यता और लगन की परख कर गुरु की ज्ञानसरित् फूट निकली जिसमें उन्होंने भरपूर अवगाहन किया। अब बिरले ही ऐसे शिष्य होंगे धैर्यशाली!

प्रो० शास्त्री जी ने काशी में नव्यन्याय पढ़ा पं० दुण्ढिराज शास्त्री से और साहित्यशास्त्र के इनके गुरु थे पं० महादेव उपाध्याय। ऐसे महनीय गुरुओं की शास्त्रसम्पत् से समृद्ध हैं पद्मभूषण प्रो० सत्यव्रत शास्त्री। इन्हीं पूज्य गुरुजनों के आशीर्वाद से उनके विद्याप्रतिनिधि के रूप में प्रो० शास्त्री जी अपने बहुआयामी वैदुष्य की ज्योति से समस्त संस्कृत जगत् को आलोकित कर रहे हैं। ऐसी गुरुपरम्परा को मेरा सश्रद्ध नमन और ऐसे प्रवर शिष्य का हार्दिक अभिनन्दन।।

।।इति शम्।।

• • •

34

किं लसति तितिक्षा तितिक्षुर्भूपालंकारे

रामबहादुरः (शुक्लः)[1]

संस्कृतरचनाक्षेत्रे ज्ञानपीठपुरस्कारसभाजितस्य आचार्यसत्यव्रतशास्त्रिमहाभागस्य नाम को न जानाति संस्कृतजगति। काव्यस्य प्रत्येकक्षेत्रे तस्य लेखनी अचलत्, चलत्येव च साम्प्रतमपि यतोहि सप्ताशीतिवर्षावस्थायामपि योगवाशिष्ठग्रन्थमधिकृत्य समीक्षाकार्यं यन्त्रस्थं वर्तते। अस्य ज्ञानधाराया एव प्रभावोऽयं यत् सः संस्कृतक्षेत्रे प्रथमः विद्वानस्ति, यः पद्मश्री-पद्मभूषण-ज्ञानपीठपुरस्कारैः मण्डितः अस्ति। यथार्थरूपे तस्य जीवने तितिक्षायाः प्रभावः दरीदृश्यते। का नाम तितिक्षा? गीतायां वर्णनं प्राप्यते यत्-

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।।[2]

अर्थात् शीते-उष्णे, माने-अपमाने, लाभे हानौ जय-पराजये, निन्दास्तुतिविषये, हर्षशोकादि-विषये, द्वन्द्वसहिष्णुतावहनमेव तितिक्षा। तितिक्षायाः विवेचनं वेदान्तसारे ब्रह्मविद्या-अधिकार-वर्णनप्रसङ्गे चतुष्टयसाधनानां वर्णनप्रसङ्गे च प्राप्यते[3] यत्र शमादिषट्क-सम्पत्तिनामसाधनान्तर्गते शम-दम-उपरतितितिक्षा-समाधान-महानां च विवेचनं विहितमस्ति। जन्मनः प्रारभ्य जीवनस्योत्तरार्द्धावस्थायामपि तितिक्षामावहत् प्रो० सत्यव्रतशास्त्रिमहोदयः। अस्य महोदयस्य जन्म अभवत् लवपुरे लाहौर क्षेत्रे (पाकिस्ताने 29-9-1930), अध्ययनं चाभवत् लाहौर-चंडीगढ़-जालन्धर-वाराणसी आदि विविधिस्थानेषु। वाक्यपदीयस्य अध्ययनप्रसङ्गे सत्यव्रतशास्त्रिमहोदयस्य विनम्रता अपूर्वासीत् यदा सः पण्डितरघुनाथशर्मतः वाक्यपदीयस्य अध्ययनहेतोः तितिक्षामवाधारयत्,

---

1. Worked as Organizing Secretary of two Day National Seminar on Contribution of Prof. Satya Vrat Shastri to Sanskrit, organized by the Department of Sanskrit, University of Jammu, November 25, 26, 2011
2. गीता-2/14
3. अधिकारी तु विधिवदधीतवेदवेदाङ्गत्वेनापाततोऽधिगताखिलवेदार्थोऽस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा काम्यनिषिद्धवर्जनपुरःसरं नित्यनैमित्तिकप्रायश्चित्तोपासनानुष्ठानेन निर्गतनिखिलकल्मषतया नितान्तनिर्मलस्वान्तः साधनचतुष्टयसम्पन्नः प्रमाता वेदान्तसार-(सदानन्दप्रणीतः) पृ० 43

यतो हि द्विचक्रिकया गच्छन्तं सत्यव्रतशास्त्रिणम् आचार्यरघुनाथशर्मा: पञ्चदिवसपर्यन्तानन्तरमेव अपाठयत्। तस्मिन् समये वाक्यपदीयस्य एकमात्रो विद्वानासीत् पण्डितरघुनाथशर्ममहाभागः। स्वात्मविश्वासेन एव शास्त्रिमहोदयः वाक्यपदीयस्य अध्ययनमकरोत्, नहि संदेहः अस्मिन् विषये। नि:संदेहरूपेण आत्मविश्वाससम्पन्नो मानवः अधियाति-साफल्यम्। अवश्यमेव अहं सफलताश्रियम् अवाप्स्यामि इति एतस्य दृढविश्वासस्य अवस्थितिः मनस्यपेक्ष्यतेऽर्निशम्। महात्मगान्धिसदृशं चरित्रमवलम्ब्य आचार्य सत्यव्रतशास्त्रिमहोदयेन कार्यं कृतमासीत्। क्रियासिद्धिः सत्त्वे भवति महतां नोपकरणे इत्युक्तिः शास्त्रिमहोदयस्योपरि सटीका प्रतिभाति।

आचार्यसत्यव्रतशास्त्रि महोदयस्य अध्यापनविषयस्य चर्चाप्रसङ्गेऽपि तितिक्षायाः प्रभावः दरीदृश्यते। सः यत्र तिष्ठति तत्रैव शिक्षादानस्य नदी प्रवहति। हास-परिहास क्षणेऽपि सः शिक्षायाः अवसरं नैव त्यजति, संगोष्ठीप्रसङ्गे अहमपि अनुभवमकरवं यत् स याथार्थ्येम अप्रतिमः विद्वान् अस्ति। सरस्वतीवरदपुत्ररूपे प्राप्ते सत्यव्रतशास्त्रिमहोदयः योग्यपितुः योग्यपुत्रः। अस्य पिता पण्डितचारुदेवशास्त्री अप्रतिमः वैयाकरणः आसीत्। मन्येऽहं यत् तस्य मुखाकृतिः मातृसमा भवेत्, यतोहि सामुदिकशास्त्रे वर्णनं प्राप्यते- धन्या पितृमुखी कन्या, धन्यो मातृमुखोः पुमान्। अग्निपुराणेऽपि वर्णनं प्राप्यते-यत्राकारस्ततो गुणाः। बृहत्संहितायां वर्णनं मिलति-प्रायो विरूपासु भवन्ति दोषाः, यत्राकृतिः तत्र गुणाः भवन्ति। अहं नैवापश्यं शास्त्रिमहोदयस्य मातरं परं दृढं विश्वसिमि यत् तस्य मुखाकृतिर्मातृसमा एव भवेत् यतोहि स यशस्वी अस्ति संस्कृतरचनाक्षेत्रे, आयुःप्राप्तिप्रसङ्गेऽपि च।

प्रो० सत्यव्रतशास्त्रिमहोदयस्य लेखनी अतीव धन्या। तितिर्क्षुभूपालः नामखण्डकाव्यं श्रीबोधिसत्त्वचरितस्य अंशः वर्तते। अस्मिन् खण्डकाव्ये तितिक्षायाः अपूर्वं विश्लेषणं दरीदृश्यते। तितिक्षायाः प्रभावः, वैदग्ध्यस्य चापि प्रभावः, यत् शास्त्रिमहोदयेन नाना ग्रन्था रचिताः।

तितिक्षुर्भूपाले आचार्यसत्यव्रतशास्त्रिमहोदयेन बोधिसत्त्वस्य अवदानानां कथा उपस्थापिताः, यत्र जातक-कथानामपि प्रभावः दृष्टिगोचरः भवति। भगवतः बुद्धस्य पूर्णबोधिप्राप्तिपूर्वावस्था एव बोधिसत्त्वः। तस्यां दशायामपि सः परमत्यागी, उपकारी, सहनशीलः, विविधदैविकगुणैराप्लावितः आसीत्। तस्य महनीयचरितमवलम्ब्य आचार्यसत्यव्रतशास्त्रिमहोदयैः तितिर्क्षुभूपाल नामकोऽशः सरसशैल्याम् उपनिबद्धः।[1] काश्याः ब्रह्मदत्तनाम्नः राज्ञः आत्मजः शीलवतः तितिक्षया प्रभाविताः आततायिनः अन्ये आक्रमणकारिणो जनाः मन्त्रिजनाः शान्ता अभूवन्। 'तितिक्षुर्भूपाल इत्यस्य अध्ययनेन इयं शिक्षा प्राप्यते यत् अहिंसा-हिंसयोर्मध्ये हिंसा एव कनिष्ठा। अहिंसया एव सुख-शान्ति-आनन्दानां प्राप्तिर्भवति, हिंसया च सदैव दुःखप्राप्तिः। विरोधः कष्टं च भवतः। अस्य ग्रन्थस्य मूलानि तत्त्वानि जातककथा एव सन्ति।[2] तितिक्षुर्भूपाले आचार्यसत्यव्रतशास्त्रिमहोदयेन

---

1. श्रीबोधिसत्त्वचरितम्- पृ० 13
2. Jataka Stories of Buddha's Formar Birth Vol-I

महासिलवजातकात् मूलकथा गृहीता, तस्यां कथायां परिवर्तनं कृत्वा, स्व-स्वाभाविकप्रतिभया अत्यन्तप्राचीनां नीरसां साधारणीं कथां परिष्कृत्य तां, सजीवां सरसां रोचकां च निर्माय 'तितिक्षुर्भूपाल इति मूलकथायामपि विविधानि हृदयग्राहीणि परिवर्तनानि कृतानि। तस्य भाषाऽपि परिष्कृता अलंकृता च वर्तते। सरलसंस्कृतप्रयोग: 'तितिक्षुर्भूपाले' दर्शनीयो यथा-

सत्स्वभावात् सदाचारात् सद्विचाराच्च सर्वथा।
अन्वर्थसंज्ञास्तस्यासन् यथा नाम तथा गुणाः।।[1]

तुकान्तप्रयोगे अतीव दक्षा: शास्त्रिमहाभागा: यत्र संगीतात्मकं सौन्दर्यमपि प्राप्यते। यथा-

अमन्दचन्दनस्पन्दशीलतः शीलवानिनः।
भावयामास भव्योऽसावमित्रेष्वपि मित्रताम्।।[2]

यमकालङ्कारस्य छटा अभूतपूर्वाऽस्ति तितिक्षुर्भूपाल यथा-

रमणी रमणीयाङ्गी रममाणा चिरं मुदा।
सम्पन्नाऽऽपन्नसत्त्वा सा ब्रह्मदत्तेन भूभृता।।[3]

अर्थान्तरन्यासालंकार निरूपणे अतीव निपुणा: सन्ति आचार्यवर्या: यथा-

तितिक्षुर्भूपाले वर्णनं प्राप्यते-

सद्वृत्तेष्वपि दुर्वृत्ताः कुटिलाः सरलेष्वपि।
शीलवत्सु च दुःशीलाः संभवन्तीह संसृतौ।।[4]

अन्यच्च-

शीलवान् हि क्षमाशीलो न कदाप्यभिमन्यते।
अवश्यं वश्यतां नेयः स्वाभिमानवता त्वया।।[5]

व्याकरणशास्त्रे अतीव निपुण: आचार्यवर्य: वाक्यपदीये शोधकार्यं कृतवानस्ति। तस्य अलंकारशास्त्रेऽपि ईदृशी अनुरक्ति: प्रवणता च अननुभूतपूर्वा एव अस्ति। तितिक्षुर्भूपालस्य प्रारम्भ: आर्याछन्दसा कृत्वा[6] अनुष्टुपछन्दसोऽपि प्रयोगोऽस्मिन् काव्ये प्राप्यते। यथा-

---

1. तिति क्षुर्भूपाल: - शलोक-03
2. तत्रैव - श्लोक-96
3. तत्रैव - श्लोक-04
4. तत्रैव - श्लोक-26
5. तत्रैव - श्लोक-41
6. काशीक्षेत्रे प्रसिद्धाभूत् पुरा वाराणसी पुरी।
   ब्रह्मदत्तो नृपो यस्यामप्रमत्तो व्यराजत।। - तितिक्षुर्भूपाल: - श्लोक-01

ततः कौशलभूपेन स किंमन्त्री प्रताडितः।
काशी कौशलयोर्येन विरोधः सम्प्रवर्तितः।।[1]

अस्य महोदस्य जीवनदर्शनमभिलक्ष्य कथयितुं शक्यते यत् अयम् उद्योगी पुरुषोऽस्ति। अद्यापि भारतवर्षे विदेशे च संगोष्ठी-सम्मेलने तस्य सहभागित्वम् उद्बोधनं भवत्येव। आलसस्य नैव स्थानमस्ति तस्य जीवनचर्यायाम्। यजुर्वेदे भगवद्गीतायां च निर्दिश्यते यत् कर्मैव मानवस्य जीवनम्।[2] अनाश्रित्य कर्म जीवननिर्वाहोऽपि दुष्करः। योगक्षेमप्राप्तये, सुखसाधनाय, शरीरयात्राप्रसिद्धयर्थं च कर्माश्रयोऽनिवार्यः। मन्ये तस्य चिन्तनमस्ति यत्ने कृते यदि न सिद्ध्यति कोऽत्र दोषः।[3] एवं च

आलस्यं हि मनुष्याणां शरीरस्थो महान् रिपुः।
नास्त्युद्यमसमो बन्धुः कृत्वा यं नावसीदति।।

चरन् वै मधुविन्दतीति रचना प्रमाणं वर्तते, शास्त्रिमहोदयस्य कार्यक्षमतायाः।

केन्द्रियसंस्कृतायोगस्य अध्यक्षरूपेण एवं च श्रीजगन्नाथसंस्कृतविश्वविद्यालयस्य कुलपति-रूपेण अथ च दिल्ली विश्वविद्यालयस्य आचार्यरूपेण शास्त्रिमहोदयस्य कर्मनिष्ठायाः एवं च तितिक्षायाः उदाहरणं अप्रतिमम्। विलक्षणपाण्डित्यस्य प्रभावः एव आसीत् यत् महोदयेन त्रीणि महाकाव्यानि त्रीणि खण्डकाव्यानि पत्रकाव्येन सार्धं विविधाः समीक्षाग्रन्था लिखिताः सन्ति। विविधैः संस्थानैः, समाजैः, विश्वविद्यालयैः, वैदेशिकैः राजकीय केन्द्रीय सर्वकारैश्च पुरस्कारैः सभाजिताः सन्ति एते महानुभावाः।

• • •

---

1. तितिक्षुभूपालः – श्लोक–21
2. (अ) कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः। – यजुर्वेद–40/2
   (ब) नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
   शरीरयात्राऽपि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः।। गीता–3/8
3. उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मीः
   दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति।
   दैवं निहत्य कुरु पौरूषमात्मशक्त्या
   यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः।। हितोपदेशः – 31 श्लोकः

OUR CONTRIBUTERS

1. **Ved Kumari Ghai,**

   Recipient of Padma Shri and President of India Certificate of Honour,

   Ex-Professor and Head, Department of Sanskrit and Dean, Faculty of Arts,

   University of Jammu, Jammu, J.&K. State.

2. **Ram Pratap Vedalankar,**

   Recipient of President of India Certificate of Honour,

   Ex-Professor & Head, Department of Sanskrit, University of Jammu, Jammu, J.&K. State (Late Govind Chandra Pande,

   Ex-Vice-Chancellor, University of Allahabad and Chairman, Indian Indian Institute of Advanced Study, Shimla.

3. **Gautam Patel,**

   Recipient of President of India Certificate of Honour, Member, 2nd Sanskrit Commission, Govt. of India, President, Gujarat Sahitya Academy, Ahmadabad

   Recipient of President of India Certificate of Honour

4. **Rewa Prasad Dwivedi "Sanatana",**

   Ex-Professor & Head, Department of Sahitya, Faculty of Sanskrit Vidya Dharmavijnana, Banaras Hindu Vishva-vidyalaya.

5. **Nirmal Trikha,**

   Ex-Associate Professor, Department of Sanskrit, Daulat Ram College, University of Delhi

6. **Saya Vrayt Varma,**

   Recipient of President of India Certificate of Honour, Honorary Professor, Vishveshvaranand Vishva Bandhu Vedic Research Institute, Hoshiarpur,

   Ex- Principal, Govt. College, Sri Ganganagar (Rajasthan)

7. **Mrs. Prativa Manjari Rath,**

   Professor of Sanskrit, Utkal University, Bhubaneswar, Orissa

8. **Chandra Kant Shukla,**

   Recipient of President of India Certificate of Honour, President-Elect, All India Oriental Conference, Session

   Ex-Professor & Head, Department of Sanskrit, Ranchi University, Ranchi, Jharkhand

9. **Shashiprabha Kunar,**

   Recipent of President of India Certificate of Honour,

Ex-Professor & Chairperson, Special Centre for Sanskrit Studies, Jawaharlal Nehru University, New Delhi

10. **JIya Lal Kamboj,**

Recipient of President of India Certificate of Honour,

Ex-Associate Professor of Sanskrit, Hindu College, University of Delhi, Delhi

11. **Kedar Nath Sharma,**

Professor of Sanskrit and Dean, Faculty of Arts, University of Jammu, Jammu, J.&K. State

12. **Ritu Bala;**

Assistant Professor, Department of Sanskrit,

V.V.B.I.S. & I.S,., Punjab University, Hoshiarpur

13. **Om Prakash Pandey,**

Recipient of President of Certificate of Honour,

Ex-Professor & Head, Department of Sanskrit, Lucknow University & Member Secretary, Maharshi Sandipani Veda Vidya Pratishthan, Ujjain

14. **Hari Dutt Sharma,**

Recipient of President of Certioficate of Honour

Ex-Professor & Head, Department of Sanskrit, University of Allahabad

15. **Madhusudan M. Vyas,**

Head Department of Sanskrit, Arts College, Shyamalaji, Gujarat

16. **Shri Bimalesh Kumar Maurya,**

Research Scholar

Department of Sanskrit, Banaras Hindu University, Varanasi, U.P.

17. **Mrs. Kamal Anand,**

Recipient of President of India Certificate of Honour,

Honorary Professor of Sanskrit, Vishverananda Vishva Bandhi Vedic Research Institute, Hoshiarpur, Ex-Principal, Aditi Mahavidyalaya, University of Delhi, Delhi

18. **Gopabandhu Mishra,**

Professor of Sanskrit, Banaras Hindu University, Varanasi, U.P.

19. **Anita Sharma,**

Associate Professor, Department of Sanskrit, Lakshmibai College, University of Delhi, Delhi

20. **Pravesh Saxena,**

Ex-Associate Professor, Department of Sanskrit, Zakir Hussain College, University of Delhi, Delhi

21. **Vishal Bharadwaj,**

22. **Dalbir Singh,**

Professor & Head, Department of Sanskrit, Guru Nanak Dev University, Amritsar, Punjab

23. **Renu Bala,**

Professor of Sanskrit & Dean, Faculty of Arts, Guru Nanak Dev University, Amritsar, Punjab

24. **Upendra Rao**

    Visiting Professor of Sanskrit and Buddhist Studies on ICCR Chair, Cambodia.

    Professor of Sanskrit and Pali, Special Centre for Sanskrit Studies, Jawaharlal Nehru University, New Delhi - 110067 NEW DELHI 110067, INDIA ex-CHAIRPERSON OF THE CENTRE, and member of executive, court and academic councils of JNU

25. **Lekh Ram Sharma,**

    Ex-Professor of Sanskrit, Guru Nanak De University, Amritsar, Panjab

26. **Sadashiva Kumar Dwivedi,**

    Professor of Sanskrit, Banaras Hindu University, Varanasi, U.P.

27. **Devarshi Kala Nath Shastri,**

    Recipient of President of India Certificate of Honour and Ex-Member, 2nd Sanskrit Commission, Govt. of India, Ex-Chairman, Rajasthan Sanskrt Academy, Jaipur

28. **Neelam Yadav,**

    Govt. Girls Sr. Secondary Schools, Ambedkar Nagar, New Delhi - 110062

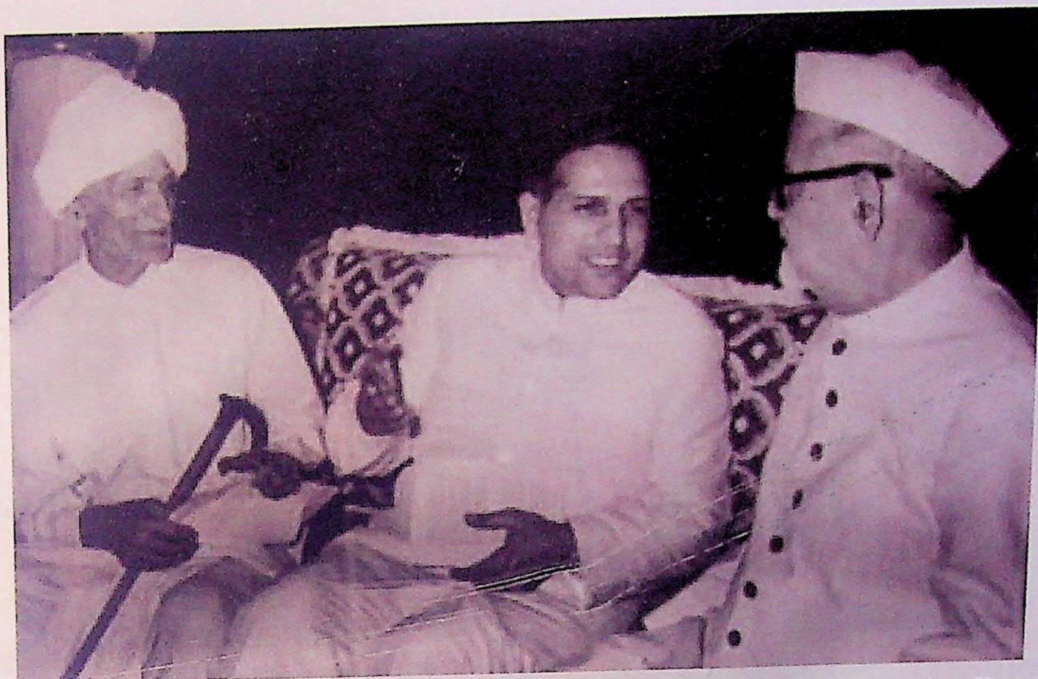
29. **Prabhu Nath Dwivedi,**

    Ex-Professor & Head, Department of Sanskrit, Mahatma Gandhi Kasdhi Vidyapitha, Varanasi, U.P.

30. **Ram Bahadur Shukla,**

    Associate Professor, Department of Sanskrit, University of Jammu, Jammu, J.&K. State, Ex-President, Gujarat Sahitya Academy, Ahmadabad

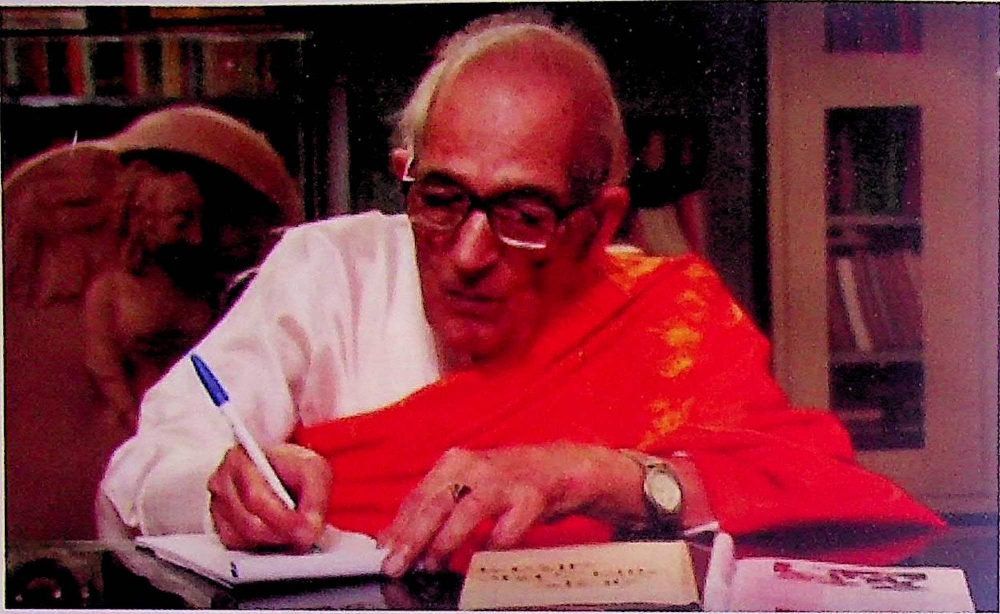
• • •



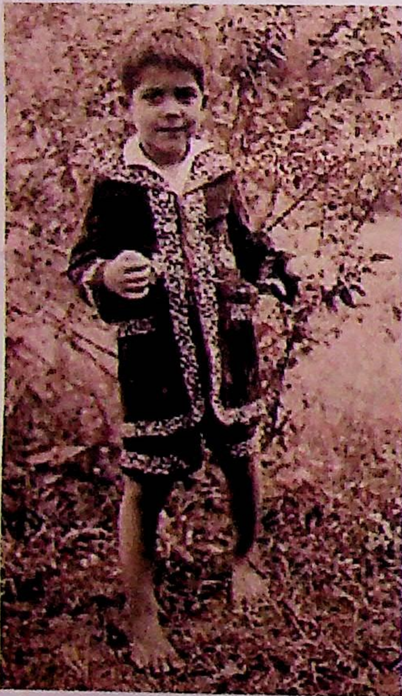
Young Prof. Dr. Satya Vrat Shastri speaks with the President of India, Dr. Zakir Hussain in 1968 as his proud father, Pandit Charu Deva Shastri, looks on



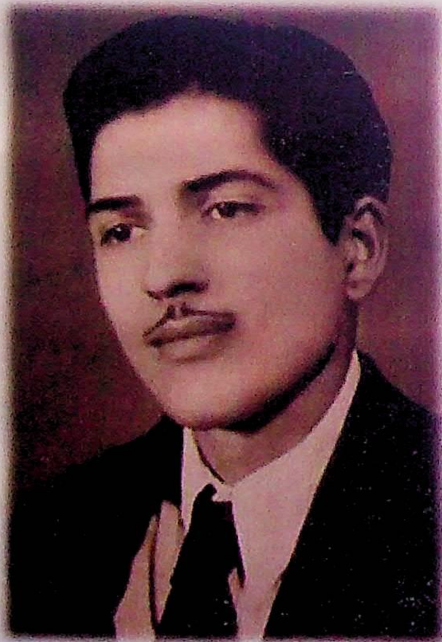
Receiving Fellowship Sammana of the Sahitya Akademi in 2013



Prof. Dr. Satya Vrat Shastri at his desk



Prof. Satya Vrat Shastri as a young boy (rare photo)



Prof. Satya Vrat Shastri as a handsome & brilliant young scholar on graduation in 1951



Receiving Certificate of Honour from President of India
Giani Zail Singh , 1995.



Padma Bhushan to Dr. Satya Vrat Shastri by
Hon'ble President Pratibha Patil, 2010



Doctorate Honoris Causa from the Silpakorn University, Bangkok, Thailand, 1993.



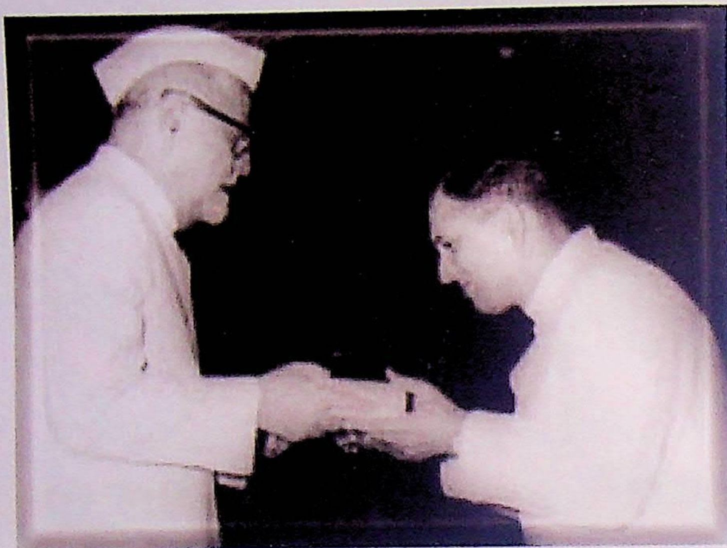
Doctorate Honoris Causa conferred by the University of Torino, Italy on May 3rd, 2012 at the Special Convocation Ceremony in the Great Hall of the University



Doctorate Honoris Causa, from the University of Oradea, Oradea, Romania.



Golden Prize from CESMEO, International Institute for Advanced Asian Studies, Torino, Italy, 2001.



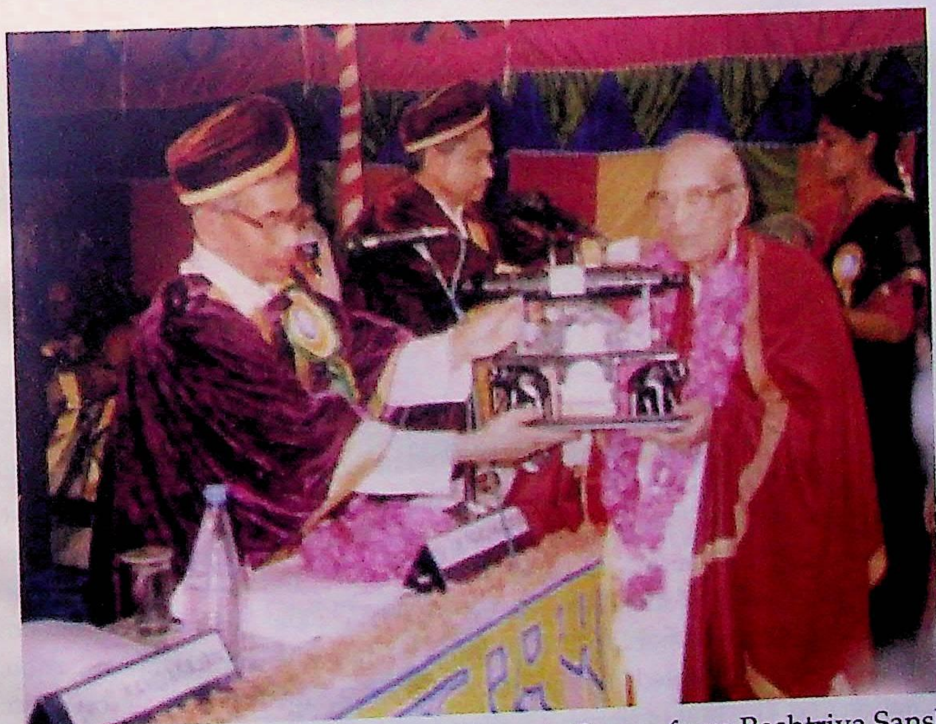
Receiving the Sahitya Akademi Award in Sanskrit from His Excellency Dr. Zakir Hussain, President of India. 1968



Shiromani Sanskrit Sahityakar Award of the Languange Department, Govt. of Punjab from Sri Basant Singh Khalsa, Minister of Education, in 1985.



Visista Samskrta Sahitya Award from Uttar Pradesh; Sanskrit Academy, Lucknow, from Dr. Shankar Dayal Sharma, the Vice President of India in 1988.



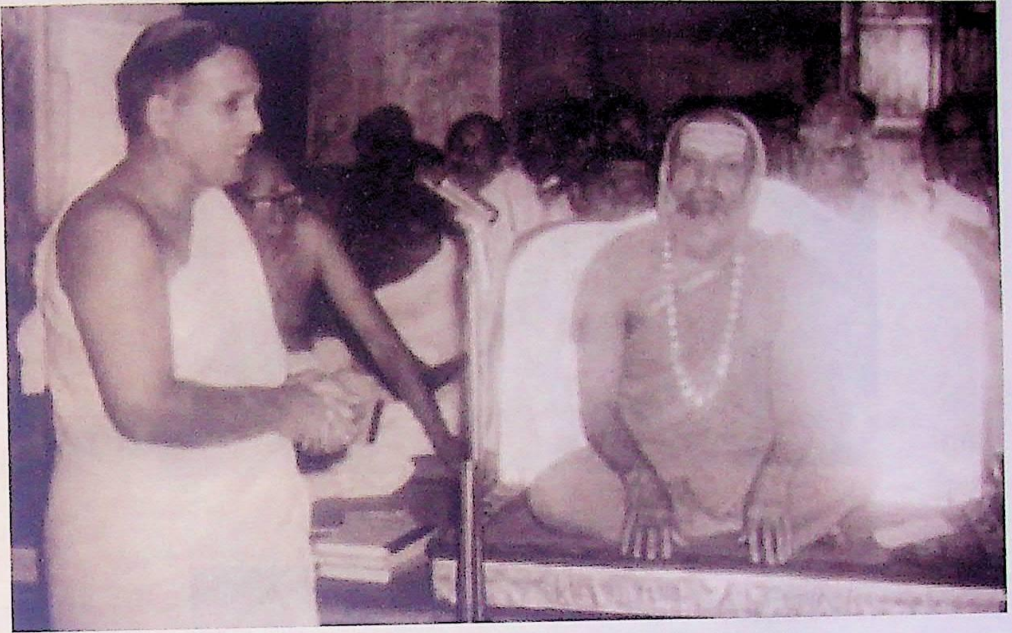
Degree of Mahamahopadhyaya, Honoris Causa, from Rashtriya Sanskrit Vidyapeeth (Deemed University), Tirupati 1999.



Receiving Padma Shri from Shri K.R. Narayanan, the President of India, 1999.



Ramakrishna Jaidayal Dalmia Shreevani Alankarana from RJ Dalmia Trust, New Delhi, in 2002. Dr. Satya Vrat Shastri was conferred Ramkrishna Jaidayal Dalmia Shreevani Alankarana (Decoration), the highest in India for contribution to Sanskrit language and literature, on February 27, 2002. His Holiness Swami Vasudevanand, Shankaracharya of Jyotishpith was the Chief Guest on the occasion. The Shankaracharya presented the following to Dr. Satya Vrat Shastri on the occasion: The Citation and The Idol of Shreevani (Sarasvati) after whom the Decoration is named.



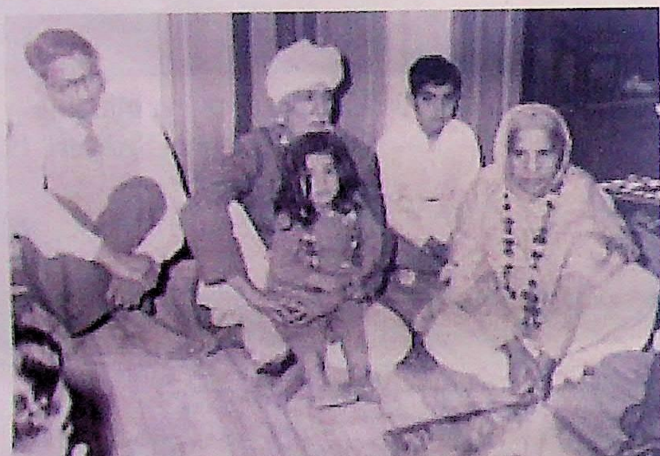
Delivering an address after receiving blessing
from late Bharati Tirtha Shankacharya of Sringeri, 1970



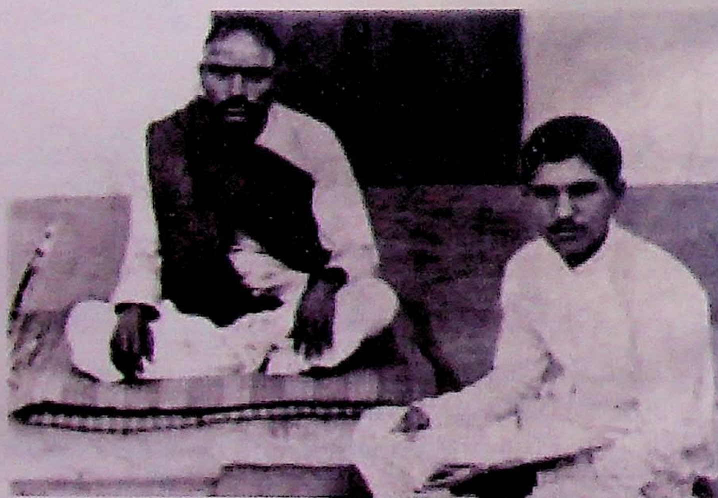
Prof. Dr. Satya Vrat Shastri with his family
Seated L-R: Prof. Dr. Satya Vrat Shastri with his revered father, Shri Charu Deva Shastri, his grand-daughter, and his wife, Prof. Dr. Usha Satyavrat; standing L-R: Prof. Shastri's son Sharat Chandra with his wife, and Prof. Shastri's daughter with her husband.



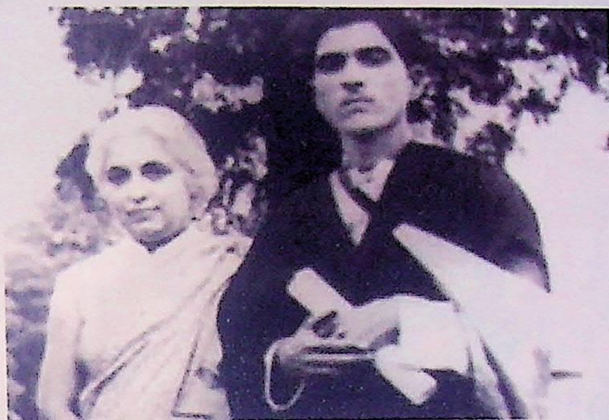
Family Puja



Prof. Shastri's father & mother (rare photo)



Young Satya Vrat Shastri with his Guru Pandit Shuk Deo Jha at Varanasi



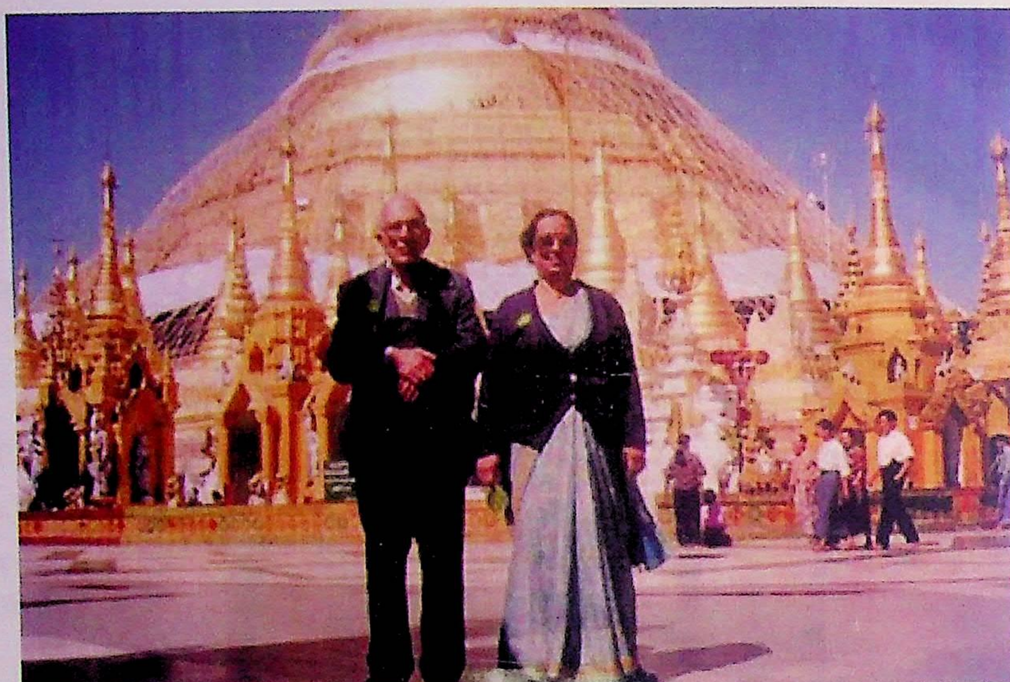
With Mrs Vijaya Lakshmi Pandit after getting the record marks in B.A. Hons in Sanskrit in 1951



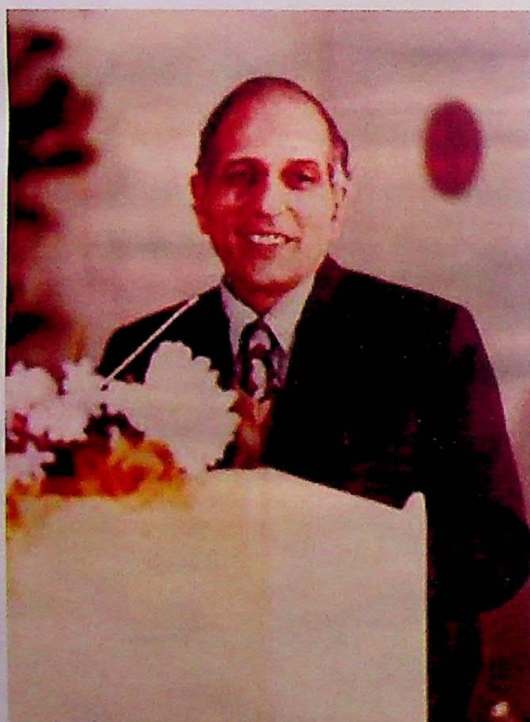
Receiving the Best College Student Prize in 1949 from Hon. Shri Baldev Singh, the Defence Minister of India



Prof. Shastri's father teaches Sanskrit to his gransdon



Prof. Shastri and his wife Prof. Usha Satyavrat visit the Golden Pagoda in Myanmar. 1999



Delivering the Oriental Institute Golden Jubilee Lecture, Belgium, 1987

